

३५ अंक

जिसाम-प्रस्तुति : प्रत्याकृ १५

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरभलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

हिन्दीय-उपालङ्घन्

राजप्रश्नीयसूत्रम्

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट पृक्त]



प्रेरणा

(स्व.) उपप्रबत्तक शासनसेवी स्वामी श्री ऋजलालजी महाराज



प्राची संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'



अनुवादक — विवेचक — संपादक
बाणीभूषण श्री रत्नमुनि
वेष्टकुमार जैन



प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान)

प्राकृतिकीय

राजप्रश्नीधसूत्र का यह द्वितीय संस्करण है।

प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अंग-आगम सूत्रकृतांगसूत्र का उपांग माना गया है। सूर्योभिदेव के कथानक के द्वारा इसमें सरल सुनिश्चित रौचक शैली में जैनदर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के माथ सूर्योभिदेव द्वारा श्रमणभगवान् महाबीर के समवसरण में नृत्य-नाट्य कलाओं के प्रदर्शन के माध्यम से अपण संस्कृति लों कलाओं का प्रांजल रूप भी उपस्थित किया है।

सूर्योभिदेव की जीवनकथा से यह भी उजागर किया गया है कि अभिनिवेशों और भान्त धारणाओं से ग्रस्त व्यक्ति जब योग्य मार्गदर्शक का सहकार पाकर प्रगति पथ पर प्रवाण करता है तब आन्मकल्याण बरते के साथ-साथ जनकल्याण की ओर उन्मुख-अग्रसर हो सकता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण इस सूत्र का आधार लेकर उत्तरवर्ती काल में अनेक विद्वान् आचार्यों ने देखी भाषाओं में रामों की रचनायें की हैं।

संक्षेप में कहा जाये तो यह सूत्र भारतीय कलाओं के अन्वेषकों और दार्शनिकों के लिये भग्नान रूप से महत्वपूर्ण भास्मी उपस्थित करता है।

प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद आदि वाणीभूषण श्री रत्नमुनिजी म. ने किया है और श्री देवकुमारजी जैन शास्त्री माहित्यरत्न ने संपादित कर सर्वोपर्योगी बनाया है। एतदर्थे वे धन्यवादार्ह हैं।

श्रमणसंघ के सर्वतोभद्र स्व० युक्ताचार्य श्री मधुकरमुनिजी म० की प्रबल आगमभक्ति के फलस्वरूप जो आगम प्रकाशन का काय प्रारम्भ हुआ था, वह दिनानुदिन विस्तृत होता गया। विज्ञानों के साथ-साथ मासान्य पाठकों में आगम साहित्य के पठन-पाठन का व्यापक प्रचार-प्रमार होते से समिति द्वारा अप्राप्य आगमों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित किये जा रहे हैं।

समिति अपने मध्मी सहयोगियों, पाठकों की आभारी है, जिन्होंने आगमवलीमी के प्रकाशन, प्रचार-प्रसार करने में महत्वोग दिया है।

रत्नचन्द्र मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

सायरसल चौरड़िया
महामंत्री

श्रमरचन्द्र मोदी
मंत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, अमृत-३०५ १०१

प्रस्तुतिः

(प्रथम संस्करण से)

राजप्रश्नीयसूत्रः एक सभीकात्मक अध्ययन

धर्मः विद्वलेषण

भारतीय साहित्य में 'धर्म' शब्द व्यापक रूप से व्यवहृत हुआ है। आध्यात्मिक हो या दार्शनिक साहित्य, आयुर्वेदिक हो या ज्योतिषधारास्त्र हो, मर्वन्त्र 'धर्म' शब्द के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। उस सम्बन्ध में विशालकाय प्रस्तुति निमित्त हुए हैं। विभिन्न व्याख्याएँ और परिभाषाएँ धर्म शब्द को लेकर लिखी गई हैं। वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक लाखों चिन्तकों ने धर्म शब्द को अपना चिन्तन का विषय बनाया है और धर्म के नाम पर अनेक विवाद भी हुए हैं। पारस्परिक मतभेदों के कारण धर्म के विराट् सागर में विवाद के तूफान उठे हैं, तके-वितके के भैवरों ने जनभानस को विक्षुद्ध किया है। तथापि धर्म के स्वरूप की जिजासा प्रत्येक मानव में आज भी है। हम धर्म शब्द की विभिन्न परिभाषाओं पर चिन्तन न कर संक्षेप में ही जैन मनीषियों ने धर्म पर जो गहराई से अनुचिन्तन किया है, उसे पहर्छ प्रस्तुत कर रहे हैं।

परमार्थतः धर्म वस्तु का स्वभाव है। **व्यवहारतः** आत्मा, निर्लोभता, सरलता आदि सद्गुणों की अपेक्षा से वह दश प्रकार का है। सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की दृष्टि से धर्म के तीन प्रकार हैं। जीवों की रक्षा करना भी धर्म है,^१ इसलिए यह स्पष्ट है जो आत्मा के निज गुण हैं, वह धर्म है और जो पुद्गलों का स्वभाव है, वह आत्मा के लिए धर्म नहीं किन्तु परभाव है, विभाव है और वही अधर्म है। जो स्वभाव है, वह सदा बना रहता है और जो विभाव है वह सदा बना नहीं रहता है। पानी को गर्म करने पर भी पानी हमेशा गर्म नहीं रहता, क्योंकि पानी का स्वभाव शीतलता है। मात्र आग के कारण उसमें उष्णता आती है। वैसे ही क्रोधादि भाव कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं, वे आत्म-स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव हैं। इसलिए उन्हें अधर्म कहा गया है।

गणधर गीतम ने भगवान् महाबीर के समझ जिजासा प्रस्तुत की—आत्मा का स्वरूप क्या है? कथाय आदि आत्मा का स्वरूप है या समता आदि? समाधान में भगवान् ने कहा—समता ही आत्मा का स्वभाव है, न कि कथाय। समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेना है।^२ अमण भगवान् महाबीर का ही नहीं, आधुनिक युग के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायल' का भी यह मत्तव्य है—“चेत्-जीवन और स्नायु-जीवन का स्वभाव यह है कि वह विक्षोभ और तनाव को नष्ट कर समत्व की संस्थापना करता है।” विक्षोभ, तनाव और मानसिक दृढ़ से ऊपर उठ कर शान्त निर्दृढ़ मनस्थिति को प्राप्त करना ही वस्तुतः धर्म है। भगवान् महाबीर

१. धर्मो वत्थुसहवो, खमादिभावो य दसविहो धर्मो।

रथणस्त्वं च धर्मो, जीवाण रक्षणं धर्मो॥

२. आया सामाइए।

ने भी आचारांग में स्पष्ट शब्दों में कहा— “ममियाए धर्मे आरियेहि पवेइए^३”— आयों ने तत्त्व भाव को धर्म कहा है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से धर्म शब्द ‘धृ’ धातु से निभित है, जिसका अर्थ है—धारण करना। आत्मा का धर्म है सद्गुणों को धारण करना। ये सद्गुण बाहर से लाये नहीं जाते, वे विभाव के हटते ही स्वतः प्रकट हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में अग्नि के वंशोग के हटते ही पानी स्वतः शीतल हो जाता है। धर्म के लिए अधर्म को छोड़ना होता है, विभाव को दूर करना होता है। जैसे बादल के हटने पर सूर्य का चमचमाता हुआ प्रकाश प्रकट हो जाता है, वैसे ही अधर्म के बादल हटते ही धर्म का दिव्य आलोक जगमगा पहता है। धर्म ऊपर से आरोपित नहीं होता और जो आरोपित है, वह अधर्म है। उस अधर्म से ही मानव में धर्म के प्रति शृणा पैदा ही। धर्म का दम्भ अधारिकता से भी अधिक भथावह है। क्योंकि इसमें अधर्म को छिपाने के लिए ढोग किया जाता है। यह धर्म के नाम पर आत्म-प्रवर्जना है। धर्म से आकुलता-व्याकुलता नष्ट होकर निर्मलता प्राप्त होती है।

धर्म के दो प्रकार : श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—

धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए स्थानांग में धर्म के दो भेद बताये हैं— श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। ये दोनों धर्म मोक्ष लेपी रथ के चक्र हैं। श्रुतधर्म से धर्म का सही स्वरूप समझा जाता है, इसलिए चारित्रधर्म से पूर्व उसका उल्लेख किया गया है। यहाँ हम चारित्रधर्म का विव्लेषण न कर श्रुतधर्म पर चिन्तन करेंगे। श्रुतधर्म पर चिन्तन करने से पूर्व श्रुत शब्द को जानना आवश्यक है। मामान्यतः श्रुत का अर्थ है— सुनना। क्योंकि ‘श्रु’ धातु से श्रुत शब्द निष्पन्न हुआ है। पूज्यपाद^४ ने लिखा है—‘श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमान पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है, वह श्रुत है’। आचार्य अकलीक^५ ने भी यही अर्थ 'तत्वार्थराजवार्तिक' में प्रस्तुत किया है। पूज्यपाद ने यह स्पष्ट किया है कि 'श्रुत शब्द' शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादक होने पर भी वह ज्ञानविशेष में ही रहता है।^६ केवलमात्र कर्मों से सुना गया शब्द ही श्रुत नहीं है।^७ जैन दार्शनिकों को मुख्य रूप से श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है, पर उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उन्हें ग्राह्य है। विस्तार में न जाकर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय दोनों सहायता से अपने में नियत अर्थ को प्रतिपादन करने में

३. आचारांग ११।८।२

४. दुविहे धर्मे पन्तते, तंजहा—सुग्रधर्मे चेव, चरित्रधर्मे चेव। स्थानांग, स्थान २, उ. १।

५. तदावरण रूर्मेभयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन श्रूयोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।

—सर्वा. सि. (११९), पृ-६६

६. श्रुतशब्दः कर्मसाधनशब्द । २। किञ्च पूर्वोक्तविषयसाधनशेति वर्तते। श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यतरंग-बहिरंग हेतुसन्निधाने सति श्रूयतेस्मेति श्रुतम्। कर्तव्रि श्रुतपरिणत आत्मेव श्रृणोत्तीति श्रुतम्। भेदविक्षायां श्रूयतेऽनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा; —(त. वा [११।२])

७. श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रुद्धिवशात् कस्मिक्षिवज्ञानविशेषे वर्तते।

—सर्वा. सि. (१/२०), पृष्ठ-८३

८. शानभित्यनुवत्तेनात्।

अवर्ण हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ॥ —त. श्लो. वा. व. (३२।०।२०), पृष्ठ-५९८

ममर्थ ज्ञान श्रुतज्ञान है।^६

प्राकृत 'सुय' शब्द के संस्कृत में चार रूप होते हैं—श्रुत, सूत्र, सूक्त (मृत) और स्वूत। आचार्यों ने इन रूपों के अनुसार इनकी व्याख्या की है। आचार्य अभियदेव ने श्रुत का अर्थ किया है—'द्वादश अंगशास्त्र अथवा जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान'।^७

जैसे सूत्र में माला के मनके पिरोये हुए होते हैं उसी प्रकार जिसमें अनेक प्रकार के अर्थ औत-प्रोत होते हैं, वह सूत्र है। जिसके द्वारा अर्थ सूचित होता है वह सूत्र है। जैसे—प्रसुप्त मानव के पास यदि कोई वातान्त्रिक करता है पर निद्राधीन होने के कारण वह वातान्त्रिक के भाव से अपरिचित रहता है, वैसे ही विना व्याख्या पढ़े जिसका बोध न हो सके, वह सूत्र है। अपर शब्दों में यों कह सकते हैं—जिसके द्वारा अर्थ जाना जाय अथवा जिसके अध्यय से अर्थ का स्परण किया जाय या अर्थ जिसके साथ अनुस्यूत हो, वह सूत्र है।^८

इस प्रकार श्रुत या सूत्र का स्वाध्याय करना, श्रुत के द्वारा जीवादि तत्त्वों और पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानना श्रुतधर्म है।

श्रुतधर्म के ऐद—

श्रुतधर्म के भी दो प्रकार हैं—सूत्ररूप श्रुतधर्म और अर्थरूप श्रुतधर्म।^९ अनुयोगद्वारा सूत्र में श्रुत के द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दो प्रकार बताये हैं। जो पत्र या पुस्तक पर लिखा हुआ है वह 'द्रव्यश्रुत' है और जिसे उन्हें पर लाना ही उपयोगश्रुत होता है वह 'भावश्रुत' है।

श्रुतज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—जैसे सूत्र—धारा पिरोई हुई सूई मुम हो जाने पर भी पुनः मिल जाती है, क्योंकि धारा उसके साथ है। वैसे ही सूत्रज्ञान रूप धारे से जुड़ा हुआ व्यक्ति आत्मज्ञान से वंचित नहीं होता। आत्मज्ञान युक्त होने से वह संसार में परिज्ञयन नहीं करता।

नन्दीसूत्र में श्रुत के दो प्रकार बताये हैं—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत। वहाँ पर सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत की सूची भी दी है और अन में स्पष्ट रूप में लिखा है—“सम्यक्श्रुत कहलाने वाले शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के हाथों में पड़कर मिथ्यात्व बुद्धि से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुत बन जाते हैं। इसके विपरीत मिथ्याश्रुत कहलाने वाले शास्त्र सम्यग्दृष्टि के हाथों में पड़कर सम्यक्त्व से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुत बन जाते हैं।”^{१०}

५. ईदियमणोणिमित्तं जं विष्णाणं सुताणुसारेण। णिअयत्यृत्ति समत्वं तं भावसुतं मती सेता।

—विषेः आ. भा. (भा. ५), गा. ९९

१०. दुर्गती प्रपततो जीवान् रुणदि, सुरगती च तान् धारयनीति धर्मः। श्रुतं द्वादशांगं तदेव धर्मः श्रुतधर्मः।

—स्थानांगवृत्ति

११. सूत्र्यन्ते सूत्यन्ते वाऽर्या अनेनेति सूत्रम्। सुस्थितत्वेन व्यापित्वेन च सुरुक्तत्वाद् वा मृक्तं, सुप्तमिव वा सूत्रम्। मिच्छति क्षरति प्रस्मादर्थं तस्मात् सूत्रं निरुक्तविधिना वा सूत्रयति श्रवति श्रूयते; समर्थते वा वेनार्थः। —स्थानांगवृत्ति

१२. मुयधर्मे दुविहे पण्णसे तंजहा—सुतमुयधर्मे चेव अत्थमुयधर्मे चेव। —स्थानांग, स्था. २

१३. एवाइं मिच्छादिदिठस्स मिच्छतपरिगग्हियाइं मिच्छासुयं।

एवाइं चेव सम्मदिटिठस्स सम्मतपरिगग्हियाइं सम्मसुयं॥ —नन्दीसूत्र-श्रुतज्ञान प्रकरण

श्रुत के अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत, संज्ञीश्रुत और असंज्ञीश्रुत आदि चाँदह भेद किये गये हैं। उनमें संयक्षण वह है जो वीतरागप्रलिपित है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थकर भगवान् ने अपने आपको देखा एवं समृच्छ लोक को भी हस्तामनकरत् देखा। भगवान् ने सत्य का प्रतिपादन किया। उन्होंने बन्ध, बन्धहेतु, मोक्ष, और मोक्षहेतु का स्वरूप प्रकट किया। भगवान् की वह पादन वाणी आगम बन गई। इन्द्रभूति गौतम आदि प्रमुख जिज्ञासों ने उस वाणी को सूत्र रूप में गूच्छा, जिससे आगम के सूत्रागम और अर्थागम ये दो विभाग हुए। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को 'अर्थागम' और उसके आधार पर की गई सूत्ररचना 'सूत्रागम' कहा गया। यह आगम-साहित्य आचार्यों के लिए महान् निधि थी। इसलिए वह 'गणिपिटक' कहलात्या। उस गुम्फन के १. आचार २. सूत्रकृत ३. स्थान ४. समवाय ५. भगवती ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अनुत्तरीय-पात्रिकदशा ९. प्रश्नाध्याकरण १०. विषाक ११. दृष्टिवाद, वे मौलिक बारह भाग हुए, इसलिए उसका दूसरा नाम 'द्वादशांगी' है। इस तरह प्रणेता की दृष्टि से आगम-साहित्य 'अंगप्रविष्ट' और 'अनंगप्रविष्ट' इन दो भागों में विभक्त हुआ। भगवान् महावीर के ग्रन्थान् शिष्य गणधर्मोंने जिस साहित्य की रचना की, वह 'अंगप्रविष्ट' है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगमसाहित्य अनंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आता है। द्वादशांगी का आगम-साहित्य में प्रमुखतम स्थान रहा है। वह स्वतः प्रमाण है। द्वादशांगी के विभिन्न लोक वाद हैं, ते परतःप्रमाण हैं, अर्थात् जो द्वादशांगी से अविरुद्ध हैं वे प्रमाण हैं, वे अप्रमाण हैं।

राजप्रश्नीयः नामकरण

इस प्रकार मह स्पष्ट है कि जैनों का आधारभूत प्राचीनतम साहित्य आगम है और वह थुत भी है। राजप्रश्नीयसूत्र की परिणाम अंगवाह्य आगमों में की गई है। वह द्वितीय उपांग है। आचार्य देवबाचक ने इसका नाम 'रायपसेणिय' दिया है।^{१४} आचार्य मलयगिरि ने 'रायपसेणीय' लिखा है। वे इसका संस्कृत रूप 'राज-प्रश्नीयम्' करते हैं। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थवृत्ति में 'राजप्रसेनकीय' लिखा है। तो मुनिचन्द्र सूरि ने 'राजप्रसेनजित' लिखा है।

अक्रियावादः एक चिन्तन

आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय को सूत्रकृतांग का उपांग माना है। उनका मन्तव्य है कि सूत्रकृतांग में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी प्रभृति पाद्यजिडियों के तीन भी लिरेसठ मत प्रतिपादित हैं, उनमें से अक्रियावादी मत को आधार बनाकर राजा प्रदेशी ने केशी अमण से प्रश्नोत्तर किये। सूत्रकृतांग^{१५} और भगवती^{१६} में चार समवसरणों में एक अक्रियावादी बताया है। वहाँ पर अक्रियावादी का अर्थ अनात्मवादी -क्रिया के अभाव को मानने वाला, केवल चित्तशुद्धि को आवश्यक और क्रिया को अनावश्यक मानने वाला -किया है। स्थानांग सूत्र में^{१७} अक्रियावादी शब्द का प्रयोग अनात्मवादी और एकात्मवादी दोनों अर्थों में मिलता है। वहाँ अक्रियावादी के एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नित्यवादी, असत्,

१४. नन्दीसूत्र, सूत्र-८३

१५. सूत्रकृतांग—१।१२।१

१६. भगवती—३।०।१

१७. अद्य अक्रियावादी पण्णता तंजहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, णिर्मितवाई, सातवाई, समुच्छेदवाई, णित्यवाई, पासंतपरलोगवाई। —स्थानांग-८।२२

परलोकवादी ये आठ प्रकार बताये हैं। उनमें से सह वाद एकान्त दृष्टि वाले हैं। समुच्छेदवाद और नास्ति-मोक्ष-परलोकवाद ये दो अनात्मवाद हैं। नयोपदेश मन्त्र में उपाध्याय यशोविजयजी ने धर्मीण की दृष्टि से जैसे—चार्वाक को नास्तिक अक्रियावादी कहा है वैसे ही धर्मीण की दृष्टि से सभी एकान्तवादियों की नास्तिक कहा है।^{१५}

सूत्रकृतांगनियुक्ति में अक्रियावादियों के चौरासी प्रकार बताये हैं। यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस समय जिन वादों का उल्लेख किया गया है उनकी कौनसी दार्शनिक धारायें थीं? पर बत्तमान में उन धाराओं के संबंधक दार्शनिक इस प्रकार हैं—

१. एकवादी—

१. ब्रह्माद्वैतवादी—बेदान्त।
२. विज्ञानाद्वैतवादी—बौद्ध।
३. शब्दाद्वैतवादी—वैथाकरण।

ब्रह्माद्वैतवादी की दृष्टि से ब्रह्मा, विज्ञानाद्वैतवादी की दृष्टि से विज्ञान और शब्दाद्वैतवादी की दृष्टि से शब्द पारमार्थिक तत्त्व है। शेष तत्त्व अपारमार्थिक हैं। अतः ये सारे दर्शन एकवादी हैं। अनेकान्त दृष्टि के आलोक में सभी पदार्थ संग्रहनय की दृष्टि से एक हैं और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक हैं।

२. अनेकवादी—

वैशेषिक दर्शन अनेकवादी है। उसके अभिमतानुभार धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी पृथक्-पृथक् हैं।^{१६}

३. मितवादी—

१. जीवों की संख्या परिमित मानने वाले—इनके मन्तव्य पर स्थाद्वादमञ्जरी टीका में चिन्तन किया गया है।^{१७}

२. आत्मा को अंगुष्ठपर्व या श्यामाक तंदुल जितना मानने वाले—इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद्,^{१८} छान्दोग्योपनिषद्,^{१९} कौषीतकी उपनिषद्,^{२०} मुण्डक उपनिषद्,^{२१} आदि विविध उपनिषदों का मत है।

३. जीव को केवल सात हीप समुद्र का मानने वाले—इस विवारधारा का उल्लेख भगवती आदि में हुआ है।

१८. धर्म्यशे नास्तिको ह्योको, ब्राह्मस्पत्यः प्रकीर्तिः।

धर्मीशे नास्तिका ज्ञेयाः, मर्वेऽपि परतीर्थिवाः ॥^१ —नयोपदेश, श्लोक-१२६

१९. स्वतोनुवृत्ति-व्यतिभाजी, भावा न भावात्तरनेयरूपाः।

परात्मतत्त्वादत्यात्मतत्त्वाद्, द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्वलन्ति ॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिशिका, श्लोक-४

२०. मुक्तोऽपि वाऽप्येतु भवते भवो वा भवस्थशून्योर्स्तु मितात्मवादे।

यद्गीताकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥ ---अन्ययोग०, श्लोक-२९

२१. अस्थूल मन एव लक्ष्मवदीर्घं मलोहितमस्वेहमच्छाय मतमोऽवायवनाकाशमसङ्गमरसमग्नधमचक्रमश्रोत्रमवाग०—इनोऽतेजस्कमप्राणमसुखमनन्तरमवाह्यम् । यथा श्रीहिर्वा यवो वा ! —बृहदारण्यक उपनिषद्-३। आद ४। ६। १

२२. प्रदेशमात्रम् ! ---छान्दोग्य उपनिषद्---५। १। ८। १

२३. एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः । ... कौषीतकी उपनिषद्—३। ५। ४। २०

२४. सर्वंगतः । मुण्डक-उपनिषद्—१। १। ६

४. निमित्वादी—

तेयायिक, वेषेविक आदि—जो लोक को ईश्वरकृत मानते हैं।^{२५}

५. सातवादी—

आचार्य अभयदेव के^{२६} अनुसार 'सातवाद' बौद्धों का भ्रत है। सूत्रकृतांग से भी इस कथन की पुष्ट होती है।^{२७} चार्वाकदर्शन का साड़य सुख है। तथापि वह सातवादी नहीं है। क्योंकि "सातं सातेण विजजति" सुख का कारण सुख ही है। प्रस्तुत कार्य-कारण वा सिद्धान्त चार्वाकदर्शन का नहीं है। बौद्धदर्शन पुनर्जन्म में निष्ठा रखता है। उसकी मध्यम प्रतिपदा भी कठिनाइयों से बचकर चलने की है। इसलिये वह सातवादी माना गया है। चूणिकार ने भी सातवाद को बोड़ माना है। "सातं सातेण विजजति"—इस पर चिन्तन करते हुए चूणिकार ने लिखा है—'इदानीम् शाश्वतः परामृश्यन्ते' अर्थात् अब बौद्धों के सम्बन्ध में हम चिन्तन कर रहे हैं। भगवान् महावीर ने कायक्लेश पर बल दिया। "अत्थहियं खु दुहेश लब्धई"—अत्थहित कष्ट से सिद्ध होता है। जैनदर्शन ने बौद्धों के सामने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया। बौद्धों का मन्तव्य है—शारीरिक कष्ट की अपेक्षा मानसिक समाधि का होना आवश्यक है। कार्य-कारण के मिद्धान्तानुसार दुःख, सुख का कारण नहीं हो सकता। इसलिए सुख, सुख से ही प्राप्त होता है। आचार्य शीलांक ने बौद्धों का सातवाद सिद्धान्त माना ही है। साथ ही जो परिषह को सहन करने में असमर्थ हैं, ऐसे जैन मुनियों का भी अभिमत माना है।^{२८}

६. समुच्छेदवादी—

प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। उत्पत्ति-अनन्तर दूसरे ही क्षण में उसका उच्छेद हो जाता है, ऐसा बीब मन्तव्य है। इसलिये बौद्धदर्शन समुच्छेदवादी माना गया है।

७. नित्यवादी—

सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ कूटस्थ नित्य है कारण रूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व रहता है। कोई भी पदार्थ नूतन रूप से पैदा नहीं होता और न वह विनष्ट ही होता है। पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है।^{२९}

८. असत् परलोकवादी—

चार्वाकदर्शन न मोक्ष को मानता है और न परलोक आदि को स्वीकार करता है।

राजा प्रदेशी : एक परिचय—

राजा प्रदेशी अक्रियावादी था और उसी दृष्टि से उसने अपनी जिज्ञासायें केशीशमण के सामने प्रस्तुत की थीं। डा. विन्टरनीलज का मन्तव्य है कि प्रस्तुत आगम में पहले राजा प्रसेनजित की कथा थी। उसके पश्चात्

२५. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफिल्यदर्शनात् ।

न पुरुषकर्मभावे फलानिष्पत्तेः ॥

तत्कारितत्वादहेतुः । — त्यायसूत्र, ४। ११९-२१

२६. स्थानांगवृत्ति, पत्र ४०४ ।

२७. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र ४६ ।

२८. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र ९६ : एके शाक्यादयः स्वयूध्या वा लोचादिनोपतप्ताः ।

२९. सांख्यकारिका—९.

प्रसेनजित के स्थान पर 'परम' लगाकर प्रदेशी के साथ इस कथा का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। पर
प्रबल अभाग नहीं दिया है, अतः हमारी दृष्टि से वह कल्पना ही है। प्रसेनजित महाबीर और बुद्ध के समसामयिक
राजाओं में एक राजा था। संयुक्तनिकाय^{३०} के अनुसार उसने एक यज्ञ के लिए ५०० बैल, ५०० बछड़े, ५००
राजाओं में एक राजा था। संयुक्तनिकाय^{३०} के अनुसार उसने एक यज्ञ के लिए ५०० बैल, ५०० बछड़े, ५००
बछड़ियाँ, ५०० बकरियाँ ५०० भेड़ आदि एकत्रित किये थे। बुद्ध के उपदेश में बिना मारे ही उसने यज्ञ का
बद्धाङ्गियां, ५०० बकरियाँ ५०० भेड़ आदि एकत्रित किये थे। बुद्ध के उपदेश में बिना मारे ही उसने यज्ञ का
बिसर्जन किया।^{३१} उसने बुद्ध से छोटे-बड़े अनेक प्रश्न पूछे, उसका संकलन संयुक्तनिकाय के 'कीशलसंयुक्त' में
विसर्जन किया।^{३२} उसने बुद्ध से छोटे-बड़े अनेक प्रश्न पूछे, उसका संकलन संयुक्तनिकाय के 'कीशलसंयुक्त' में
हुआ है। दीघनिकाय के अनुसार^{३३} राजा प्रदेशी प्रसेनजित के अधीन था और राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार
हुआ है। दीघनिकाय के अनुसार^{३४} राजा प्रदेशी प्रसेनजित के अधीन था और राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार
जितशत्रु प्रदेशी राजा का आज्ञाकारी थामन्त था। योंकि जैन आगमसाहित्य में कहीं भी प्रसेनजित राजा का
जितशत्रु प्रदेशी राजा का आज्ञाकारी थामन्त था। योंकि जैन आगमसाहित्य में कहीं भी प्रसेनजित राजा का
वाणिज्यप्राप्ति, चम्पा, वाराणसी, आजम्बिया आदि अनेक गणरियों के राजा का नाम जितशत्रु मिलता है।^{३५}
वाणिज्यप्राप्ति, चम्पा, वाराणसी, आजम्बिया आदि अनेक गणरियों के राजा का नाम जितशत्रु मिलता है।^{३५}
वह हमारी दृष्टि से यह ऐसा गुणवाचक शब्द है, जिसका प्रयोग प्रत्येक राजा के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यह
बहुत कुछ सम्भव है कि प्रसेनजित का ही अपरानाम 'जितशत्रु' जैन साहित्य में आया हो। प्रसेनजित पहले
द्वितीय कांचित्प्रभा का अनुयायी था। उसके पश्चात् वह तथागत बुद्ध का अनुयायी जना। वह जैनधर्म का
अनुयायी नहीं था, इसलिए उसका जैन साहित्य में वर्णन न आया हो, यह भी सम्भव है। आवस्ती के अनुयायी
निर्गन्ध धर्म पर पूर्ण आस्थावान् थे। गणधर गौतम और केशीकुमार का मधुर मंत्राद भी वहीं पर हुआ था^{३६}
तथा अन्य अनेक प्रसंग भी अग्रवान् महाबीर के जीवन के साथ जुड़े हुए हैं।^{३७}

प्रस्तुत आगम—

प्रस्तुत आगम दो भागों में विभक्त है। इनमें प्रथम विभाग में 'सूर्योदीप' नामक देव श्रमण
भगवान् महाबीर के समक्ष उपस्थित होता है और वह विविध प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन करता है।
द्वितीय विभाग में राजा प्रदेशी वा किसी कुपारध्ययन हो जीवने से निष्ठित और नास्तिक दो लेकर मधुर
संवाद है।

प्रस्तुत आगम का प्रारम्भ 'आमलकप्ता' नमीरी के वर्णन से होता है। यह नगरी पश्चिम विदेश में
श्वेताम्बिका के समीप थी। बीद्र साहित्य में शुल्लिय राज्य की राजधानी 'आमलकप्ता' थी। सम्भव है, अल्लकप्ता
ही आमलकप्ता हो। यह स्थान शहावाद जिले में 'मसार' और 'वैशाली' के बीच अवस्थित था। आमलकप्ता
के बाहर 'अम्बसाल' नामक चैत्य था। वह चैत्य बनखण्ड से थेगिट था। वहाँ के राजा का नाम 'सेव' और
रानी का नाम 'धारिणी' था। भगवान् महाबीर का वहाँ पर शुभागमन हुआ और वे अम्बसाल चैत्य में

३०. संयुक्तनिकाय—कीशलसंयुक्त, यज्ञसूत्र, ३।१।१.

३१. धर्मपद-बटुकथा, ५-१। Buddhist Legends, Vol. II, P. 104 ff.

३२. दीघनिकाय—२।१०

३३. उपासकदण्डग्रन्थ—अध्ययन-१/अ. २, अ. ३, अ. ५

३४. उत्तराध्ययन, अध्ययन-२। गाथा-३

३५. (क) भगवतीसूत्र, शतक-१५ना।

(ख) भगवतीसूत्र—शतक-२, उद्देशक-१

विराजे। राजा-रानी तथा अन्य नगर-निवासी प्रभु महावीर के पावन प्रवचन को श्रवण करने के लिए पहुँचे। आगमसत्ताहित्य में राजा 'सेय' का अन्यत्र कहीं भी विशेष परिचय नहीं आया है। स्थानांगमूल के आठवें स्थान में भगवान् महावीर ने जिन आठ राजाओं को दीक्षित किया, उनमें एक राजा का नाम 'सेय' है। आचार्य अभ्यदेव के अनुसार यही सेय राजा था, जिसने भगवान् महावीर के पास प्रदान्या अंगीकार की थी।^{३८} आचार्य गुणचन्द्र ने लिखा है—एक बार भगवान् महावीर पोतनपुर में पधारे, तब शंख, वीर, शिव, मद्र आदि राजाओं ने एक साथ दीक्षा प्रहण की थी।^{३९} इससे विज्ञों का यह अभिमत है कि सभी राजा-गण एक ही दिन दीक्षित हुए थे।^{४०} मलयगिरि ने 'सेय' का संस्कृत रूपान्तर श्वेत किया है। इसी तरह धारिणी नाम अन्य आगमों में अनेक स्थलों पर आया है। औपचारिक सूत्र में राजा कूणिक की रानी का नाम भी धारिणी है तथा अन्यत्र भी इस नाम का प्रयोग हुआ है। गम्भीर है, गर्भ को धारण करने के कारण 'धारिणी' कहलाती हो। भले ही उसका व्यक्तिगत नाम अन्य कुछ भी रहा हो।

वास्तुकला का उत्कृष्ट रूप : विमान—

मौर्य स्वर्ग के 'सूर्यभि' नामक देव ने अपने दिव्य ज्ञान से निहारा अमण भगवान् महावीर आमलकप्य के अम्बसाल चैत्य में विराज रहे हैं। उसने वहीं से भगवान् को वन्दन किया और अपने आभियोगिक देवों को आदेश दिया कि वे शीघ्र ही प्रभु महावीर की सेवा में पहुँचें और वहीं की आसपास की भूमि को साफ कर सुगन्धित द्रव्यों से भहका दें। तदनुसार आज्ञा का पालन किया गया। सूर्यभि देव ने अपने सेनापति को बुजाकर अत्यन्त कलात्मक विमान की रचना करने की आज्ञा दी। विमान का वर्णन वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ही नहीं, अपूर्व एवं अद्भुत है। विमान के तीन ओर सोपान बनाये गये थे। तीनों सोपानों के सामने मणि-मुक्ताओं और तारिकाओं से रचित तोरण लगाये गये। उन तीरणों पर आठ-मंगल स्थापित किये गये। रंग-दिरंगी ध्वजायें, छत्र, घण्टे और सुन्दर कमलों के गुच्छे लगाये गये। विमान का केवल ब्राह्म भाग ही सुन्दर नहीं था अपितु अन्दर के भाग में इस प्रकार कलात्मक मणियां जड़ी गई थीं कि दर्शक देखते ही मंत्रमुख हो जायें। तथा इस प्रकार के चित्र उटूंकित किये गये थे कि अवलोकन करने काला ठगा-सा रह जाय। विमान के मध्य में प्रेक्षागृह का निर्माण किया गया, जिसमें अनेक खम्भे बनाये गये। ऊँची वेदिकायें, तोरण, शाल-भेजिकायें स्थापित की गईं। ईहाशृण, मृष्टभ, हाथी, घोड़े, वनजलता प्रभृति के सुन्दर चित्र अंकित किये गये। स्वर्णमय और रत्नमय स्तूप स्थापित किये गये। सुगन्धित द्रव्यों से उसे महकाया गया। मण्डल के चारों ओर जात्यों की सुरीली स्वर-लहरियां भन्नभनाने लगीं। मण्डप के मध्यमाग में प्रेक्षकों के बैठने का स्थान निर्मित किया गया। उनमें एक पीठिका स्थापित की। उस पर सिहासन रखा, जो कलात्मक था। सिहासन के आगे मुलायम पादपीड़ रखा। सिहासन श्वेत वर्ण के विजयदूष से सुशोभित था। उसके मध्य में अंकुश के आकार की एक खूंटी थी, जिस पर मीतियों की मालायें लटक रही थीं। अनेक प्रकार के रत्नों के हार दमक रहे थे। इस विभान में सूर्यभि देव की मुख्य देवियों तथा अन्य आध्यात्म परिषद्, सेनापति बादि के बैठने के लिए भद्रासन बिछे हुए थे। सूर्यभि देव अपने स्थान पर आसीन हुआ और अन्य देवगण भी अपने-अपने आमनों पर अवस्थित हुए। विमान अत्यन्त द्रुत गति से चला। असंख्यात हीप, समुद्रों को लांघता हुआ

इन् स्थानाङ्ग वृत्ति, पृष्ठ-४०८

३९. "पलो पोयणपुर, तहि च संख्वीरसिवभट्पमुहा नरिदा दिक्खा गाहिया"।

—श्री गुणचन्द्र महावीरचरित, प्रस्ताव द, पृष्ठ ३३७

४०. छाण—जैन विश्वभारती, लाडलू, पृष्ठ-५३७

जहाँ भगवान् महावीर विराज रहे थे, वहाँ उत्तरा। सूर्योभद्रेव अपने परिवार सहित भगवान् के शी-चरणों में पहुँचा।

भगवान् महावीर के त्याग-बैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को श्रवण कर आमलकृष्णा के नागरिक दण्डस्थान लौट गये। सूर्योभ देव ने अपने अन्तहीन दय की जिज्ञासाएं प्रस्तुत कीं। भगवान् से समाधान पाकर वह परम संतुष्ट हुआ। प्रेक्षामण्डप की संरचना की। विविध प्रकार के चमचमाते हुए वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एक सौ आठ देवकुमार तथा एक सौ आठ देवकुमारियां आतिश्यत होई।

वाच्य : विद्वलेषण

उसके पश्चात् सूर्योभ देव ने निम्न प्रकार के वाचों की विक्रियाशक्ति से रचना की—शंख, शुभ, शुभिका, खरमुही [काहाला], पेय [महतीकाला], पिरिपिरिका [कोनिक मुखाबन्ध मुखवाद्य], पणव [लघुपटह], पटह, भंभा [ढकका], होरंभा [महाढकका], भेरी [ढककाकृति वाच्य], भल्लरी^{४१} [चर्मविनदा विस्तीर्णवलमाकारा], दुन्दुभि [भेषकिरा संकटमुखी देवालोद्य^{४२}], मुरज [महाप्रभाण मदंल], मृदंग [लघु मर्दल], तंदीमृदंग [एकतः संकीर्णः अन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः], आलिग [मुरज वाद्यविशेष^{४३}] कुस्तुंब [चर्मविनदध्यपुटो वाद्यविशेषः] गोमुखी, मर्दल [उभयतः सम^{४४}], वीणा, विरंकी [श्रितंत्री वीणा], बल्लकी [मामान्यतो वीणा, महती, कच्छभी [भारती वीणा], चित्रवीणा, बद्वीस, सुधोषा, नदिघोषा, आमरी, बड़आमरी, वरवाइनी [मप्ततंत्री वीणा], तूणा, तुम्बवीणा [तुंबयुक्त वीणा], आमोट, भंभा, नकुल, मुकुन्द [मुरज वाद्यविशेष], हुडुकल^{४५}, विचिक्की, करटा^{४६}, डिडिम, किणित, कडंब, दर्दर, दर्दिरिका [यस्य चतुभिश्चरणेष्वस्थानं भूवि स गोध्यचर्मविनष्टो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१], कलशिका, महुया, ताल, ताल कांस्यताल, रिगिसिका [रिगिसिगिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[, लतिया, मगरिका, जिशुमारिका, वंश, वेणु, वाली [तूणविशेषः, स हि मुखे दत्ता वाद्यते], परिलि और बद्धक [पिरलीबद्धकौ तूणह्य वाद्यविशेषौ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पृष्ठ—१०१]^{४७}, (५९)।

वाचों की संख्या के सम्बन्ध में पाठभेद है। मूलपाठ में वाचों की संख्या ४९ है, और पाठानुसार इनकी संख्या ५९ है। इस पर चिन्तन करते हुए टीकाकार ने इस भिन्नता का समन्वय किया है।^{४८} उन्होंने कुछ वाचों को एक दूसरे में मिलाकर उनकी संख्या का स्पष्टीकरण किया है। यों आगमसाहित्य में अनेक स्थलों पर वाचों का उल्लेख है। आचारांग^{४९} में 'किरिकिरिया' वाच्य का वर्णन है, जो वाम आदि की लकड़ी से बना हुआ

४१. यह वार्ये हाथ में पकड़कर दाये हाथ से बजाई जाती है—शार्ङ्गधर, संगीतरत्नाकर—६, १२३७

४२. मंगल और विजय सूचक होती है तथा देवालयों में बजाई जाती है, —शार्ङ्गधर, संगीतरत्नाकर—६, ११४६

४३. गोपुच्छाकृति मृदंग जो एक सिरे पर चौड़ा और दूसरे पर सफड़ा होता है—वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित, पृष्ठ ६७

४४. संगीतरत्नाकर, १०३४ आदि

४५. इसे आवज अथवा स्कंधावज भी कहा जाता है—संगीतरत्नाकर १०७५

४६. संगीतरत्नाकर १०३६ आदि

४७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—सूत्र ६४.

४८. मूलभेदापेक्षया आतोचभेदा एकोनपञ्चाशत्, शेषस्तु एतेषु एव अन्तर्भंवन्ति, यथा वंशातोद्यविधाने वालीवेणु-पिरिलिबद्धगाः दति—राजप्रश्नीय सटीक, पृष्ठ १२८

४९. आचारांग—२, ११, ३९१, पृष्ठ ३७९

होता था। सूत्रकृतांग में 'कुवकवय' और 'वेणुपलाशिय' वांसुरियों का वर्णन है, जो दाँतों में बाये हाथ से पकड़ कर बीणा की भाँति दाहिने हाथ से बजाई जाती थी।^{५८} भगवतीसूत्र की टीका में^{५९}, जीवाभिगम^{६०}, जम्बूद्वीप-प्रश्नपति^{६१}, निशीथसूत्र^{६२}, आदि में भी अनेक वाद्यों का उल्लेख है। वृहत्कल्पभाष्य^{६३} में भंधा, मुकुन्द, महल, कहम्ब, भलंडी, हुड्डक, कास्यनाल, काहल, तनिमा, बंश, पणव, शंख इन बारह वाद्यों का उल्लेख है। रामायण^{६४} के महाभारत^{६५} में मह्डक, पड़ह, बंश, विषञ्ची, मृदंग, पणव, डिङ्गि, आडबर और कलशी का उल्लेख है।

भारत के नाट्यशास्त्र में, तत्त्वाद्यों में, विषञ्ची और चित्रा को मुख्य और कच्छपी एवं घोषका को उत्तका अंगभूत माना है।^{६६} चित्रवीणा सात तंत्रियों वाली होती थी और वे तंत्रियां अंगुलियों से बजाई जाती थीं। विषञ्ची में तीन तंत्रियां होती थीं, जिसका वादन 'कोण' अर्थात् वीणावादन के दण्ड के द्वारा किया जाता था।^{६७} यद्यपि भारत के कच्छपी और घोषका के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है, किन्तु संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ के अनुपार घोषणा एकत्री वाली वीणा थी^{६८} और कच्छपी सम्बन्ध है, सात तंत्रियों से कम वाली वीणा हो।

'संगीतदामोदर' में तत के २०, प्रकार बताये हैं—अलावणी, अह्नवीणा, किञ्चनी, लघुकिञ्चनी, विषञ्ची, वस्त्रकी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवली, जपा, हस्तिका, कुरुजिका, कूर्मी, मारंगी, पटिवादिनी, प्रिशवी, शतचन्द्री, नकुनीष्ठी, ढोसवी, ऊदंबरी, पिताकी, निशंक, शुक्रफल, गदावारणहस्त, शब्द, स्वरमणमल, कपिलाम, मधुस्यंदी और बोधा।^{६९} आयारचूला^{७०} और निशीथ^{७१} में तत के अन्तर्गत वीणा, विषञ्ची, वह्निमण, तुणय, पवण, तुम्बविणिया, हंसुण, और जोड़य ये बाये वाद्य लिये हैं।

वितत- चर्म से आबद्ध वाद्य वितत है। सीत और वाद्य के माथ ताल एवं लय के प्रदर्शन करने हेतु इन वाद्यों का प्रयोग होता था। इनमें मृदंग, पवण [तन्त्रीयुक्त अवनन्द वाद्य], दुर्व [कलश के आकार वाला चर्म

५८. सूत्रकृतांग—४. २. ७.

५९. भगवतीसूत्र टीका—५. ४. पृष्ठ-२१६ अ

६०. जीवाभिगम—३. पृष्ठ-१४५-अ

६१. जम्बूद्वीपप्रश्नपति—२. पृष्ठ-१००-अ आदि

६२. निशीथसूत्र—१७. १३५-१३८

६३. वृहत्कल्पभाष्यपरिचिका—२४ वृत्ति

६४. रामायण—५. १०. ३८ आदि

६५. महाभारत—३. ८२. ४

६६. विषञ्ची चैव चित्रा च दारवीष्वंगसंजिते।

कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यंगानि तर्थैव च ॥ २८—भरतनाट्य-३३। १५

६७. मप्ततन्त्री भवेत् चित्रा विषञ्ची नवतन्त्रिका।

विषञ्ची कोणवाद्या स्याच्चित्रा चांगुलिवादना ॥ २९—भरतनाट्य-२९। ११४

६८. घोषकमचैकतन्त्रिका। —रांगीतरत्नाकर, वाद्याध्याय, पृष्ठ २४८

६९. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र—कल्याण (हिन्दुसंस्कृति अङ्क) पृष्ठ ७२१-७२२ से उद्धृत

७०. आयारचूला—११। २

७१. निशीहंजभग्यण—१७। १३८

से मढ़ा हुआ वाद्य], भेरी, डिडिम, मृदंग आदि हैं। ये वाद्य मानव की कोमल भावनाओं को उद्दीपित करते हैं और वीरोचित उत्साह बढ़ाते हैं। इसलिए धार्मिक उत्सव और युद्ध के प्रशंसनों पर इनका उपयोग होता था।

विज्ञों का यह भी मानना है कि मुरज, पटह, ढक्का, विश्वक, दर्पवाद्य, घण, पणव, सरहा, लाव, जाहव, त्रिवली, करट, कमठ, भेरी, कुहुका, हुड्का, झनसमुरली, फल्ली, दुक्कली, दौड़ी, जान, डभू, डमुकी, मड्डू, कुड़ली, स्तुग, दुंदुभी, झंग, मर्छल, अणीकस्थ आदि वाद्य भी वितत के अन्तर्गत आते हैं।^{६३}

घन—कांस्य आदि धातुओं से बने हुए वाद्य 'घन' कहलाते हैं। करताल, कांस्यवन, नयभटा शुक्लिका, कण्ठिका, पटवाद्य, पट्टाधोष, घर्षर, फेफताल, भंजिर, कर्तरी, उषणकूक, आदि घन के अनेक प्रकार हैं। निशीथ में^{६४} घन शब्द के अन्तर्गत ताल, कंमताल, लत्तिय, गोहिय, मवकरीय, कच्छधी, सहती, सणालिया और बालिया आदि वाद्य घन में सम्मिलित किए गये हैं।

सुधिर—दूर्दृढ़ ऐ रजन लादि धादि वादि 'दुधिर' है। भरतमुनि ने शुषिर के अन्तर्गत वंश को अंगभूत तथा शंख, डिक्किणी आदि वादों को प्रत्यंग माना है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्य में वाद्यों के सम्बन्ध में विविध रूप से चर्चायें हैं। हमने संक्षेप में ही यहाँ कुछ उल्लेख किया है।

नाटक : एक चिन्तन—

सूर्यभि देव ने देव कुमारों और देव कुमारियों को आदेश दिया कि वे नाट्यविधि का प्रदर्शन करें। वे सभी एक साथ नीचे झुके और एक साथ मरुतक ऊपर उठाकर उन्होंने अपना नृत्य और गीत प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् वर्तीस प्रकार की नाट्यविधियां प्रदर्शित कीं—

१. स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानस, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण के दिव्य अभिनय—आचार्य मन्यगिरि^{६५} के अनुसार इन नाट्यविधियों का उल्लेख चतुर्दश पूर्वों के अन्तर्गत नाट्यविधि नामक प्राभूत में था, पर वह प्राभूत वर्तमान में विच्छिन्न हो गया है। महाभारत में^{६६} स्वस्तिक, वर्धमान और नन्दावर्त का उल्लेख है। अंगुत्तरनिकाय में नन्दावर्त का अर्थ मछली किया है।^{६७} भरत के नाट्यशास्त्र में स्वस्तिक को चतुर्थ और वर्धमानक को तेरहवां नाट्य बताया है। प्रस्तुत अभिनव में भरत वे नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अंगिक अभिनय के द्वारा नाटक करने वाले, स्वस्तिक आदि आठ मंगलों का आकार बनाकर खड़े हो जाते और फिर हाथ आदि के द्वारा उस आकार का प्रदर्शन करते तथा वाचिक अभिनय के द्वारा मंगल शब्द का उच्चारण करते। जिससे दर्शकों के अन्तर्हृदय में उस मंगल के प्रति रुपिभाव समुत्तर्ण होता।^{६८}

२. आवर्त,^{६९} प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमानव, वर्धमानक, [कंधे पर बैठे

६४. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र—कल्याण (हिन्दुसंस्कृति अंक) पृष्ठ ७२१-७२२

६५. निसीहजभयण—१७। १३९.

६६. राजप्रश्नीय टीका, पृष्ठ १३६

६७. महाभारत ४७, द२, २०

६८. डिक्षिणरी ऑफ पालि प्राप्ति नेम्स, भाग-२, पृष्ठ २३,—मलालसेकर

६९. जम्बूद्वीपप्रश्नप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७०. अमद्ध्रमरिकादासैनैत्तनम् आवर्तः, तद्विपरीतः प्रत्यावर्तः। —जम्बूद्वीपप्रश्नप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१५.

हुए पुरुष का अभिनय] मत्स्याण्डक, मकराण्डक^{७१}, जार, मार^{७२}, पुष्पावली, पश्चपत्र, सागरतरंग, बसन्तलता, पश्चलता^{७३} के चित्रों का अभिनय।

३. ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, नर, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, हनु, शरथ, चमर, कुंजर,^{७४} बनलता, पश्चलता के चित्रों का अभिनय।
४. एकतोषक^{७५}, द्विधावक, एकतश्चकवाल, द्विधाचकवाल, चक्रार्ध, चक्रवाल का अभिनय।
५. चन्द्रबलिका-प्रविभक्ति^{७६}, सूर्यबलिका-प्रविभक्ति, वलयावलिका-प्रविभक्ति, हंसाक्लिका-प्रविभक्ति^{७७}, एकाक्लिका-प्रविभक्ति, तारावलिका-प्रविभक्ति, मुक्तावलिका-प्रविभक्ति, कलकावलिका-प्रविभक्ति, और रहनावलिका-प्रविभक्ति का अभिनय।
६. चन्द्रोद्गमनदर्शन और सूर्योद्गमनदर्शन का अभिनय।
७. चन्द्राभमदर्शन, सूर्यागमदर्शन का अभिनय।
८. चन्द्रावरणदर्शन, सूर्यावरणदर्शन का अभिनय।
९. चन्द्रास्तदर्शन, सूर्यस्तदर्शन का अभिनय।
१०. चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, गन्धर्वमण्डल^{७८} के भावों का अभिनय।
११. द्रूतविलम्बित अभिनय—इसमें वृक्ष और सिंह तथा घोड़े और हाथी की ललित मतियों का अभिनय।
१२. सागर और नगर के आकारों का अभिनय।
१३. नन्दा और चम्पा का अभिनय।
१४. मत्स्यांड, मकरांड, जार और मार की आकृतियों का अभिनय।
१५. क, ख, ग, घ, ङ की आकृतियों का अभिनय।
१६. च-वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
१७. ट-वर्ग की आकृतियों का अभिनय।

७१. भरत के नाट्यशास्त्र में मकर का वर्णन है।

७२. सम्यग्मणितश्चण्वेदिनो लोकाद्वेदितव्यो! जीवाजीवाभिगम टीका, पृष्ठ १८९

७३. भारत के नाट्यशास्त्र में पश्च।

७४. भरत के नाट्यशास्त्र में गजदंत।

७५. एकतो वयत्रं नटानां एकस्यां दिशि भनुराकारश्चेष्या नर्तनं। द्विधातो वक्तं—द्वयोः परस्पराभिमुखदिशोः भनुराकारश्चेष्या नर्तनं। एकतश्चकवाल एकस्यां दिशि नटानां मण्डलाकारेण नर्तनं।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७६. चन्द्राणां आवलि श्रेणि: तस्याः प्रविभक्तिः—विच्छिस्तिरचनाविशेषस्तदभिनयात्मकं।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७७. भरत के नाट्यशास्त्र में हंसवक्त्र और हंसपक्ष।

७८. नाट्यशास्त्र में २० प्रकार के मण्डल बताये गये हैं। यहां गन्धर्वनाट्य का उल्लेख है।

१८. त-वर्ग की आकृतियों का अधिनय ।
१९. प-वर्ग की आकृतियों का अधिनय ।
२०. अशोक, आश्र, जंबू, कोशम्ब के पल्लवों का अधिनय ।
२१. पथ, नाग, अशोक, चम्पक, आश्र, वन, वासन्ती, कुन्द, अतिमुक्तक और श्याम लता का अधिनय ।
२२. द्रुतनाट्य^{५६} ।
२३. विलंबित नाट्य ।
२४. द्रुतविलंबित नाट्य ।
२५. अंचित^{५७} ।
२६. रिभित ।
२७. अंचितरिभित ।
२८. आरभट^{५८} ।
२९. भसोल (अथवा भसल)^{५९} ।
३०. आरभटभसोल ।
३१. उत्तरात, निपात, संकुचित, प्रसारित, रथारहय^{६०}, आंत और संज्ञात क्रियाओं से सम्बन्धित अधिनय ।
३२. महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, अभिषेक, बालकीड़ा, योकनदशा, कामभोगलीला,^{६१} तिष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानश्राप्ति, तीर्थप्रवर्तन और परिनिर्बाण सम्बन्धी घटनाओं का अधिनय [६२-६४] ।

अन्य आगमों में अनेक स्थलों पर नाट्यविधियों का उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययन की वृत्ति के अनुसार जब बहुदत्त चक्रवर्ती पद पर आसीन हुआ तो उसके सामने एक नट 'मधुकरीगीत' नामक नाट्यविधि प्रदर्शित करता है।^{६५} सौधर्म इन्द्र के सामने सुधर्मा सभा में 'सौदाभिनी' नाटक करने का भी उल्लेख है।^{६६}

स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के नाट्यों का वर्णन है—अंचित, रिभित, आरभट, भसोल।^{६७} भरत-नाट्यशास्त्र में सक सौ आठ कर्ण माने हैं। कर्ण का अर्थ है—अंग और प्रत्यंग की क्रियाओं को एक साथ करना।

३३. नाट्यशास्त्र में द्रुत नामक लय का वर्णन है।
३४. नाट्यशास्त्र में उल्लेख है।
३५. नाट्यशास्त्र में 'आरभटी' एक वृत्ति का नाम बताया गया है।
३६. नाट्यशास्त्र में अमर।
३७. नाट्यशास्त्र में रेचित। जम्बूद्वीपप्रश्नाप्ति में रेचकरेचित पाठ है। आरभटी शैली से नाचने वाले नट मंडलाकार रूप में रेचक अर्थात् कमर, हाथ, ग्रीवा को मटकाते हुए रास नृत्य करते थे।

[...—वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित, पृष्ठ-३३]

३८. इससे महावीर की गृहस्थावस्था का सूचन होता है।
३९. उत्तराध्ययन टीका-१३, पृष्ठ-१९६
४०. उत्तराध्ययन टीका-१८, पृष्ठ-२४० अ.
४१. चउचिवहे गट्टे पण्णते, तं जहा—अंचिए, रिभिए, आरभटे, भसोले—स्थानाङ्ग । ६३३

अंचित को तेईसवां कर्ण माना है। प्रस्तुत अभिनय में पैरों को स्वस्तिक के आकार में रखा जाता है। दाहिने हाथ को कटिहस्त [नृत हस्त की एक मुद्रा] और बायें हाथ को व्यावृत तथा परिवृत कर नाक के पास अंचित करने से यह मुद्रा बनती है।^{८८} चिन्तातुर व्यक्ति हाथ पर ठोड़ी टिका कर सिर को नीचा रखता है, वह मुद्रा 'अंचित' है। राजप्रश्नीय में यह पञ्चीसवां नाट्यभेद माना गया है। 'रिचित' के सम्बन्ध में विशेष जानकारी ग्रन्थों में नहीं है। "आरभट"^{८९} माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रांत प्रभृति चेष्टाओं से युक्त सधा वध, बन्धन आदि से उद्गत नाटक 'आरभटी' है।^{९०} 'साहित्यदर्पण'^{९१} में इसके चार प्रकार बताये गये हैं। आरभट को राजप्रश्नीय में नाट्यभेद का अठारहवाँ प्रकार माना है। "भसोल"^{९२} -स्थानांग वृत्ति में इस सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं दिया है।^{९३} राजप्रश्नीय में इसे उन्तीसवां प्रकार माना है।

सूर्यभिदेव विविध प्रकार के गीत और नाट्य प्रदर्शित करने के पश्चात् भगवान् महाबीर को नमस्कार कर स्वस्थान को प्रस्थित हो गया। गणघर गीतम् ने सूर्यभिदेव के विमान के सम्बन्ध में जिजासा प्रस्तुत की। भगवान् ने विस्तार से विमान का वर्णन सुनाया। साथ ही गीतम् ने पुनः यह जिजासा प्रस्तुत की कि यह दिव्य देवऋद्धि सूर्यभिदेव को किन शुभ कर्मों के कारण प्राप्त हुई है? प्रभु महाबीर ने समाधान करते हुए उसका पूर्वभव सुनाया, जो प्रस्तुत आगम का द्वितीय विभाग है।

केक्यार्थ : जनपद

'केक्य अर्थ' जनपद था। जैन साहित्य में साढ़े पच्चीस आर्य क्षेत्रों की परिणामना की गई है। उन देशों और राजधानियों का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति^{९४} प्रज्ञापना^{९५} और प्रबचनसारोद्धार^{९६} में हुआ है। उन देशों में तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पैदा हुए। इसलिए इन्हें आर्य जनपद कहा है।^{९७} जिन देशों में तीर्थकर, प्रभृति महामुरुष पैदा होते हैं, वह आर्य हैं।^{९८} आर्य और अनार्य जनपदों की व्यवस्था के सम्बन्ध में आवश्यक-चूणि^{९९}, तत्त्वार्थभाष्य^{१००}, तत्त्वार्थराजवातिक^{१०१} आदि में चर्चाएँ हैं। हम यहाँ विस्तार से चर्चा में न जाकर यह बताना चाहेंगे कि 'केक्यार्थ' की परिणामना अर्धजनपद में की गई थी। यों केक्य नाम के दो प्रदेश थे। एक की

८८. भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ-४२५

८९. आप्ते दिक्षनन्तरी में आरभट शब्द के अन्तर्गत उद्भूत—

मायेन्द्रजालसंग्रामकोधोद्भान्तादिचेष्टितः।

संयुक्ता वधवन्धादैरुद्धृतारभटी मता ॥

९०. साहित्यदर्पण-४२०।

९१. नाट्यग्रेयाभिनयसूत्राणि सम्बद्धायाभावान्व विवृतानि । . . -स्थानांगवृत्ति, पत्र-२७२

९२. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति—१. ३२६३;

९३. प्रज्ञापनासूत्र—१.६६ पृष्ठ १७३;

९४. प्रबचनसारोद्धार, पृष्ठ ४४६

९५. 'इत्थुप्सि जिणाणं, चक्रीणं रामकण्ठाण ।' —प्रज्ञापना-१

९६. 'यश्च तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं, शेषमनार्यम् !' —प्रबचनसारोद्धार, पृष्ठ-४४६

९७. आवश्यकचूणि

९८. तत्त्वार्थभाष्य—३। १५

९९. तत्त्वार्थराजवातिक—३। ३६, पृष्ठ-२००

अवस्थिति खिवाड़ा —नमक की पहाड़ी अथवा शाहपुर फैलम-गुजरात में थी। दूसरे की अवस्थिति आवस्ती के उत्तरपूर्व में नेपाल की तराई में थी। सम्भवतः यही केकय साङ्के पच्चीस देशों में अभिहित है। उसकी राजधानी श्वेताम्बिका थी। यह आवस्ती और कपिलवस्तु के मध्य में नेपालगंज के पास में होनी चाहिए। इस देश के आधे भाग को आर्य देश स्वीकार किया है और आधे भाग को अनार्य देश। आधे भाग में आदिमदासी जाति निवास करती होगी। बीढ़ साहित्य में सेपविया [श्वेताम्बिका] को 'सेतज्या' लिखा है। भगवान् महावीर का भी वहाँ पर विचरण हुआ था। यह स्थान आवस्ती [सहेट-महेट] से १७ मील और बलरामपुर से ६ मील की दूरी पर अवस्थित था। इसके उत्तरपूर्व में 'मृगवन' नामक उद्यान था। इस नगरी का अधिपति राजा प्रदेशी था। दीघनिकाय में राजा का नाम 'पायासि' दिया गया है। वह राजा अत्यन्त अशामिक, प्रचण्ड कोधी और महान् ताकिक था। गुरुजनों का सत्यान करना उसने सीखा ही नहीं था और न वह श्रमणों और ब्राह्मणों पर निष्ठा ही रखता था। उसकी पत्नी का नाम 'सूर्यकान्ता' था और पुत्र वा नाम 'सूर्यकान्त' था; जो राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोश, कोषागार और अन्तःपुर की पूर्ण निगरानी रखता था।

राजा प्रदेशी के चित्त भास्त के एक सारथी था। दीघनिकाय में चित्त के स्थान पर 'खते' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'खते' का पर्यायवाची संस्कृत में अत-क्षता है, जिसका अर्थ सारथी है। वह सारथी साम, दाम, दण्ड, भेद, प्रभृति नीतियों में बहुत ही कुशल था। प्रबल प्रतिभा का धनी होने के कारण समय-समय पर राजा प्रदेशी उससे परामर्श किया करता था।

कुणाला जनपद में आवस्ती नगरी का अधिपति 'जितशत्रु' था। जितशत्रु के सम्बन्ध में हम पूर्व में लिख चुके हैं—वह राजा प्रदेशी का आकाकारी सामन्त था। राजा प्रदेशी के आदेश को स्वीकार कर चित्त सारथी उपहार लेकर आवस्ती पहुँचता है और वहाँ रहकर शासन की देखभाल भी करता है।

केशी अमण : एक चर्चा

उस समय चतुर्दशपूर्वधारी पाश्वपित्य केशी कुमारश्रमण वहाँ पधारते हैं। ऐतिहासिक विज्ञों का अभिमत है कि सम्राट् प्रदेशीप्रतिबोधक केशी कुमारश्रमण भगवान् पाश्वनाथ की परम्परा के चतुर्थ पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त थे, जो प्रथम गणधर थे। उनकी जन्मस्थली 'क्षेमपुरी' थी। उन्होंने 'सम्भूत' मुनि के पास आवक्षणम् प्रहृण किया था। भाता-पिता के परलोकवासी होने पर उन्हें संसार से विरक्ति हुई। भगवान् पाश्वनाथ के प्रथम उपदेश को सुनकर दीक्षा ली और पहले गणधर बने। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्तसूरि हुए, जिन्होंने वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' को शास्त्रार्थ में पराजित कर प्रतिबोध दिया और लोहिय को ५०० शिष्यों के साथ दीक्षित किया। उन नवदीक्षित श्रमणों ने सौराष्ट्र, तीलंग, प्रभृति प्रान्तों में विचरण कर जैन शासन की प्रबल प्रभावना की। तृतीय पट्टधर आचार्य 'समुद्रसूरि' थे। उन्हीं के समय 'विदेशी' नामक महान् प्रभावशाली आचार्य ने उज्जयिनी नगरी के अधिपति महाराज 'जयसेन', महारानी 'अनंगसुन्दरी' और राजकुमार 'केशी' को दीक्षित किया।^{१००}

आगमसाहित्य में केशीश्रमण का राजप्रश्नीय और उत्तराध्ययन, इन दो आगमों में उल्लेख हुआ। राजप्रश्नीय और उत्तराध्ययन में उल्लिखित केशी एक ही व्यक्ति रहे हैं या पृथक्-पृथक्? प्रशाचक्षु पं. सुखलालजी

१००. केशिनामा तद्विनेशः यः प्रदेशीनरेश्वरम्।

प्रबोध्य नास्तिकाद् धर्माद् जैनधर्मोऽध्यरोपयत् ॥ —नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध-१३६

संघबी^{१०३}, डा. जगदीशचन्द्र जैन^{१०४}, डा० मोहनलाल मेहता^{१०५}, पं. मुनि नथभलजी^{१०६}, [युवाचार्य महाप्रश्न] आदि अनेक विज्ञों ने राजा प्रदेशी के प्रतिबोधक केशी कुमारश्रमण को और गणधर गौतम के साथ संकाढ़ करने वाले केशी कुमारश्रमण को एक भाना है, पर हमारी दृष्टि से दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। क्योंकि समादृ प्रदेशी को प्रतिबोध देने वाले चतुर्दशपूर्वी और चार ज्ञान के धारक थे।^{१०७} गणधर गौतम के साथ चर्चा करने वाले केशीकुमार तीन ज्ञान के धारक थे।^{१०८} यदि हम यह भान लें कि जिस समय केशीकुमार ने मणधर गौतम के साथ चर्चा की थी, उस समय वे तीन ज्ञान के धारक थे और बाद में चार ज्ञान के धारक हो गये होंगे। पर यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि वे चार ज्ञान के धारक बाद में बने तो श्रावस्ती में चित्त सारथी को चातुर्याम का उपदेश किस प्रकार देते? उनके नाम के साथ 'पाश्वपितीय' विशेषण किस प्रकार लगता? इसलिए स्पष्ट है कि दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। किन्तु नामसाम्य होने से अनेक मनीषियों को भ्रम हो गया है और उन्होंने दोनों को एक भाना है।

विविध, उत्सव

केशीकुमार के बागमन के समाचारों में जन-जन के अन्तर्मनिस में एक अपूर्व उल्लास का संचार किया। वे नदी के प्रवाह की तरह धर्मदेशना ध्रुवण करने के लिए प्रस्तुत हुए। उनके तीव्र कोलाहल को सुनकर चित्त सारथी सोचने लगा—क्या आज इस नगर में कोई इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, भुकुन्द, शिव, वैथमण, नाग, यज्ञ, भूत, स्तूप, चैत्य, वृद्ध, गिरि, गुफा, कूप, नदी, सागर, और सरोवर का उत्सव मनाया जा रहा है? जिससे सभी लोग उत्साह के साथ जा रहे हैं। यहाँ पर जिन इन्द्र, स्कन्द आदि के उत्सवों का वर्णन है, उसका उल्लेख ज्ञाताधर्म कथा^{१०९} व्याख्याप्रज्ञपति^{१०१} भगवती^{१०२} निशीथ^{१०३} आदि अन्य आगमों में भी आया है। इन्द्र वैदिक साहित्य का बहुत ही लब्धप्रतिष्ठा देव रहा है। वह समस्त देवों में अप्रणी था। प्राचीन युग में 'इन्द्रमह' उत्सव सभी

१०१. 'दर्शन और चिन्तन' —भा० पाश्वनाथ का विरासत लेख, पृ. ५

१०२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग-२, पृष्ठ-५४-५५.

१०३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग-२, पृष्ठ-५४-५५. —डा० मोहनलाल मेहता

१०४. उत्तरराज्यणाणि—भाग-१, पृष्ठ-२०१

१०५. 'पासावचिच्छो केशीणाम् कुमारसमणे जाइसंपणे चउद्दसपुब्वी चउणाणोवगण् पंचहि अणगारसएहि संद्वि संपरिवुहे।' —रायपत्रेणद्वय, पृष्ठ-२८३. पं. बेचरदासजी संपादित

१०६. 'तस्य लोगपईवस्य आसि सीसे महायसे।

केशी कुमारसमणे विज्जाचरणपारये।।

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीसंघसमाउले।।

मामाणुगामं रीयन्ते, सावत्त्वं नगरिमायए॥

—उत्तराध्ययन-२३।२-३

१०७. ज्ञाताधर्मकथा द, पृष्ठ-१००।

१०८. व्याख्याप्रज्ञपति-३.१।

१०९. भगवती-३.१।

११०. निशीथसूत्र-८.१४।

उत्सवों में श्रेष्ठ उत्सव माना जाता था और सभी लोग बड़े उत्साह से इसे मनाते थे।^{१११} निशीथसूत्र में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष, और भूत नामक महामहों का वर्णन है। जो क्रमशः आषाढ़, आसौज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं को मनाया जाता था। इन्द्रमह आदि उत्सवों में लोग मनपसन्द खाते-पीते, माचते, गते हुए आमोद-प्रमोद में तल्लीन रहते थे।^{११२} इन उत्सवों में अत्यधिक गोपयुल होता था, जिससे श्रमणों को स्वाध्याय की मनाई की गई थी। जो खाद्य पदार्थ उत्सव के दिन तैयार किया जाता था, यदि वह अवशेष रह जाता तो प्रतिपदा के दिन उसका उपयोग करते। अपने सम्बन्धियों की भी उस अवसर पर बुलाते।^{११३} 'इन्द्रमह' के दिन घोबी से धूले हुए स्वच्छ वस्त्र लोग पहनते थे।^{११४}

दूसरा उत्सव 'स्कन्दमह' का था। आहूण पौराणिक अनुशुलिष्ठों से अनुसार स्कन्द अथवा कार्तिकेय महादेव के पुत्र और युद्ध के देवता माने गये हैं। तारक, राक्षस और देवताओं के मुद में 'स्कन्द' देवताओं के सेनापति के रूप में नियुक्त हुए थे। उसका वाहन 'मधूर' था। 'स्कन्दमह' उत्सव आसौज की पूर्णिमा को मनाया जाता था।^{११५}

'ब्रह्मह' तृतीय उत्सव था। वैदिक दृष्टिसे रुद्र स्यारह थे। वे इन्द्र के साथी शिव और उसके पुत्रों के अनुचर तथा यम के रक्षक थे। व्यवहारभाष्य के अनुसार रुद्र-आयतनों के नीचे ताजी हुड्डिया गाड़ी जाती थी।^{११६}

'मुकुन्दमह' चतुर्थ उत्सव था। महाभारत में मुकुन्द यानि बलदेव को लांगुली-हलधर कहा है।^{११७} हल उसका अस्त्र है। भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में गोशालक के साथ 'आवत्त' ग्राम में पधारे थे। वहाँ पर वे बलदेवगृह में विराजे^{११८}, जहाँ पर बलदेव को अचंता होती थी।

'शिवमह' पांचवां उत्सव था। हिन्दू साहित्य के अनुसार शिव भूतों के अधिष्ठिति, कामदेव के दहनकर्ता और स्कन्द के पिता थे। उन्होंने विष का पान किया तथा आकाश से गिरती हुई गंगा को धारण किया। उनके

- १११. (क) आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ-२१३
 (ख) इपिका माहथोलांजी, स्ट्रासबर्ग १९१५। —डा. हॉपकिन्स है., पृ. २२५
 (ग) भास ए स्टडी, लाहौर-१९४०-पुलासकर ए. डी., पृ. ४४०
 (घ) कथासर्लिंसागर, जिल्द-८, पृष्ठ-१४४-१५३
 (ङ) महाभारत-१.६४.३३
 (च) रंगस्वामी ऐयंगर कर्ममोरेश्वन बौल्युम, पृष्ठ-४८०
- ११२. (क) निशीथ-१९।६०।३५
 (ख) रामायण-४।१६।३६
 (ग) डा० हॉपकिन्स है० डब्ल्यू०, पृष्ठ-१२५
- ११३. निशीथचूर्णि-१९. ६०।६८
- ११४. आवश्यकचूर्णि-२, पृष्ठ-१८।
- ११५. आवश्यकचूर्णि पृष्ठ-३१५
- ११६. व्यवहारभाष्य-७।३।१३, पृष्ठ-५५. अ.।
- ११७. महाभारत—देखिए, वैष्णविज्ञ, शैविज्ञ एण्ड माइनर रिलिजियस सिस्टम, पृष्ठ-१०२. आदि।
- ११८. (क) आवश्यकनियुक्ति-४८।
 (ख) आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ-२९४

सम्मान में वैशाख मास में उत्सव मनाया जाता है। भगवान् महावीर के समय शिव की अर्चा प्रचलित थी। द्वोदसिवा अचितशिव माना जाता था, उसकी भी उपासना शिव के रूप में ही होती थी। ११६

'वैश्वमणमह' छठा उत्सव था। वैश्वमण उत्तर दिशा का लोकपाल और समस्त निवियों का अधिपति था। जीवाजीवाभिगम में वैश्वमण को यक्षों का अधिपति और उत्तर दिशा का लोकपाल कहा है। १३० हौपकिन्स ने वैश्वमण को राखस और गुह्यकों का अधिपति कहा है। १३१

'नागमह' सातवां उत्सव था। वैदिक पुराणों के अनुसार सर्पदेवता सामान्य रूप से पृथ्वी के अधःस्थल में निवास करते हैं, जहाँ पर शेषनाग अपने सहस्र फन से पृथ्वी के अपार भार को सम्हाले हुए हैं। १२२ जैन दुष्टि से सर्गर चक्रवर्ती के जणहुकुमार आदि साठ हजार पुत्र थे। उन्होंने दण्डरत्न से अष्टापद एवं त के चारों ओर एक खाई खोदी और गंगा के नीर से उस खाई को भरने लगे। पर खाई का पानी नागभवनों में जाने से नागराज कुद्ध हुआ। उसने नयन-विष महासर्प प्रेपित किये, जिन्हें देखते ही सगरपुत्र भस्म हो गये। महाभारत में नाम तक्षक का उल्लेख है, जिसने अपने भयंकर विष से बट्टबृक्ष को और राजा परीक्षित के भव्य भवन को जलाकर नष्ट कर दिया था। कालियानाग ने यमुना नदी के नीर को विषयुक्त कर दिया था। १२३ साकेत में एक महान् नागमृह था। १२४ जाताधर्मकथा के अनुसार रानी पश्यायती ने नागदेव की अर्चा की थी। १२५ नागकुमार धरणेन्द्र ने भगवान् गार्व की जल से छत्र बनाकर रक्षा की थी। १२६ 'मुचिलिद' नाम के सर्पराज ने तथागत बुद्ध की हवा और पानी से रक्षा की थी। १२७ इस तरह नाग की चर्चा अनेक स्थलों पर है और उसके भय से लोग उसकी उपासना करते थे। आज भी भारत में लोग 'नागपञ्चमी' का पर्व मनाते हैं, जो एक प्रकार से नागमह का ही रूप है।

'मक्षमह' आठवां उत्सव था। नगरों और गाँवों के बाहर यक्षायतन होते थे। लोगों की यह धारणा थी कि यक्ष की पूजा करने से कोई भी संक्रामक रोग हमारे कपर आक्रमण नहीं कर सकेगा। यक्ष इन रोगों से हमारी रक्षा करेगा। १२८ अधिधान-राजेन्द्रकोष में पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि तेरह यक्षों का उल्लेख हुआ है। १२९ जो ब्रह्मचारी हैं, उनको यक्ष, देव, दानव और गन्धर्व नमन करते हैं। १३०

११९. (क) बृहत्कल्पभाष्य-५, ४९२८.

(ख) आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ-३१२.

१२०. जीवाजीवाभिगम, ३ पृष्ठ-२८१

१२१. डा. हौपकिन्स ई. डब्ल्यू.—इण्डिक माइथॉलोजी, स्ट्रासबर्ग १९१५

१२२. इण्डिक माइथॉलोजी, स्ट्रासबर्ग १९१५ —डा. हौपकिन्स ई. डब्ल्यू.

१२३. इण्डिक सर्पेण्ट लोर, लंदन-१९२६, फोगल जे.

१२४. (क) अर्थशास्त्र-५.२, १०.४९, पृष्ठ-१७६

(ख) इण्डिक सर्पेण्ट लोर, लंदन-१९२६, फोगल जे.

१२५. जाताधर्मकथा-८, पृष्ठ-१५

१२६. आचारांगनियुक्ति-३३५, टीका, पृष्ठ-३८५.

१२७. इण्डिक सर्पेण्ट लोर, लंदन, पृष्ठ-४१,—फोगल जे.

१२८. डिस्ट्रिक्ट गजेटिव आब मुंगेर, पृष्ठ-५५

१२९. अधिधानराजेन्द्र कोष—'जनक शब्द'

१३०. 'देव-दाणव-गांधवा, अवध-रवधस-किन्नरा।

बंधारि नमस्ति, दुक्कर जे करेति त'॥ —उत्तराध्ययन-अध्ययन-१६, गा. १६

महाभारत^{१३१} में और संयुक्तनिकाय^{१३२} में भणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। मत्स्यपुराण में पूर्णभद्र के पुत्र का नाम हर्तिकेश यक्ष बताया है।^{१३३} औपपातिक में चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख है।^{१३४} आवश्यकनियुक्ति के अनुसार भगवान् महावीर जब ऋष्यस्थ अवस्था में घ्यानमुद्रा में खड़े थे तब 'विभेलक' यक्ष ने उपद्रव से उनकी रक्षा की थी।^{१३५} ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार शैलक यक्ष चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन लोगों की सहायता के लिए तत्पर रहता था। उसने चम्पानगरी के जिनपाल और जिनरक्षित की रत्नादेवी से रक्षा की थी।^{१३६} सन्तानोत्पत्ति के लिए हरिणगमेषी देव की उपासना की जाती थी।^{१३७} वैदिक ग्रन्थों में 'हरिणगमेषी' हरिण के सिर वाला और इन्द्र का सेनापति था। महाभारत में उसको अजामुख बताया है।^{१३८} जैन साहित्य की दृष्टि से 'हरिणगमेषी' सौधर्म देवलोक का देव था, न कि यक्ष। आगम के व्याख्यासाहित्य में अनेक स्थलों पर यक्ष के उपद्रवों का उल्लेख है। यक्षों से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए यह उत्सव होता था।^{१३९}

'भूतमह' नवम उत्सव था। हिन्दू पुराणों में भूतों को भयंकर प्रकृति के धनी और मांस-भक्षी कहा है। भूतों को बलि देकर प्रसन्न किया जाता था। 'भूतमह' चैत्री पूर्णिमा को मनाया जाता था। महाभारत में तीन प्रकार के भूतों का उल्लेख है—उदासी, प्रतिकूल और दयालु।^{१४०} रात्रि में परिश्वमण करने वाले भूत 'प्रतिकूल' माने गये हैं।^{१४१} भूतगृह से पीड़ित मानवों की चिकित्सा भूतविद्या के द्वारा की जाती थी। कहा जाता है—'कृतियावण' में सभी वस्तुएँ मिलती थीं। वहाँ पर भूत भी मिलते थे। राजा प्रद्योत के समय उज्जयिनी में इस प्रकार की दुकानें थीं, जहाँ पर मनोवाञ्छित वस्तुएँ मिलती थीं। भूगुक्ल्य का एक व्यापारी उज्जयिनी में भूत को खरीदने के लिए आया था। दुकानदार ने उसे बताया—आपको भूत तो मिल जायेगा पर आपने यदि उस भूत को कोई काम न बताया तो वह आपको समाप्त कर देगा। व्यापारी भूत को लेकर वहाँ से प्रस्थित हुआ। वह उसे जो भी कार्य बताता चुटकियों में सम्पन्न कर देता था। अन्त में भूत से तंग आकर उस व्यापारी ने एक खम्भा

१३१. (क) 'द ज्योग्रफिकल कन्टेन्ट्स ऑव महाभारत' लेखक—डा. सिल्वन लेवी
 (ख) महाभारत—२।१०।१०
१३२. संयुक्तनिकाय—१.१०, पृष्ठ-२०९
१३३. मत्स्यपुराण, अध्याय-१६०
१३४. औपपातिक, चम्पावर्णन, पूर्णभद्र चैत्य—पृष्ठ ४ युकाचार्य मधुकर मुनि
१३५. आवश्यकनियुक्ति-४ दृष्टि
१३६. (क) ज्ञातुर्धर्मकथा ९, पृष्ठ १२७
 (ख) तुलना कीजिए—चलाहस्स जातक (१९६), २, पृष्ठ २२२
१३७. अन्तगड़दशा-२, पृष्ठ-१५
१३८. द. यक्षाज, आशिंगटन, १९२८, १९३९, ले. कुमारस्वामी ए. के.
१३९. (क) जम्बूद्वीपप्रश्निति २४, पृष्ठ-१२०
 (ख) बृहत्कल्पसूक्त-६-१२ तथा भाष्य।
१४०. (क) देखिए—इपिक माइथॉलोजी, स्ट्रासबर्ग १९१५—डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.
 (ख) कथासरित्सागर, सोमदेव, सम्पादक—पेंजर, भाग. १, परि. १, १४२४-२८ प्रका. लन्दन
१४१. इपिक माइथॉलोजी, स्ट्रासबर्ग १९१५, पृष्ठ-३६—डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.

गाढ़ दिया और भूत से कहा—मैं जब तक तुम्हें नया काम नहीं बताऊँ जब तक तुम इस अम्भे पर चढ़ते-उतरते रहो। १४३

सारांश यह है कि इन उत्सवों की बहुत अधिक धूमधाम होती थी, जिससे कोई भी धूमधाम को देख कर प्रायः यही समझा जाता था कि आज कोई इसी तरह का उत्सव होगा। चित्त सारथी के अन्तर्मानिस में भी यही जिज्ञासा हुई थी—जनमेदिनी को जाते हुए देखकर। वस्तुतः ये उत्सव किसी धर्म और सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित न होकर लोकजीवन से सम्बन्धित थे। इन उत्सवों के पीछे लौकिक कामनायें थीं। जनमानस में समाया भय भी इन उत्सवों को मनाने के लिए बाध्य करता था।

श्वेताम्बिका में केशी श्रमण

चित्त सारथी को जब यह परिज्ञात हुआ कि केशी कुमारश्रमण पधारे हैं तो वह दर्शन और प्रवचन-श्रवण करने के लिए पहुँचा। प्रवचन को श्रवण कर वह इतना भावविभ्रंत हो गया कि उसने श्रमणोपासक के द्वादश व्रत ग्रहण कर अपनी अनन्त अद्वा उनके चरणों में समर्पित की। जब चित्त सारथी श्वेताम्बिका लौटने लगा तो उसने केशी कुमारश्रमण से अभ्यर्थना की—आप श्वेताम्बिका अवश्य पधारें। पुनः-पुनः निवेदन करने पर केशीश्रमण ने कहा कि वहाँ का राजा प्रदेशी अधार्मिक है, इसलिए मैं वहाँ कैसे आ सकता हूँ?

चित्त ने निवेदन किया—भगवन्! प्रदेशी के अतिरिक्त वहाँ पर अनेक भावुक आत्माएँ रहती हैं, जो अपने बीच आपको पाकर धन्यता अनुभव करेंगी। सम्भव है, आपके पावन प्रवचनों से प्रदेशी के जीवन का भी काया-कल्प हो जाये। केशी कुमारश्रमण को लगा कि चित्त सारथी के तकँ में वजन है। वहाँ जाने से धर्म की प्रभावना हो सकती है। चित्त सारथी ने केशीकुमार की मुद्रा से समझ लिया कि मेरी प्रार्थना अवश्य ही मूल्य रूप लेगी। उसने श्वेताम्बिका पहुँच कर सर्वप्रथम उद्यानपाल को सूचित किया कि केशीश्रमण अपने ५०० ग्रन्थों के पात्र वहाँ पर पदार्थी, धर्म-विद्यार्थी के लिए योग्य व्यवस्था का ध्यान रखना।

कुछ दिनों के पश्चात् केशीश्रमण श्वेताम्बिका नगरी में पधारे। उद्यानपालक ने उनके ठहरने की समुचित व्यवस्था की और चित्त सारथी को उनके आगमन की सूचना दी। चित्त सारथी समाचार पाकर प्रसन्नता से भूम उठा। वह दर्शन के लिए पहुँचा। उसने निवेदन किया—मैं किसी वहाने से राजा प्रदेशी को वहाँ लाऊंगा। आप इटकर उसका पथ-प्रदर्शन करना।

दूसरे दिन चित्त सारथी अभिनव शिक्षित धीड़ों की परीक्षा के बहाने राजा प्रदेशी को उद्यान में ले गया, जहाँ केशी कुमारश्रमण विराज रहे थे। चित्त सारथी ने राजा को बताया ये चार ज्ञान के भारक कुमारश्रमण केशी हैं। हम यह पूर्व में ही बता चुके हैं कि राजा प्रदेशी अकियादादी था। उसे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर विश्वास नहीं था। वह आत्मा और शरीर को एक ही मानता था।

आत्मा : एक अनुचित्तन

भारतीय दर्शन का विकास और विस्तार आत्मतत्त्व को केन्द्र मानकर ही हुआ है। आत्मवादी दर्शन हीं या अनात्मवादी, सभी में आत्मा के विषय में चिन्तन किया है। किन्तु उस चिन्तन में एकरूपता नहीं है। आत्मा विषेष के समस्त पदार्थों से विलक्षण है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अनुभव तो करता है, किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं कर

१४२. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति—३, ४२१४-२२.

पाता। यही कारण है कि किसी ने आत्मा को शरीर माना, किसी ने बुद्धि कहा, किसी ने इन्द्रिय और मन को ही आत्मा समझा तो कितनों ने इन सबसे पृथक् आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया। आत्मा के अस्तित्व की संसिद्धि स्वसंवेदन से होती है। इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे अपने आपको सुखी-दुःखी, धनवान्-निधन अनुभव करते हैं। यह अनुभूति चेतन आत्मा को ही होती है, जड़ को नहीं। आत्मा अमृत है। किन्तु अनात्मवादियों की धारणा है कि ब्रह्म-पट आदि पदार्थ जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उसी तरह आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता और जो प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है, उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान का हेतु प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए, जैसे अग्नि का अविनाशात्मी हेतु धूम प्रत्यक्षगम्य है। हम भोजनशाला में उसे प्रत्यक्ष देखते हैं, इसलिए दूसरे स्थान पर भी धूएं को देखकर स्मरण के बल पर परोक्ष अग्नि को अनुमान से जान लेते हैं। किन्तु आत्मा का इस प्रकार का कोई अविनाशात्मी पदार्थ पहले नहीं देखा। इसीलिए आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने के कारण चारों दर्शन ने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना। भूतसमुदाय से विज्ञानघन उत्पन्न होता है और भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक या पुनर्जन्म नहीं है।

किसी-किसी का यह मन्त्रव्यथा कि शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। यदि शरीर से भिन्न आत्मा हो तो मूल्य के पश्चात् स्वजन और परिजनों के स्मैह से पुनः लौटकर क्यों नहीं आता? इसलिए इन्द्रियातीत कोई आत्मा नहीं है, शरीर ही आत्मा है।

इसके उत्तर में आत्मवादियों का कथन है कि आत्मा है या नहीं, यह संशय जड़ को नहीं होता। यह चेतन तत्त्व को ही हो सकता है। यह मेरा शरीर है, इसमें जो 'मेरा' शब्द है वह सिद्ध करता है कि 'मैं' शरीर से पृथक् है। जो शरीर से पृथक् है, वह आत्मा है।

जड़ पदार्थ में किसीका विधान या निषेध करने का सामग्र्य नहीं होता। यदि जड़ शरीर से भिन्न चेतनामय आत्मा का अस्तित्व न हो तो आत्मा का निषेध कौन करता है? स्पष्ट है कि आत्मा का निषेध करने वाला स्वयं आत्मा ही है।

आचार्य देवसेन ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुन्न, वीर्य, चेतनात्व, अमूर्त्तत्व ये यह गुण बताये हैं।^{१४३} आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव को उपयोगमय, अमूर्त्तिक, कर्त्ता स्वदेहात्मिका, भौत्ता, ऊर्ध्वर्गमनशील कहा है।^{१४४} जहाँ पर उपयोग है, वहाँ पर जीवत्व है। उपयोग के अभाव में जीवत्व रह नहीं सकता। उपयोग या ज्ञान जीव का ऐसा लक्षण है जो सांसारिक और मुक्त सभी में पाया जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् में एक सुन्दर प्रसंग है^{१४५}—असुरों में से 'विरोचन' और देवों में से 'हन्त्र' ये दोनों आत्मा-स्वरूप को जानने के लिए प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने एक शान्त सरोबर में उन्हें देखने को कहा और पूछा—क्या देख रहे हो? विरोचन और हन्त्र ने कहा—हम अपना प्रतिविम्ब देख रहे हैं। प्रजापति ने बताया—वही आत्मा है। विरोचन को समाधान हो गया और वह अब दिथा। पर इन्द्र चिन्तन के महासागर में गहराई से डूबकी लगाने लगे। इन्द्रिय और शरीर का संचालक मन है, अतः उन्होंने पहले मन को आत्मा माना, उसके बाद सोचा—मन भी जब तक प्राण है तभी तक रहता है। प्राण परेरु उड़ने पर मन का

^{१४३.} आलापपद्मनि, प्रथम गुरुच्छक, पृष्ठ-१६५-६६

^{१४४.} द्रष्टव्यमंग्रह-१।२

^{१४५.} छान्दोग्योपनिषद्-८-८

चिन्तन बहुत हो जाता है, अतः मन नहीं, प्राण आत्मा है। चिन्तन आगे बढ़ा और उन्हें मह भी मालूम हुआ कि प्राण नाशावान् है, परन्तु आत्मा तो शाश्वत है। शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राण ये मीतिक हैं, किन्तु आत्मा अमीतिक है।

चार्याकिरण को छोड़कर भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। न्याय और वैज्ञानिक दर्शन का मन्तव्य है—आत्मा अविनश्वर और नित्य है। हच्छा, हेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान उसके विशेष गुण हैं। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा के धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। मीमांसा दर्शन का भी यही अभिमत है। वह आत्मा को नित्य और विभू मानता है। चैतन्य की आत्म का निजगुण नहीं किन्तु आगन्तुक गुण मानता है। स्वप्नरहित गाढ़ निद्रा में तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुणों से रहित होता है। सांख्य दर्शन ने पुरुष को नित्य, विभू तथा चैतन्य स्वरूप माना है। सांख्य वृष्टि से चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है, वह निजगुण है। पुरुष अकर्ता है। वह स्वयं सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है। बुद्धि कर्ता है और वही सुख-दुःख का अनुभव करती है। बुद्धि का उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति प्रतिपल-प्रतिक्षण क्रियाशील है। इसके विपरीत पुरुष विषुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विषुद्ध सत्, चित् और आनन्द स्वरूप मानता है। सांख्य दर्शन ने अनेक पुरुषों (आत्माओं) को माना है, पर ईश्वर को नहीं माना। जबकि वेदान्त दर्शन केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। बौद्ध दर्शन की दृष्टि से आत्मा ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों की प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाली सत्तति है। इसके विपरीत जैन दर्शन का वज्र आधीर है—आत्मा नित्य, अजर और अमर है। ज्ञान आत्मा का मुख्य गुण है। आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान, अनन्त वर्णन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है।

राजा प्रदेशी जीव और शरीर को एक मानता था। उसकी मान्यता के पीछे अपना अनुभव था। उसने अनेकों बार परीक्षण कर देखा—तस्करी और अपराधियों को सन्दूक में बन्द कर या उनके शरीर के टूकड़े-टूकड़े कर जीव को देखने का प्रयत्न किया कि कहीं आत्मा का दर्शन हो, पर आत्मा अरूपी होने के कारण उसे दिखाई कैसे दे सकता था? जब आत्मा दिखाई नहीं दिया तो उसे अपना मत सही जात हुआ कि जीव और शरीर अभिन्न हैं। किन्तु उसके सभी तर्कों का केशी कुमारशमण ने इस प्रकार रूपकों के माध्यम से निरसन किया कि राजा प्रदेशी को आत्मा और शरीर पृथक-पृथक् स्वीकार करने पड़े।

स्वर्ग और नरक से जीव क्यों नहीं आकर कहते हैं कि हमने प्रबल पुण्य की आराधना की जिसके फल-स्वरूप मैं देव बना हूँ, मैंने पापकृत्य किया जिसके कारण मैं नरक में दरहण वेदनाओं को भोग रहा हूँ, इसलिए मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम पाप से बचो और पुण्य उपार्जन की और लगो। यदि स्वर्ग और नरक होता तो मेरे पिता, प्रपितामह वहाँ गये होंगे, वे अवश्य ही आकर मुझे चेतावनी देते। प्रख्युत्तर में केशी शमण ने कहा—एक कामुक व्यक्ति हो, जिसने तुम्हारी पत्नी के साथ दुराचार किया हो, और तुमने उसे प्राणदण्ड की सजा दी हो, वह अपने पारिवारिक जनों को सूचना देने के लिए जाना चाहे तो क्या तुम उसे मुक्त करोगे? नहीं, वैसे ही नरक से जीव मुक्त नहीं हो पाते, जो आकर तुम्हें सूचना दें और स्वर्ग के जीव इसलिए नहीं आते कि यहाँ पर गमदगी है। कल्पना करो अपने शरीर को स्वच्छ बनाकर और सुगन्धित द्रव्यों को लेकर तुम देवालय की ओर जा रहे हो, उस समय शौचालय में बैठा हुआ कोई व्यक्ति तुम्हें वहाँ बुलाए तो क्या तुम उस गन्दे स्थान में जाना पसन्द करोगे? नहीं। वैसे ही देव भी यहाँ आना पसन्द नहीं करते हैं।

राजा प्रदेशी और केशी का यह संवाद अद्यतन महत्वपूर्ण है। केशी शमण की युक्तियाँ इतनी गजब की हैं कि आज भी पाठकों के लिए ब्रेरणादायी ही नहीं अपितु आत्म-स्वरूप को समझने के लिए सर्वलाइट की तरह

उपर्योगी है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो यही संवाद राजप्रश्नीय की आत्मा है। जिस तरह से राजप्रश्नीय में प्रश्नोत्तर है, उसी तरह दीघ-निकाय के 'पायासिसुन्त' में राजा 'पायासि' के प्रश्नोत्तर हैं। जो इन प्रश्नों से मिलते-जुलते हैं। यह भी सम्भव है कि जनमानस से आत्मा और जरीर की अभिन्नता को लेकर जो चित्तत चल रहा था, उसका प्रतिनिधित्व राजा प्रदेशी ने किया हो और जैन दृष्टि से उसका समाधान केणी अमण ने किया हो।

राजा प्रदेशी का जीवन अत्यन्त उम्र रहा है। उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे पर केवी अमण के सान्निध्य ने उसके जीवन में बामूल-चूल परिवर्तन कर दिया। महारानी के द्वारा जहर देने पर भी उसके मन में किञ्चित् मात्र भी रोष पैदा नहीं हुआ। जिस जीवन में गहले क्रोध की ज्वाला ध्रुपक रही थी, वही जीवन कमा-किञ्चित् मात्र भी रोष पैदा नहीं हुआ। इसलिए सत्संग की महिमा और गरिमा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।

व्याख्या-साहित्य

राजप्रश्नीय कथाप्रधान आगम होने से इस पर न नियुक्ति लिखी गई, न भाष्य की रचना हुई और न चूणि का निर्माण ही हुआ। इस पर सर्वप्रथम आचार्य मलयगिरी ने संस्कृत भाषा में टीकानिर्माण किया। संस्कृत चूणि का निर्माण ही हुआ। इस पर सर्वप्रथम आचार्य मलयगिरी ने स्थान विशिष्ट है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वाचस्पति मिथ्र ने षट्कर्णी टीकाकारों में आचार्य मलयगिरी का स्थान विशिष्ट है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वाचस्पति मिथ्र ने पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक भव्य आदर्श उपस्थित किया, वैसे ही जैन साहित्य पर आचार्य मलयगिरी ने पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक भव्य आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रांग भाषा और प्रवाहपूर्ण शैली में भावपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रांग परिषद ले। उन्हें अन्तर्में के गम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली से व्यक्त करने की अद्भुत कला और क्षमता द्वारा परिषिद्ध है। उन्हें अन्तर्में के गम्भीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली से व्यक्त करने की अद्भुत कला और क्षमता द्वारा परिषिद्ध है। आगमप्रभावक मुनि पुष्टविजयजी महाराज के शब्दों में कहा जाय तो 'व्याख्याकारों में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।'

मलयगिरि अपनी वृत्तियों में सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या कर उसके अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हैं और उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं, जिससे उसका अभीष्टार्थ पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। विषय से सम्बन्धित अन्य प्रासंगिक विषयों पर विचार करना तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करना आचार्यश्री की अपनी विशेषता है।

टीकाकार ने सर्वप्रथम अमण भगवान् भगवीर को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् राजप्रश्नीय पर विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की।^{१४६} साथ ही इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि प्रस्तुत आगम का नाम राजप्रश्नीय क्यों रखा गया है। इस सम्बन्ध में लिखा है— यह आगम राजा के प्रश्नों से सम्बन्धित है, इसीलिए इसका नाम 'राजप्रश्नीय' है। टीकाकार ने यह भी बताया है कि यह आगम सूत्रकृतग का उपांग है। टीका में, इसका नाम 'राजप्रश्नीय' है। टीकाकार का गम्भीर पाण्डित्य उजामर आगम में आये हुए विशिष्ट शब्दों की मीमांसा भी की है। मीमांसा में टीकाकार का गम्भीर पाण्डित्य उजामर हुआ है। टीका का ग्रन्थ-प्रमाण तीन हजार सात सौ श्लोक प्रमाण है। टीका में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम हुआ है। टीका का उद्दरण दिये हैं। कहीं-कहीं पर पाठमेद का भी निर्देश किया है। देशीनाममाला के उद्धरण भी दिये गये हैं।^{१४७}

१४६. प्रणमत वीरजिनेश्वरचरणयुगं परमपादवच्छामाम् ।

अद्वीकुतनतवासवभुकुटस्थितरत्नस्त्रिचकम् ॥ १ ॥

राजप्रश्नीयमहं विवृणोमि यथाऽज्ञामं गुरुनियोगात् ।

तत्र च शक्तिभूत्तिं गुरुदो जानन्ति का चिन्ता ॥ २ ॥

१४७. पहकरा: संधाता:—पहकर-ओरोह-संधाया इति देशीनाममालावचनात् । —राजप्रश्नीयवृत्ति, पृष्ठ ३

प्रस्तुत आगम और उसकी टीका में जड़वाद और आहमदाव का मुन्दर विश्लेषण हुआ है। स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला के अनेक तथ्यों का इसमें समावेश है। लेखन सम्बन्धी सामग्री का भी इसमें निर्देश है। साम, दास, दण्ड, नीति के अनेक सिद्धान्त इसमें समाविष्ट हैं। बहसर कलायें, चार परिषद्, कलाचार्य, शिल्पचार्य का भी इसमें निरूपण हुआ है। भगवान् पाश्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित अनेक तथ्य इसमें आये हैं। राजा प्रदेशी और केशी श्रमण का जो संवाद है, साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह संवाद कथा के विकास के लिए एक आदर्श लिए हुए है। इस संवाद में जो रूपक दिये गये हैं, वे आगम के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए परम उपयोगी हैं। इनका उपयोग बाद में अन्य साहित्यकारों ने भी किया है। जैसे—आचार्य हरिभद्र ने समरा-इच्छकहा में 'पिंगल' और 'विजयमिह' के संवाद में बन्द कर्मरे में से श्री स्वरलहरियाँ बाहर आती हैं, इस रूपक को प्रस्तुत किया है।

राजप्रश्नीयसूत्र का सर्वप्रथम सन् १८८० में बाबू धनपतसिंहजी ने मलयगिरी वत्ति के साथ प्रकाशन किया। उसके बाद सन् १९२५ में आगमोदय समिति बम्बई और वि० सं० १९२४ में गुजर ग्रन्थरत्न कार्यालय अहमदाबाद से सटीक प्रकाशित हुआ। वि० सं० २४४५ में पूज्य अमोलकक्षणिजी म० के द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण निकला। सन् १९६५ में पूज्य श्री वासीलालजी म० ने स्वनिमित संस्कृत व्याख्या व हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ जैन ग्रन्थोद्धार समिति—राजकोट से प्रकाशित किया। सन् १९३५ में पं० ब्रेचरदास जीवराज दोशी ने इसका गुजराती अनुवाद लाधाजी रवामी पुस्तकालय—लीमढी से और वि० सं० १९९४ में गुजर ग्रन्थरत्न कार्यालय—अहमदाबाद से प्रकाशित करवाया। इस प्रकार आज दिन तक राजप्रश्नीय के विविध संस्करण अनेक स्थलों से प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तुत-सम्पादन

राजप्रश्नीय का यह अभिनव संस्करण आगम प्रकाशन समिति व्याकर [राज०] द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस के संयोजक और प्रधान सम्पादन हैं—युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म०। वे श्रमणसंघ के भावी आचार्य हैं। आगमों को अधुनातन भाषा में प्रकाशित करने का उनका दुःख संकल्प प्रशंसनीय है। उन्होंने आगमों का कार्य हाथ में लिया पर इतने स्वल्प समय में प्रश्नव्याकरण को छोड़कर शेष इष्ट अंग प्रायः प्रकाशित हो गये हैं। भगवती का भी प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। अन्य भाग भी प्रकाशन के पथ पर दूत गति से कदम बढ़ा रहे हैं। औपपातिक और नन्दीसूत्र के बाद राजप्रश्नीय का प्रकाशन हो रहा है। अन्य आगम भी प्रेस के चक्के पर चढ़ चुके हैं। आगम प्रकाशन का यह कार्य राकेट की गति से हो रहा है। यदि यही गति रही तो एक-देव बर्ष में बहीस आगमों का प्रकाशन समिति के द्वारा पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जायेगा। वस्तुतः यह भगीरथ कार्य युवाचार्य श्री वी कीर्ति को अमर बनाने वाला है।

राजप्रश्नीय के इस संस्करण की अपनी मौलिक विशेषता है—शुद्ध मूलपाठ, भावार्थ और संक्षिप्त विवेचन। विषय गम्भीर होने पर भी प्रस्तुतीकरण सरल है। पूर्व के अन्य संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण अधिक आकर्षक है। इसके सम्पादक हैं—बाणीभूषण पं० श्री रत्नमुनिजी म०, जिन्होंने निष्ठा के साथ इसका सम्पादन किया है। साथ ही पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का अथक श्रम भी इसमें जुड़ा हुआ है। बृद्धावस्था होने पर भी वे जो श्रम कर रहे हैं, वह अम नींव की ईट के रूप में आगममाला के साथ जुड़ा हुआ है। यदि वे तन, मन के साथ श्रुत्सेवा के इस महायज्ञ में जुड़े नहीं होते तो यह कार्य इस रूप में सम्पन्न शायद ही हो पाता।

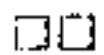
राजप्रश्नीय पर मैं बहुत विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था। आहमदाव के गम्भीर विषय को विभिन्न दर्शनों के आलोक में प्रस्तुत करना चाहता था पर मेरा स्वास्थ्य लम्बे समय से अस्वस्थ-सा रहा, जिसके

कारण चाहने हुए भी लिख नहीं पाया। तथापि संक्षेप में मैंने आगमगत विषयों पर चिन्तन किया है। तुलनात्मक और समन्वयात्मक चिन्तन करने की दृष्टि मुझे अपने अद्वेव सद्गुरुवर्य, राजस्थानवेसरी अच्यात्मयोगी, उपाध्याय थी पुष्करमुनि जी म॰ से प्राप्त हुई, जो मुवाचार्य श्री के स्नेही साथी हैं। उनकी अपार कृपा से ही मैं प्रस्तावना लिखने में सक्षम हो सका हूँ।

वर्तमान युग में मानव भौतिकता की ओर अपने कदम बढ़ा रहा है, जिससे उसे शान्ति के स्थान पर अशान्ति प्राप्त हो रही है। ऐसी विषम स्थिति में यह आगम अध्यात्मवाद की पवित्र प्रेरणा देगा, उसे शान्ति की सच्ची राह बतायेगा। उसकी तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त कर जोवन में धर्म की मुख्ली स्वर-लहरियाँ झंकत करेगा, इसी आशा के साथ विरमामि।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

धन तेरस
दिल्ली नवम्बर, '५२
जैन स्थानक,
मिहरपोल—जोधपुर (राज.)



विषयानुक्रमणिका

शीर्षक

पृष्ठ

आरम्भ	३
चैत्य-बर्णन	४
राजा सेय	८
रानी धारिणी	९
भगवान् का पदार्पण और राजा का दर्शनार्थ गमन	१०
सूर्यभिदेव द्वारा जम्बूदीपदर्शन	११
सूर्यभिदेव द्वारा भगवान् की स्तुति	१३
सूर्यभिदेव की आभियोगिक देवों को आज्ञा	१४
आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन	१७
संवतंक वायु की विकुर्वणा	१९
अञ्ज-बादलों की विकुर्वणा	२०
पुष्प-मेघों की रचना	२०
आभियोगिक देवों का प्रत्यावर्तन	२१
सूर्यभिदेव की उद्घोषणा एवं आदेश	२२
सूर्यभिदेव की उद्घोषणा की प्रतिक्रिया	२४
सूर्यभिदेव द्वारा विमानभिर्मिति का आदेश	२४
आभियोगिक देवों द्वारा विमान-रचना	२६
भणियों का वर्ण	२८
भणियों का मंध-बर्णन	३०
भणियों का स्पर्श	३१
प्रेक्षागृह-निर्माण	३२
रंगमंच आदि की रचना	३३
सिहासन की रचना	३३
सिहासन की चतुर्दिवली भद्रासन-रचना	३५
भमय मान-विमान का सौन्दर्य-बर्णन	३५
आभियोगिक देव द्वारा आज्ञा-पूर्ति की सूचना	३६
सूर्यभिदेव का आभलकल्पा नगरी की ओर प्रस्थान	३८
सूर्यभिदेव का समवसरण में आगमन	४०
सूर्यभिदेव की जिज्ञासा का समाधान	४४
सूर्यभिदेव द्वारा मनोभावना का निवेदन	४५
बायों और आच्छावादकों की रचना	४६
सूर्यभिदेव द्वारा नृत्य-गान-बादन का आदेश	४९
नृत्य-गान आदि का रूपक	५१

नाट्याभिनयों का प्रदर्शन	५२
भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंगों का अभिनय	५७
नाट्याभिनय का उपसंहार	५८
गीतमस्तामी की जिज्ञासा : भगवान् का समाधान	६०
सूर्याभिदेव के विमान का अवस्थान और वर्णन	६१
सूर्याभिविमान के द्वारों का वर्णन	६३
द्वारस्थित पुतलियाँ	६५
द्वारों के उभय पाश्वर्वतीं तोरण	६६
द्वारस्थ इवजाओं का वर्णन	६७
द्वारवर्ती भौमों (विशिष्ट स्थानों) का वर्णन	६८
विमान के बनखण्डों का वर्णन	६९
मणियों और तृणों की इवनियाँ	७०
बनखण्डवर्ती वापिकाओं आदि का वर्णन	७१
उत्पात यर्वतों आदि की शोभा	७२
बनखण्डवर्ती मृहों का वर्णन	७३
बनखण्डवर्ती मण्डपों का वर्णन	७४
बनखण्डनवर्ती प्रासादावतंसक	७५
उपकारिकालयन का वर्णन	७६
पश्चवर्वेदिका का वर्णन	७७
मुञ्च प्रासादावतंसक का वर्णन	७८
सुधर्मा सभा का वर्णन	७९
स्तूप-वर्णन	८०
चैत्यवृक्ष	८१
माहेन्द्र-इवजों	८२
सुधर्मसभावर्ती मनोगुलिकायें, गोभानसिकायें	८३
माणवक चैत्य स्तम्भ	८४
देवशाय्या	८५
आयुधगृह-शस्त्रागार	८६
सिद्धायतन	८७
उपपात आदि सभाएं	८८
पुस्तकरत्न एवं नन्दापुष्करिणी	८९
उपपातानल्तर सूर्याभिदेव का चिन्तन	९०
सामानिक देवों द्वारा कृत्य-संकेत	९१
सूर्याभिदेव का अभिषेक-महोत्सव	९२
अभिषेककालीन देवोत्त्लास	९३
अभिषेकानंतर सूर्याभिदेव का अलंकरण	९४

सूर्यभिदेव द्वारा कार्यनिष्ठत्य	११६
सिंहासन स्थ प्रमाणित	११७
अरिहंत-सिद्ध भगवत्तों की स्तुति	११८
सूर्यभिदेव द्वारा सिद्धायतन के देवचन्द्रक आदि की प्रमाज्ञना	११९
आभियोगिक देवतों द्वारा आजापालन	१२५
सूर्यभिदेव का सभा-वैभव	१२६
सूर्यभिदेव विषयक गीतम की जिज्ञासा	१२७
केक्य अर्ध जनपद और प्रदेशी राजा	१२८
रानी सूर्यकान्ता और युवराज सूर्यकान्त	१३१
चित्त सारथी	१३१
कुणाला जनपद, श्रावस्ती नगरी, जितशब्द राजा	१३२
चित्तसारथी का श्रावस्ती की ओर प्रवाण	१३३
श्रावस्ती नगरी में केशी कुमारश्चमण का पदार्पण	१३६
दर्शनार्थ परिषदा का गमन और चित्त की जिज्ञासा	१३८
चित्त सारथी का दर्शनार्थ गमन	१४०
केशी श्रमण की देशना	१४१
चित्त की केशी कुमारश्चमण से सेयविया पश्चारने की प्रार्थना	१४५
केशीकुमार श्रमण का उत्तर	१४७
चित्त की उद्यानपालकों को आज्ञा	१४९
केशी कुमारश्चमण का सेयविया में पदार्पण	१५१
चित्त का प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने का निवेदन	१५२
केशी कुमारश्चमण का उत्तर	१५४
प्रदेशी राजा को लाने हेतु चित्त की मुक्ति	१५६
केशी कुमारश्चमण को देखकर प्रदेशी का चिन्तन	१५८
तज्जीव-तच्छरीरवाद मंडन-खंडन	१६७
प्रदेशी की पुरम्यतागत मान्यता का निराकरण	१९३
प्रदेशी की प्रतिक्रिया एवं श्रावकघर्म-ग्रहण	१९७
प्रदेशी द्वारा कृत राज्यव्यवस्था	२०१
सूर्यकान्ता सानी का पद्यन्त्र	२०२
प्रदेशी का रलेखना-मरण	२०३
सूर्यभिदेव का भावी जन्म	२०४
माता-पिता द्वारा कृत जन्मादि संस्कार	२०५
दृढप्रतिज्ञ का लालन-पालन	२०७
दृढप्रतिज्ञ का कलाशिक्षण	२०७
कलाचार्य का सम्मान	२०९
दृढप्रतिज्ञ की भोगसमर्थता	२०९
दृढप्रतिज्ञ की अनासक्ति	२११
उपसंहार	२१३

राजप्रश्नीयसूत्रम्

राजप्रश्नीयसूत्रम्

आरम्भ

१—तेण कालेण तेण समएण आमलकपा नामं नयरो होत्था-रिद्धि-रिथमिय-समिद्धा जाय [पमुह्यज्ञन-जावणया आइण्णजणमणूसा हुलसयसहस्रसंकिटुविशिष्टुलटुपण्णतसेउसीमा कुकुडसंडेयगा-मपउरा उच्छु-जष-सालिकलिआ गो-भृहिस-गवेलगप्पमूया आयारवंत-चेष्टय-जुबहविसिद्धुसम्बिष्टुबहुला उक्कोडिय-गाय-गंठिभेद-तक्कर-खंडरव्यखरहिया खेमा निश्वद्वया सुभिक्खा बीसत्थसुहावासा अणेगकोडि-कोडु-वियाइण्णणिव्युत्सुहा नड-नटु-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंदग-कहग-पवग-सासग-आद्वद्वय-लंख-मंख तूणइल्ल-न्तु बबोणिय-गणेगता साचराणुचरिया आराम-उज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वाप्पिणगुणोवयेया उव्विद्विउलगंभीरखात-फलिहा चक्क-गय-भुमुंडि-ओरोह-सयग्धि-जमलकवाड्घणदुप्पवेसा धणुकुवि-लवंक-पावारपरिविक्ता कविसीसयवट्टरहय-संठियविरायमाणा अद्वालय-चरिय-वार-गोपुरतोरण-उन्नय-सुविभत्तरायमग्ना छेयायरियरहयवङ्गसिहुंदकीला विदणि-वणिच्छुत-सिप्पि-आइण्णनिव्युयसुहा सिधाडग-तिय-चउवक-चच्छर-पणियापणविव्यवसुपरिमंडिया सुरम्मा नरव्व-पविइण्णमहिवहपहा अणेग-वरतुरग-मत्तकुंजर-रहृपहकर-सीय-संदमाणीप्राइण्णजाणजोगा विमउलनवनलिणसोभियजला पंडुरवर-भवणपंतिमहिया उत्ताणयनयणपिच्छुणिज्जा] पासावीया दरिसणिज्जा अभिरूचा पडिरुचा ।

उस काल और उस समय में अर्थात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के उत्तरवर्ती समय में आमलकपा [आमलकल्पा] नाम की नगरी थी ।

वह आमलकल्पा नगरी भवनादि वैभव-विलास से सम्पन्न थी, स्वचक्र और परचक्र के भय से मुक्त—रहित थी । धन-धान्य आदि की समृद्धि से परिपूर्ण थी यावत् (इसके मूल निवासी और जानपद—दूसरे देशवासी जन—यहाँ आनन्द से रहते थे । जन-समूहों से सदा आकीर्ण—भरी रहती थी ।

संकड़ों-हजारों अथवा लाखों हलों से बार-बार जुतने, अच्छी तरह से जुतने के कारण वहाँ के खेतों की मिट्टी भूरभूरी—नरम और मनोज्ज दिखती थी । उनमें प्राज्ञ-कृषि-विद्या में निपुण व्यक्तियों द्वारा जलसिंचन के लिए नालियाँ एवं क्यारियाँ और सीमाबन्दी के लिए मेढ़े बनी हुई थीं ।

नगरी के चारों ओर गांव इतने पास-पास बसे हुए थे कि एक गांव के मुग्गी और सांडों की आवाज दूसरे गांव में सुनाई देती थी । वहाँ के खलिहानों में गन्ने, जी और धान के ढेर लगे रहते थे, अथवा खेतों में गन्ने जी और धान की फसलें सदा लहलहाती रहती थीं । गायों भैंसों और भेड़ों के टोले के टोले वहाँ पलते थे ।

आकर्षक आकार-प्रकार वाले कलात्मक चैत्यों और पञ्चतरुणियों (गणिकाश्रों) के बहुत से सुन्दर सम्बिवेशों से नगरी शोभायमान थी ।

लाच—रिश्वत लेने वालों-घूसखोरों, चातकों, गुड़ों, गांठ काटने वालों—जेबकतरों, डाकुओं, चोरों और जबरन जकात (राजकर, चुंगी, टैक्स) वसूल करने वालों के न होने से नगरी क्षेम रूप

थी, अनिष्ट-उपद्रवों से रहित थी, सुभिक्ष होने से भिक्षुओं को सरलता से भिक्षा मिल जाती थी । लोग यहाँ विश्वासपूर्वक सरलता से रहते थे और दूसरे-दूसरे अनेक संकड़ों प्रकार के^१ कुटुम्ब परिवारों के भी बसने से नगरी लालाकारी समझी जाती थी ।

नट—नाटक करने वालों, नर्तक—नृत्य-नाच करने वालों, जल्ल रससी पर चढ़कर कलाबाजियाँ दिखाने वालों, मल्ल—पहलवानों, मीठिक—पंजा लड़ाने वालों, बिदूषकों, बहुरूपियों, कथक—कथा कहानी कहने वालों, प्लवक—पानी में तैरने वालों, उछल-कूद करने वालों, लासक—रास रचने वालों, स्वांग धरने वालों, आख्यायिक—शुभ-अशुभ शकुन बताने वालों, लंख—ऊंचे बांस पर चढ़कर कलाबाजी, लेल करने वालों, मंख—चित्र दिखाकर भीख माँगने वालों, शहनाई बजाने वालों, तम्बूरा बजाने वालों और खड़ताल बजाने वालों से नगरी अनुचरित—व्याप्त थी ।

आरामों—सताकुंजों, उद्यानों—बाग बगीचों, कूपों, जलाशयों, दीविकाओं—लम्बे आकार की बाबड़ियों और सामान्य बाबड़ियों आदि से युक्त होने के कारण वह नगरी रमणीय थी ।

सुरक्षा के लिए नगरी को चारों ओर से घेरती हुई गोलाकार खात (खाई) थी, जो विस्तृत, तल न दिखे ऐसी गहरी और ऊपर चौड़ी एवं नीचे संकड़ी थी और खात के बाहर ऊपर नीचे समान रूप से खुदी हुई परिष्ठा थी ।

खाई के बाद नगरी को चारों ओर से घेरता हुआ धनुष जैसा वक्राकार परकोटा था । जो चक्र, गदा, भुमुँडि (शस्त्र विशेष) अवरोध, शतधनी और मजदूत, सम-युगल किवाड़ों सहित था । जिससे नगरी में शत्रुओं का प्रवेश करना कठिन था । इस परकोटे का ऊपरी भाग गोल-गोल कंगूरों से शोभायमान था और वहाँ पहरेदारों के लिए ऊंची-ऊंची अटारियाँ-मीनारें बनी हुई थीं । किले और नगरी के बीच आने-जाने का रास्ता आठ-हाथ चौड़ा था । प्रवेश-द्वार पर तोरण बंधे हुए थे ।

नगरी के राजमार्ग सम, सुन्दर और आकर्षक थे और द्वारों में निपुण शिल्पियों द्वारा बनायी गई ग्रंथलालों एवं इन्द्रकोलियों वाले किवाड़ लगे हुए थे ।

नगरी के बाजार भाँति-भाँति की क्रय-विक्रय करने योग्य वस्तुओं और व्यापारियों से व्याप्त रहते थे और व्यापार के केन्द्र—मंडी थे । जिससे अलग-अलग कामों के जानकार शिल्पियों, कारी-गरों, मजदूरों का वहाँ सुखपूर्वक निर्वाह होता था ।

नगरी में कितने ही मार्ग सिधाड़े जैसे श्रिकोण और कितने ही श्रिकोण (तिराहों), चतुष्कोण (चौराहों) और चत्वरों (चार से भी अधिक मार्ग) आदि वाले थे और दुकानें बिक्री करने योग्य अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं से भरी रहती थी ।

नगरी के राजमार्ग देश-देश के राजाओं-महाराजाओं आदि के आवागमन से और साधारण

१. मूल में इसके लिए 'अणेगकोडि' शब्द है । आचार्य मलयगिरि सूरि ने इसका अर्थ अनेककोटिभिः अनेक कोटिसंख्याकैः अर्थात् अनेक कोटि यानि अनेक करोड़ संख्या किया है । परन्तु इस अर्थ की बजाय अनेक कोटि—अनेक प्रकार ऐसा अर्थ करता यहाँ विशेष उचित लगता है । क्योंकि कोटि शब्द का प्रकार अर्थ जैन श्रामकों में सुन्नतीत है ।

मार्ग अनेक सुन्दर ग्रंथों, मदोन्मल हाथियों, रथों, पालखियों, और म्यानों के आने-जाने से व्याप्त रहते थे।

वहाँ के जलाशय, तालाब आदि विकसित कमल-कमलिनियों से सुशोभित थे और मकान, भवन आदि सफेद भिट्ठी-चूने आदि से पुते हुए होने से बड़े सुन्दर दिखते थे। जिससे नगरी की शोभा अनिमेष दृष्टि से देखने लायक थी। वह मन को प्रसन्न करने वाली थी, बार-बार देखने योग्य थी, मनोहर रूप वाली थी और असाधारण सौन्दर्य वाली थी।

विवेचन- यहाँ श्रीष्पातिक सूत्र का आधार लेकर आमलकप्ता नगरी की सूक्ष्मि का वर्णन किया है।

आमलकप्ता- भगवान् महावीर ने जिन नगरों में चातुर्मासि किये हैं, उनमें तथा सूत्रों में बताई गई आर्य देश की राजधानियों में इसका उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार भगवान् के विहार स्थानों में भी आमलकप्ता के नाम का अंकेत नहीं है। किन्तु इस राजप्रश्नीय सूत्र के उल्लेख से इतना कहा जा सकता है कि केवल ज्ञानी होने के अनन्तर भगवान् ने जिन स्थानों पर विहार किया, सम्भवतः उनमें इसका नाम हो। किन्तु वर्तमान में वह नगरी कहाँ है और उसका कथा नाम है? यह अभी भी अज्ञात है।

हृत्सय-सहस्र-संकिट्ट— विशेषण से यह स्पष्ट किया है कि हमारा देश कृषिप्रधान है और कृषि अर्हिसक संस्कृति की आधार है। प्राचीन समय में अन्यान्य विषयों की तरह कृषि-विद्या से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य था। जिसमें कृषि से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले—भूमिपरीक्षा, भूमि-सुधारविधि, बीजरक्षणविधि, दृक्षों के रोग और उनके निरोध के लिए श्रीष्ठोपचार आदि अनेक विषयों की विस्तृत चर्चा रहती थी।

आज के कृषक को चाहे कोई मूढ़-अज्ञ कह दे, परन्तु उस समय का कृषक मूढ़ नहीं किन्तु प्राज माना जाता था। जो 'पण्णत्तसेउसीमा' पद के उल्लेख से स्पष्ट है।

कुक्कुटसंबेदगामपउरा— व्याकरण महाभाष्य में ग्रामों की समीपता सूचित करने के लिए ग्रामों के विशेषण के रूप में 'कुक्कुटसंपात्याः ग्रामाः' उदाहरण रखा है। उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल के ग्राम अवश्य ही कुक्कुटसंपात्य ही थे अर्थात् एक ग्राम का मुर्गी दूसरे ग्राम में पहुँच सके ऐसा निकटवर्ती गांव। आज भी सुदूर क्षेत्र में कृषिप्रधान गांव इसी प्रकार के कुक्कुट-संपात्य हैं।

जुवह—अर्थात् पण्य तरुणी। इपि आज इस शब्द का प्रयोग वेश्या के लिये रुढ़ हो गया है और उसे समाज बहिष्कृत मानकर तिरस्कार, धृणा और हेयदृष्टि से देखता है। लेकिन यह शब्द तत्कालीन समाज की एक संस्थाविशेष का बोध कराता है, जो अपने कला, गुण और रूपसौन्दर्य के कारण राजा द्वारा सम्मानित की जाती थी। गुणी-जन प्रशंसा करते थे। कला के अर्थी कला सीखने के लिये उससे प्रार्थना करते और उसका आदर करते थे। सम्भवतः इसी कारण उसका यहाँ उल्लेख किया हो।

नगरी में रिष्वतखोर आदि कोई नहीं था इत्यादि कथन में उसके उज्ज्वल पक्ष का ही उल्लेख किया गया है। यह साहित्यकारों की प्रणाली प्राचीनकाल से चली आ रही है। परन्तु

मानवस्वभाव को देखते यह पूर्णतः सम्भव जैसा प्रतीत नहीं होता है। तथापि नगरी के इस वर्णन से यह विदित होता है कि इसमें रहने वाले अपेक्षाकृत सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत एवं प्रामाणिक थे।

खात और परिष्ठा—खात और परिष्ठा। वैसे तो ये दोनों शब्द प्रायः समानार्थक माने जाते हैं। लेकिन आचार्य मलयगिरि ने इनका अन्तर स्पष्ट किया है कि खात तो ऊपर चौड़ी और नीचे-नीचे संकड़ी होती जाती है। जबकि परिष्ठा (खाई) ऊपर से लेकर नीचे तक एक जैसी सम—सीधी छुट्टी हुई होती है। प्राचीनकाल में नगर की रक्षा के लिये परकोटे से पहले खाई होती थी, जिसमें पानी भरा रहता था और खाई से पहले खात। खात में अंगारे अथवा अलसी आदि चिकना धानविशेष भर देते थे कि जिस पर पैर रखते ही मनुष्य तल में चला जाता है। इस प्रकार खात भी नगररक्षा का एक साधन था।

चैत्य-वर्णन

२—तीसे पं आमलकप्पाए नयरोए बहिया उत्तरपुरुत्थिसे दिसीभाए अंबसालवणे नामं चेहए होत्था— [चिरातीते पुच्चपुरिसपणते पोराणे सहिए कित्तिए नाए सच्छत्ते सज्जाए सघंटे सपडागे पडागश्चपडागमंडिए सलोमहत्थे क्यवेयहुए लाइय-जल्लोइयमाहिए गोसीससरसरसरत्तचंदणद्वृ-विणपंचंगुलितजे उबचिथचंदणकलसे चंदणघडसुक्य-तोरणपडितुवारदेसभाए आसित्तोसित्तविडलवट्-वग्धारियमल्लदामकसावे पंचवणसरससुरभिमुक्षपुष्पपुंजोवयारकलिए कालागुरु-पवरकुंदुक्षक तुरुक्क-धूवमधमधंतगंधुदधुयामिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवहिभूए णड-पट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्टिय-बेलंबग-पवग-कहग-लासग-आइबखग-लंख-मोख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-भुयग-मागहपरिगाए बहुजण-जाष्वयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंकणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्भाणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेहयं विणएणं पञ्जुवासणिज्जे दिव्ये सउचे सउचोवाए जागसहस्रमागपडिच्छए, बहुजणो अच्चेह आगम्म अंबसालवणचेहयं अंबसाल-वणचेहयं ।]

२—उस आमलकप्पा नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिक्कोण अर्थात् ईशान दिशा में आम्रशालवन नामक चैत्य था। वह चैत्य बहुत प्राचीन था। पूर्व पुरुष-पूर्वज, बड़े-बूढ़े भी उसको इसी प्रकार का कहते थे रहे थे। पुराना था। प्रसिद्ध था। अथवा अनेक परिवारों की आजीविका का साधन था। विष्णुयात था। दूर-दूर तक उसकी कीर्ति फैली हुई थी, उसके नाम से सभी परिचित थे। छत्र, छवजा, घंटा, पताकाओं से मंडित था। उसके शिखर पर अनेक छोटी बड़ी पताकायें लहराती रहती थीं। भीर पंखों की पीछियों से युक्त था। उसके बीच वेदिका बनी हुई थी। आंगन गोबर से लिपा रहता था और दीवालें सफेद मिट्टी से पुती हुई थी। दीवालों पर गोरोचन और सरस रक्त चंदन के थापे—हाथे लगे हुए थे। जगह-जगह चंदन चर्चित कलश रखे थे। द्वार-द्वार पर चंदन के बने घट रखे थे और अच्छी तरह से बनाये हुए तोरणों के द्वारा दरवाजों के ऊपरी भाग मुशोभित थे। ऊपर से लेकर नीचे तक लटकती हुई गोलाकार में गुंथी हुई मालाओं से दीवालें मंडित थीं। स्थान-स्थान पर रंग-विरंगे सरस, सुगंधित पुष्प-पुञ्जों से अनेक प्रकार के मांडने मढ़े हुए थे। धूपदानों में कृष्णागुह—सुगंधित काष्ठ-विशेष, शेष्ठ कुंदल, तुरुष्क—लोबान और धूप आदि के जलने से महकता रहता था और उस महक के उड़ने से बड़ा सुहावना लगता था। शेष्ठ सुगंध से सुवासित होने के कारण गंध-

वित्का जैसा मालूम होता था। नट, नृत्यकार, रसी पर खेल दिखाने वालों, मल्ल, पंजा लड़ाने वालों, बहुरूपिया, तैरने वालों, कथा कहानी कहने वालों, रास रचने वालों, शुभ-श्रशुभ शकुन बताने वालों, ऊंचे बांस पर खेल दिखाने वालों, चित्र दिखाकर भीख माँगने वालों, शहनाई बजाने वालों, तंबूरा बजाने वालों, भोजक—गाने वालों, मागध—चारण, भाट आदि से वह चैत्य सदा व्याप्ति- चिरा रहता था। नगरवासियों और दूर-देशवासियों में इसकी प्रसिद्धि—कीर्ति फैली हुई थी जिससे बहुत से लोग वहाँ आहुति—जात देने आते रहते थे। वे उसे दक्षिणा-पात्र—दान देने योग्य स्थान, अर्चनीय, गंगनीय, नमस्करणीय, पूजनीय, उत्कारणीय, ममाननीय मानते थे तथा कल्याणरूप मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप मानकर विनयपूर्वक उपासना—सेवा करने योग्य मानते थे। दिव्य, सत्य और कामना सफल करने वाला समझते थे। यज्ञ में इसके नाम पर हजारों लोग दान देते थे और बहुत से लोग आकर इस आम्रशालबन चैत्य की जयजयकार करते हुए अर्चना भक्ति करते थे।

विवेचन- आम्रशालबन चैत्य के उपर्युक्त वर्णन से हमें तत्कालीन लोक-संस्कृति एवं जन मानस का ठीक-ठीक परिचय मिलता है कि चैत्य जन सामान्य के लिये मनोरंजन, कीड़ा आदि के स्थान होने के साथ-साथ अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु आहुति—जात देने आदि के भी केन्द्र थे।

३—असोगवर पायवे, पुढ़वी सिलापटूए, वत्तव्याहृयमभेण जेया।

३—उस चैत्यवर्ती श्रेष्ठ अशोकवृक्ष और पृथ्वीशिलापटूक का वर्णन उवाईसूत्र के अनुसार जानना चाहिये।

विवेचन- अशोक वृक्ष के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्षपूजा की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके पीछे वृक्षों की उपयोगिता, अथवा किसी पुण्य पुरुष का स्मरण अथवा वहम कारण है, यह विचारणीय और शोध का विषय है।

उवाईसूत्र में अशोक वृक्ष, पृथ्वीशिलापटूक का विस्तार से वर्णन किया है। वही सब वर्णन यहाँ समझ लेने की सूत्र में सूचना की है। उसका सारांश इस प्रकार है—

चैत्य को चारों ओर से घेरे हुए बनखण्ड के बीचोंबीच एक विशाल, ऊंचा दर्शनीय और असाधारण रूपसौन्दर्य-सम्पन्न अशोक वृक्ष था।

वह अशोकवृक्ष भी और दूसरे लकुच, शिरीष, ध्रव, चन्दन, अर्जुन, कदम्ब, अनार, शाल, आदि वृक्षों से चिरा हुआ था। ये सभी वृक्ष मूल, कंद, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रवाल-पत्र, पुष्प, फल और बीज से युक्त थे। इनकी शाखा-प्रशाखायें चारों ओर फैली हुई थीं और पत्र, पल्लव, फल-फूलों आदि से सुशोभित थीं। इन वृक्षों पर मोर, मैना, कोयल, कलहंस, सारस आदि पक्षी इधर उड़ते और मधुर कलरव करते रहते थे। भ्रमर-समृह के गुंजारव से व्याप्त थे।

इस वक्षघटा की शोभा में विशेष विद्धि करने के लिये कहीं जाली झरोखों वाली चौकोर बाबड़ियाँ, कहीं गोल बाबड़ियाँ, कहीं पुष्करणियाँ, आदि बनी हुई थीं।

पद्मवेल, नागरवेल, अशोकवेल, चंपावेल, माधवीवेल, आदि वेलें इस वृक्षराजि से लिपटी हुई थीं और ये सभी वेलें फूलों के भार से नमी रहती थीं।

उक्त वनराजि से विराजित उस उत्तम अशोकवृक्ष पर रत्नों से बने हुए, देवीप्यमान, दर्शनीय

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य-युग्म और दर्पण—ये आठ मंगल एवं वज्र रत्न की डाँड़ी बाले, कमल जैसे सुगंधित, काले, नीले, लाल, पीले और सफेद चामर लटके हुए थे।

इस अशोक वृक्ष के नीचे एक चौकोर शिलापट्ट था, जो जामुन, नेत्रगोलक, अंजन वृक्ष, सधन मेघमाला, ऋमरसमूह, काजल, नील मुटिका, भैंसे के सींग आदि से भी अधिक कृष्ण वर्ण का था। दर्पण की तरह इसमें देखने वालों के प्रतिबिम्ब पड़ते थे। पाट की मोटाई में चारों ओर हीरा, पश्चा, मणि, माणक, मोती आदि से चित्र बने हुए थे और उस का स्पर्श रुई, मक्खन, ग्राक की रुई आदि से भी अधिक सुकोमल था।

इस प्रकार का रत्नमय रम्य शिला पाट उस अशोकवृक्ष के नीचे रखा था।

राजा सेय

४—[तत्थ एं आमलकप्पाए नयरीए ।] सेयो राया [होत्या, मह्या-हिमवंत-महूतमस्य-मंदरमहिदत्तारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए निरंतरं रायलक्षण्यविराहयंगमंगे बहुजण-बहुमाणपूइए सञ्चगुणसमिद्दे खत्तिए मुद्वाभिसित्ते माडपित्तसुजाए द्वयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे लेमंकरे लेमंधरे भणुस्त्सदे जणवयपिया जणवयपाले जणवय-पुरोहिए सेत्तकरे केत्तकरे नरपत्तरे पुरित्तवरे पुरिससोहे पुरिसवरथे पुरिसवरपोडरीए पुरिसवरगंधहृत्यो अहु दिसे वित्ते वित्तिविपुलभवण-सयण-आसण-जाण-वाहणाइणे बहुधणबहुजायरूप-रजए आओग-पश्चोगसंपत्तसे विल्लिङ्गिडियपउभत्तपाने बहुवासो-दास-गो-महिस-गवेलगप्पमूए पडिपुमजेत-कोस-कोद्वागार-आउहधरे बलवं बुज्जलपठ्ठामिले, ओहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अप्पडिकंटयं ओहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धियसत्तुं निज्जयसत्तुं पराइयसत्तुं बवगायदुभिभवखदोसभारि-भवविच्यमुककं लेमं सिवं सुभिकर्णं पसंतडिबडमरं रजां पसासेमाणे विहरह ।]

४—उस आमलकप्पा नगरी में सेय नामक राजा राज्य करता था। वह मनुष्यों में महा हिमवंत पर्वत, महामलय पर्वत, मंदर (मेह) पर्वत और महेन्द्र नामक पर्वत आदि के समान श्रेष्ठ—प्रधान था। अत्यन्त विशुद्ध राजकुल एवं वंश में उत्पन्न हुआ था। उसके समस्त अंगोपांग राजचिह्नों और लक्षणों से सुशोभित थे। अनेक लोगों द्वारा वह बहुमान-संमान और मत्कार प्राप्त करता था अथवा अनेक लोगों द्वारा सम्मानपूर्वक पूजा जाता था। शौर्य आदि सर्वगुणों से समृद्ध था। क्षत्रिय था। मूर्धा-भिषिक राजा था। माता-पिता के सुसंस्कारों से सम्पन्न था। स्वभाव से दयालु था। कुलमयदा का करने वाला और पालक था। क्षेम-कुशल का कर्ता और रक्षक होने से मनुष्यों में इन्द्र के समान, जनपद का पिता, जनपद-देश का पालक, जनपद का पुरोहित—मार्गदर्शक, अद्भुत कार्यों को करने वाला और मनुष्यों में श्रेष्ठ था। पुरुषार्थों का साधक होने से पुरुषों में प्रधान, निर्भय एवं बलिष्ठ होने से पुरुषों में सिंह, शूरवीर होने से पुरुषों में व्याघ्र, सफल कोप वाला होने से पुरुषों में ग्राजी-विष सर्प, दयालु, कोमल हृदय होने से पुरुषों में कमल, शत्रुघ्नों का नाश करने से पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान था। समृद्ध, प्रभावशाली अथवा अभिमानियों का मानमर्दक, विरुद्यात-प्रछ्यात था। विस्तीर्ण और विपुल भवन, शैया, आसन, धान, वाहन का स्वामी था। उसके कोष और कोठार सदा धन, स्वर्ण, चांदी, धात्य से भरे रहते थे। अर्थोपार्जन के उपायों का जानकार था। उसके

रानी धारिणी]

यहाँ भोजन करने के बाद शेष रहा भोजन भिखारियों, याचकों में बाँट दिया जाता था। सेवा के लिये बहुत से दास-दासी उनके पास रहते थे। उसकी गोषाला में गायों, भेंसों एवं बकरियों की प्रचुरता थी। उसके यंत्रागार, कोष, कोठार और घस्त्रागार पूरी तरह से भरे रहते थे। वह शारीरिक और मानसिक बल से बलवान् था अथवा उसकी सेना बल-विक्रमशाली थी। दुर्बलों का मिश्र-हितेषी था।

प्रजा को पीड़ित करने वाले काटे रूप चोर और डाकू आदि न होने से उसका राज्य प्रजाकंटकों से रहित था। देश में उपद्रव, दंगा-फिसाद करने वालों को दंड देकर शांत कर दिये जाने से मदितकंटक था। गुंडों बदमाशों को देश-निकाला दे देने से उद्धृतकंटक था। विरोधियों का विनाश कर देने से अपहृतकंटक था। इसी प्रकार उसका राज्य अपहृतशत्रु था, निहतशत्रु था, मरितशत्रु था, उद्धृतशत्रु था, निजितशत्रु था, पराजितशत्रु था एवं दुभिक्ष दुर्गुण दुर्व्यसन, महामारी से रहित था। उपहृतशत्रु था, निजितशत्रु था, पराजितशत्रु था एवं दुभिक्ष दुर्गुण दुर्व्यसन, महामारी से रहित था। राजकुमार आदि राजपुरुषों द्वारा कृत विडम्बनाओं—राज्यविरुद्ध कायों से रहित था। ऐसे राज्य का प्रशासन करते हुए राजा अपना समय बिताता था।

विवेचन—राजा सेय का विशेष दृतान्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। स्थानांगसूत्र के आठवें ठाणा में श्रमण भगवान् महाबीर के पास दीक्षित आठ राजाओं में एक नाम 'सेय' भी है किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह 'सेय' राजप्रशनीयसूत्र मत राजा है अथवा अन्य कोई। टीकाकार अभयदेवसूरि ने इसी सेय को आठ दीक्षित राजाओं में माना है।

सेय के संस्कृत रूपान्तर श्वेत और श्रेय दोनों होते हैं। आचार्य मलयगिरिसूरि ने अपनी टीका में 'श्वेत' का प्रयोग किया है।

रानी धारिणी

५—[तस्य एं सेयरण्णो] धारिणी [नाम] देवी [होत्या सुकुमालपाणिपादा अहीण-पदिपुण्ण-वंचिदियसरीरा लक्खण-बंजण-गुणोबवेया माण-उम्माण-पमाणपडिपुण्णमुजायसव्यंग-सुवरंगी ससि-सोमागार-कंतपियदंसणा सुरुखा, करपलपरिमियपसव्यतिवलिवलियमञ्जा, कुण्डलुलिलहियगंडलेहा कोमुइरयणियर-विमलपडिपुण्णसोमवयणा सिगारागारचारुवेसा संगथगय-हसिय-माणिय-चिट्ठिय-विलास-ललिय-संलादनिडणजुसोबयारकुसला सुवर-यण-जघण-बयण-कर-चरण-मयण-लायण-कामभोगे पच्चण्डमरणा विहरइ]।

५—(उस सेय राजा की) धारिणी (नाम की) देवी—पटरानी (थी)। (वह सुकुमाल—अतिकोमल हाथ पर वाली थी। शरीर और पांचों इन्द्रियों अहीन शुभ लक्षणों से संपन्न एवं प्रमाणयुक्त थीं। हाथ पर वाली थी। शरीर और पांचों इन्द्रियों अहीन शुभ लक्षणों से संपन्न एवं प्रमाणयुक्त थीं। वह शंख, चक्र आदि शुभ लक्षणों तथा तिल, मसा आदि व्यंजनों और सौभाग्य आदि स्त्रियोचित और सुगठित होने से सर्वांग सुन्दरी थी, चन्द्रमा के समान सौम्य आङ्गूष्ठी वाली, कमनीय, प्रियदर्शना और सुरुपवती थी। उसका मध्य भाग—कटि भाग मुद्दी में आ जाये, इतना पतला और प्रशस्त था, और सुरुपवती थी। उसका मध्य भाग—कटि भाग मुद्दी में आ जाये, इतना पतला और प्रशस्त था, और सुरुपवती थी। उसमें बल पड़े हुए थे। उसकी गंडलेखा—कपोलों पर बनाई हुए पत्रलेखा

कुंडलों से घषित होती रहती थी। उसका मुखमंडल चंद्रिका के समान निर्मल और सौम्य था, अथवा कातिकी पूर्णिमा के चन्द्र के समान विमल परिपूर्ण और सौम्य था। उसका सुन्दर वेष मानो शृंगार रस का स्थान था। उसकी चाल, हासगरिहास, संलाप-बोलचाल, भाषण, शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत थीं। वह पारस्परिक बातलाप करने में निपुण थी, कुशल थी, उचित आदर, सेवा-शुश्रूषा आदि करने में कुशल थी। उसके सुन्दर जघन-कमर से नीचे का भाग, स्तन, मुख, हाथ, पेर, लावण्य-विलास से युक्त थे। और दर्शकों के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय रूपवत्ति और अतीव रूपवत्ति थी। और वह सेय राजा में अनुरक्ता, अविरक्ता होकर पाँचों इन्द्रियों के इष्ट शब्द, स्पर्श, रस, वर्ण, एवं गंध रूप मनुष्योचित काम-भोगों का अनुभव करती हुई समय ब्यतीत करती थी।

विवेचन- पानी से लबालब भरे हुए कुंड में पुरुष या स्त्री के बिठाने पर एक द्रोण (प्राचीन नाप) प्रमाण पानी छलककर बाहर निकले तो वह बैठने वाली स्त्री अथवा पुरुष मान-संगत कहलाता है। तराजू पर तोलने पर यदि अर्धभार प्रमाण तुले तो वह उत्सान-संगत और अपने अंगुल से एक सी आठ अंगुल ऊंचाई हो तो वह प्रमाण-संगत कहलाता है।

जैन परिभाषा के अनुसार शब्द और रूप ये दो काम में और गंध, रस एवं स्पर्श भोग में गहण किये जाते हैं। दोनों का समावेश करने के लिये 'काम भोग' शब्द का उपयोग किया जाता है।

भगवान् का पदापेण और राजा का दर्शनाथं गमन

६—सामी समोसदे। परिसा निग्यथा। राया जाव [नयणमालासहस्रेहि पेच्छज्जमाणे पेच्छज्जमाणे हृययमाला-सहस्रेहि अभिणंदिज्जमाणे-अभिणंदिज्जमाणे, मणोरहमालासहस्रेहि विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्रेहि अभिथुद्वधमाणे अभिथुद्वधमाणे, कंति-दिष्य-सोहग-गुणेहि पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे, बूर्णं नरनारोसहस्राणं दाहिणहत्थेण अंजलिमालासहस्राइ-पडिच्छमाणे-पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेण पडिबुद्धमाणे-पडिबुद्धमाणे, भवणपतिसहस्राइ-समइच्छमाणे समइच्छमाणे आपलक्ष्याए नयरीए मज्जंमज्जेण निगच्छइ, निगच्छता जेणेव अंधसालवणचेहए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता समणस्स भगवओ महावीरस्स ग्रदूर-सामंते छृत्ताइए तिथियराइसेसे पासइ, पासिता आभिसेकं हत्थिरयणं ठवेह, ठविता आभिसेककाप्रो हत्थिरयणाओ पच्चोहहह, पैच्चोहहिता श्वहट्टु पंच रायकउहाइ तंजहा—खग्गं छृत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीयणं; जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तंजहा—

- (१) सत्रिताणं दद्वाणं दिओसरणयाए,
- (२) अचित्ताणं दद्वाणं अविद्वोसरणयाए,
- (३) एगसाडियं उत्तरासंगकरणेणं,
- (४) चक्षुपक्षसे अंजलिपग्नहेणं,
- (५) मणसो एगत्तभावकरणेणं।

समणं भगवं महावीरं तिक्खुतो आयाहिण-पथाहिणं करेह, करिता वंदइ नमंसइ, वंदिता नमंसिता तिविहाए पज्जुवासणयाए] पज्जुवासइ।

६—आमलकल्पा के बाहर स्थित आम्रशालवन चैत्य में स्वामी-श्रमण भगवान् महावीर पधारे। बंदना करने परिषद् निकली। राजा भी यावत् (हजारों दर्शकों की सहस्रों नेत्रमालाओं द्वारा बार-बार निरीक्षित होता हुआ, हजारों मनुष्यों के हृदयसहस्रों द्वारा स्पष्ट होता हुआ, सुन्दर और उदार वचनावली-सहस्रों द्वारा बारंबार स्तुत—स्तुतिगान किया जाता हुआ, शारीरिक ओज सौन्दर्य, लावण्य-दिव्य सौभाग्य और गुणों के कारण जनपद के द्वारा प्राप्ति होता हुआ, हजारों तर-नारियों की अंजलि रूप मालामहस्रों को दाहिने हाथ से स्वीकार करता हुआ, मंजुल मधुर स्वरों द्वारा किये गये जय-जय घोषों से प्रतिद्वित-संबोधित होता हुआ एवं हजारों भवन-पंक्तियों को पार करता हुआ आमलकल्पा नगरी के बीचोंबीच से होकर निकला, निकल कर आम्रशालवन चैत्य की ओर चला और श्रमण भगवान् महावीर से न अतिदूर और न अति समीप किन्तु यथायोग्य स्थान से तीर्थकरों के अतिशय रूप चूत्र-पर-चूत्र और पताकाओं-पर-पताका आदि को देखा, देखकर आभिषेक्य हस्तिरत्न को रुकवाया। रोक कर आभिषेक्य हस्तिरत्न दे नीचे उतरा। उतर कर (१) खड्ग-तलवार, (२) छत्र, (३) मुकुट, (४) उपात्त—जूता और (५) चामर इन पाँच राजचिह्नों का परित्याग किया, परित्याग करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आया। आकर पाँच अभिगम करके श्रमण भगवान् महावीर के सन्मुख पहुँचा। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—

- (१) पुष्प माला आदि सचित्त द्रव्यों का त्याग,
- (२) वस्त्र आदि अचित्त द्रव्यों का अत्याधि—त्याग नहीं करना,
- (३) एक शाटिका (अखंड वस्त्र—दुपट्टा) का उत्तरासंग,
- (४) भगवान् पर दृष्टि बढ़ाते ही अंजलि करना—दोनों हाथ जोड़ना,
- (५) मन को एकाग्र करना।

इन पाँचों अभिगमपूर्वक सन्मुख आकर श्रमण भगवान् महावीर की आदक्षिण—दक्षिण दिशा से यारंभ करके तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके बंदन नमस्कार किया। बन्दन, नमस्कार करके त्रिविधि—तीन प्रकार की पर्युपासना से प्रभु की उपासना करने लगा।)

विवेचन—‘तिविहाए पञ्जुवासण्याए पञ्जुवासइ’ तीन प्रकार की पर्युपासना से उपासना करने लगा। सेवा, भक्ति करने को पर्युपासना कहते हैं। सेवाभक्ति श्रद्धा प्रधान है और श्रद्धा की अभिव्यक्ति के तीन साधन हैं—मन, वचन और काय। अतएव श्रद्धा की परम स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन तीनों में तादात्म्य—एकाहृपता होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से सूत्र में ‘तिविहाए’ तीनों प्रकार से उपासना करने का उल्लेख किया है। कायिक अंग प्रत्यंगों की सम्मान प्रकट करने वाली बेढ़ा कायिक उपासना, वक्ता के कथन का समर्थन करना वाचिक उपासना तथा मन को केन्द्रित करके कथन को सुनना और अनुमोदन करते हुए स्वीकार करना मानसिक उपासना कहलाती है।

सूर्यभिदेव द्वारा जम्बूद्वीप दर्शन

७—तेण कालेण तेण समर्णं सूरियाभे देवे सोहम्मे कप्ये सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए सूरियाभंसि सिहासणंसि चउहि समाणियताहस्रोहि, चउहि अग्नमहिसीहि सपरिवाराहि, तिहि परिसाहि, सत्तहि अणिएहि, सत्तहि अणियाहिवईहि, सोलसहि आयरवदेवसाहस्रोहि, अग्नेहि

बहुहि सूरियाभविमाणवासीहि वेमाणिएहि वेवेहि य देवोहि य सर्वि संपरिवृद्धे महयाह्य नहु-
गीय-दाह्य-तंतो-तल-ताल-तुडिय-घणमुद्गपदुष्पवाविष्ववेण विद्वाहु शोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरति ।

इमं च णं केवलकर्त्त्वं जम्बूद्वीपं दोषं विवलेण ओहिणा आभोएमाणे-आभोएमाणे पासति ।

७.—उस काल में अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के विहरण काल में और उस समय में अर्थात् भगवान् के आमलकर्त्त्वा नगरी के आम्रशालवन चंत्य में विराजने के समय में सूर्यभि नामक देव सौधर्म स्वर्ग में सूर्यभि नामक विमान को सुधर्मा सभा में सूर्यभि सिहासन पर बैठकर चार हजार सामानिक देवों, सपरिवार चार अग्रमहिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनीकों-सेनाओं, सात अनीकाधि-सामानिक देवों, सोनह हजार आत्मरक्षक देवों तथा और दूसरे बहुत से सूर्यभि विमानवासी वैमानिक देव-पतियों, सहित अव्याहत निरन्तर नाटच एवं निषुण पुरुषों द्वारा बादित—बजाये जा रहे तंत्री—बीणा देवियों सहित अव्याहत निरन्तर नाटच एवं निषुण पुरुषों द्वारा बादित—बजाये जा रहे तंत्री—बीणा हस्तताल, कांस्यताल और अन्यान्य बादिओं—बादों तथा घनमृदंग—मेघ के समान छवनि करने वाले मृदंगों की छवनि (आवाज) के साथ दिव्य भोगते योग्य भोगों को भोगता हुआ विचर रहा था । उस समय उसने अपने विपुल अवधिज्ञानोपयोग द्वारा निरखते हुए इस समूर्ण जम्बूद्वीपतामक द्वीप को देखा ।

विवेचन—सूत्र में सूर्यभिदेव के सभादेव का वर्णन है । सभा में उपस्थित देव-देवियों का निर्देश इन शब्दों में किया है—

सामानिक देव—आज्ञा और ऐश्वर्य के अतिरिक्त ये सभी देव विमानाधिष्ठित देव के समान व्युति, वैभव आदि से संपन्न होते हैं और इनको भाई आदि के तुल्य आदर-सम्मान योग्य माना जाता है ।

अग्रमहिषी—कृताभिषेका राजा की पत्नी महिषी और शेष अकृताभिषेका अन्य स्त्रियां भोगिनी कहलाती हैं (या कृताभिषेका नृपस्त्री सा महिषी, अन्या अकृताभिषेका नृपस्त्रियो भोगिन्य इत्युच्यन्ते—प्रमरकोश द्वितीय काँड़, मनुष्यवर्ग, इलोक ५) । अपनी परिवारभूता अन्य सभी पत्नियों में उसको अप्रता—प्रधानता, मुख्यता—बताने के लिये महिषी के साथ अप्रविश्वण का प्रयोग किया जाता है ।

तीन परिषदा—सभी विमानाधिष्ठित देवों की—१. अभ्यन्तर, २. मध्यम और ३. बाह्य ये तीन परिषदायें होती हैं । जिनसे अपने अंतरंग, गुप्त गूढ़ रहस्यों के लिये विचार किया जाता है, ऐसे परमविश्वसनीय समवयस्क मित्र समुदाय को अभ्यन्तर परिषद, अभ्यन्तर परिषद में चर्चित एवं निर्णीत विचारों के लिये जिससे सम्मति, राय ली जाती है, उसे मध्यमपरिषद और अभ्यन्तर तथा मध्यम परिषद द्वारा विचारित, निर्णीत एवं सम्मत कार्य को क्रियान्वित करने का दायित्व जिसे दिया जाता है, उसे बाह्यपरिषद कहते हैं ।

सात सेनायें—शशव, गज, रथ, पदाति, वृषभ (बैल), गंधर्व और नाटच ये सेनाओं के सात प्रकार हैं । इनमें से आदि की पांच का युद्धार्थ और अंतिम दो का आमोद-प्रसोद के लिये उपयोग किया जाता है और ये अपने अपने अधिपति के नेतृत्व में कार्य संपादित करने में सक्षम होने से इनके सात सेनापति होते हैं ।

आत्मरक्षक देव—शिरस्त्राण जैसे प्राणरक्षक होता है, उसी प्रकार ये देव भी अस्त्र-शस्त्रों से सुरक्षित होकर अपने अधिष्ठितदेव की रक्षा करने में तत्पर रहने से आत्मरक्षक कहलाते हैं । यद्यपि

सूर्याभिवेद द्वारा भगवान् की स्तुति]

इन्द्र आदि देवों को किसी का भय नहीं होता कि आत्मरक्षकों की आवश्यकता हो, मगर यह भी इन्द्र का एक वैभव है।

सूर्याभिवेद द्वारा भगवान् की स्तुति

—तत्थ समणं भगवं महाबीरं जंबुद्वीपे भारहे बासे आमलकप्पाए नगरीए बहिया अंब-
सालवणे चेहए अहापडिलहं उगाहं उग्निपित्ता संजमेण तवसा अष्ट्वाणं भावेमाणं पासति, पासित्ता
हटुहटु चित्तमाणविए पीडमणे परमसोमणस्तिए हरिसवसविसप्पमाणहियए विकसियवरकमलणयणे
पयतियवरकडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुडलहारविरायंतरदयवच्छे, पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे
तसंभवं तुरियं चबलं सुरवरे सीहासणाओ अब्भुट्टेइ, अब्भुट्टिता पाययोहाओ परचोखहति, पच्चो-
हहिता पाउयाओ ओमुयह, ओमुयहता एगासाडियं उत्तरासंगं करेति, करिता तित्थयराभिमुहे सत्तहु-
पयाइं अणुगच्छह, अणुगच्छता बामं जाणुं अंचेह, बाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुतो
मुद्धाणं धरणितलंसि नियेह, नियिता ईसि पच्चुप्पमह पच्चुप्पमित्ता कडय-तुडियथंभिमुयाओ साहरह
साहरिता करयत्परिगहियं दसणहं सिरसावतं भवत्त अंजलि कट्टु एवं वयासी—

—उस समय अर्थात् विपुल श्रवणि ज्ञानोपयोग द्वारा जम्बुद्वीप के दर्शन में प्रवर्त्तमान होने के
समय उसने जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र में आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में यथा
प्रतिरूप श्रवणह ग्रहण कर—साक्षु के लिये उचित स्थान की याचना करके संयम और तप से आत्मा को
भावित करते हुए श्रमण भगवान् महाबीर को देखा। देखकर वह हर्षित और अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ,
उसका चित्त आनंदित हो उठा। मन में प्रीति उत्पन्न हुई, अतीव सौमनस्य को प्राप्त हुआ, हर्षातिरेक
से उसका हृदय—वक्षस्थल फूल गया, नेत्र और मुख विकसित श्रेष्ठ कमल जैसे हो गये। अपार हर्ष के
कारण पहने हुए श्रेष्ठ कटक, त्रुटित, केयूर, मुकुट और कुण्डल चंचल हो उठे, वक्षस्थल हार से
चमचमाने लगा, पेरों तक लटकते प्रालंब—आभूषण विशेष—भूमके विशेष चंचल हो उठे और उत्सुकता,
तीव्र अभिलाषा से प्रेरित हो वह देवश्रेष्ठ सूर्याभि देव शोभ ही मिहासन से उठा। उठकर पादपीठ पर
पैर रखकर नीचे उतरा। नीचे उतर कर पादुकायें उतारी। पादुकायें उतार कर एकशाटिक
उत्तरासंग किया। उत्तरासंग करके तीर्थकर के अभिमुख सात-आठ डग चला, अभिमुख चलकर
बाया घुटना ऊँचा रखा और दाहिने घुटने को नीचे भूमि पर टेक कर तीन बार मस्तक को पृथ्वी
पर नमाया-भुकाया, फिर मस्तक कुछ ऊँचा उठाया। तत्पश्चात् कटक त्रुटित—बाजूबंद से स्तंभित
दोनों भुजाओं को मिलाया। मिला कर दोनों हाथ जोड़ आवर्त्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके उसने
इस प्रकार कहा—

चिवेचन—आन्तरिक हर्ष का उद्रेक होने पर शरीर पर उसका जो असर—प्रभाव दिखता है,
उसका इस सूत्र में सुन्दर वर्णन किया है।

९ नमोऽस्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं स्यंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं
पुरिससीहाणं पुरिसवरपुण्डरीयाणं पुरिसवरगंधहस्थीणं लोगनाहाणं लोगहिआणं लोगपईबाणं
लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुवयाणं भगवदयाणं जीवदयाणं सरणदयाणं दीबो ताणं (सरणं
गई पइट्टा) बोहिवयाणं धम्मवेसयाणं धम्मनायग्राणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक-
वट्टीणं अप्पडिहयवरनाणं वंसणघराणं वियदृच्छउमाणं जिणाणं जावयाणं तारयाणं बद्धाणं

बोह्याणं सुताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवं अग्नलं अरुयं अणंतं अक्षयं अङ्गाभाहं अपुणरावत्तियं सिद्धिगद्यामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।

नमोऽथु णं समणस्स भगवन्तो महावीरस्स आदिगरस्स तित्थयरस्स जाव^१ संपादित्कामस्स, वंदामि णं मगवंतं तत्यगयं इहगते, पासइ मे भगवं तत्थगते इहगतं ति कट्टु वंदति णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुष्वाभिमुहं सणिणसणे ।

९—अरिहत भगवन्तों को नमस्कार हो, श्रूत-चारित्र धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले, अन्य के उपदेश के बिना स्वयं ही बोध को प्राप्त, पुरुषों में उत्तम, कर्म-शत्रुओं का विनाश करने में पराक्रमी होने के कारण पुरुषों में सिंह के समान, सौभ्य होने से पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान (जैसे गंधहस्ती की गंध से अन्य हाथी भाग जाते हैं उसी प्रकार जिनके पुण्य अभाव से ही ईति भीति आदि का विनाश हो जाता है, ऐसे) लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक का हित नरने वाले, लोक में पटीप के समान, लोक में विशेष उद्योत करने वाले अथवा लोक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले—बताने वाले, अभय देने वाले, श्रद्धा-ज्ञान-रूप नेत्र के दाता, धर्म (चारित्र) मार्ग के दाता, जीवों पर दया रखने का उपदेश देने वाले, शरणदाता, बोधिदाता देशविरति, सर्वविरति रूप धर्म के दाता, धर्म के उपदेशक, धर्म के नायक, धर्म के सारथी, चतुर्गति रूप संसार का अंत करने वाले धर्म के चक्रवती, अव्याधात (प्रतिहत न होने वाले) केवल-ज्ञान-दर्शन के धारक, धाति कर्म रूपो छद्म के नाशक, रागादि आत्मशत्रुओं को जीतने वाले, कर्मशत्रुओं को जीतने के लिये अन्य जीवों को प्रेरित करने वाले, संसार-सागर से स्वयं तिरे हुए और दूसरों को तिरने का उपदेश देने वाले, बोध (केवल-ज्ञान) को प्राप्त करने वाले और उपदेश द्वारा दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, स्वयं कर्म-बंधन से मुक्त और उपदेश द्वारा दूसरों को मुक्त करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शिव—उपद्रव रहित, कल्याण रूप, अचल—अचल स्थान (सिद्धिस्थान) को प्राप्त हुए, अरुज—शारीरिक व्याधि वेदना से रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याब्रह्म, अपुनरावृत्ति—जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में जन्म नहीं होता, ऐसे पुनरागमन से रहित—सिद्धि गति नामक स्थान में स्थित सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो ।

धर्म की आदि करने वाले, तीर्थकर—(साधु-साध्वी शावक-आविका रूप) चतुर्विधि संघ-तीर्थ की स्थापना करने वाले, यावत् सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त करने की ओर अग्रसर श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो ।

तत्रस्थ अर्थात् जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत द्वीप में स्थित आमलकरुपा नगरी के आम्रशाल-वन चैत्य में विराजमान भगवान् को अप्रस्थ—यहाँ रहा हुआ मैं बंदना करता हूँ । वहाँ पर रहे हुए वे भगवान् यहाँ रहे हुए मुझे देखते हैं । इस प्रकार स्तुति करके बन्दन-नमस्कार किया । बंदन-नमस्कार करके फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया ।

सूर्यभिदेव की अभियोगिक देवों को आज्ञा

१०—तए णं तस्स सूर्याभस्स इमे एतारूपे अञ्जत्तियते चित्तिसे परियते मणोगते संक्ष्ये समुपज्जित्या ।

१. देखें सूत्र संख्या ९ (संबुद्धाणं ठाणं पद तक)

१०—तत्पश्चात् उस सूर्याभि देव के मन में इस प्रकार का यह आध्यात्मिक अर्थात् आन्तरिक, चिन्तित, प्रार्थित—प्राप्त करने योग्य, इष्ट और मनोगत—मन में रहा हुआ (मानसिक) संकल्प उत्पन्न हुआ ।

११—सेयं खलु मे समणे भगवं महावीरे जम्बुद्वीपे दीवे भारहे धासे आमलकप्पाए णथरीए
बहिया अम्बसालवणे चेहए अहापिङ्गिरुवं उगगहं उगिगिष्ठिता संजमेण तवसा अप्याणं भावेमाणे
विहरति, तं भगवफलं खलु तहाहचाणं भगवन्ताणं णाम-गोयस्स वि सवणयाए किमङ्गु पुण अभिगमण-
वन्दण-णमंसण-पदिपुरुष्ण-पञ्जुबासणयाए ? एगस्सवि आरियस्स धिमयस्स सुवयणस्स सवणयाए
किमङ्गु पुण विडलस्स अदृस्स गहणयाए ? तं गच्छामि णं समणे भगवं महावीरं वन्दामि णमंसामि
सवकारेमि सम्भाजेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेतियं पञ्जुबासामि, एयं मे पेच्छा हियाए सुहाए खमाए
णिस्तेयसाए अणुगमिष्ठिताए भविस्तति ति कट्टु एवं संयेहेइ, एवं संपेहिता आभिअोगे देवे सद्वायेइ
सद्वाविता एवं वयासो—

१२—जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में स्थित आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में
यथाप्रतिरूप—साधु के योग्य—अवग्रह को लेकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण
भगवान् महावीर विराजमान हैं । मेरे लिये थेह इह है । जब उद्दरूप भावकर्त्तै के मात्र नाम और
गोत्र के श्रवण करने का ही भगवफल होता है तो फिर उनके समक्ष जाने का, उनको बन्दन करने का,
नमस्कार करने का, उनसे प्रश्न पूछने का और उनकी उपासना करने का प्रसंग मिले तो उसके विषय
में कहना ही क्या है ?

आर्य पुरुष के एक भी धार्मिक सुवचन सुनने का ही जब भगवफल प्राप्त होता है तब उनके
पास से विपुल अर्थं-उपदेश ग्रहण करने के महान् फल की तो बात ही क्या है !

इसलिए मैं जाऊँ और श्रमण भगवान् महावीर को बन्दन करूँ, नमस्कार करूँ, उनका
सत्कार-सम्मान करूँ और कल्याणकारी होने से कल्याण रूप, सब अनिष्टों का उपशमन करने वाले
होने से मंगलरूप, त्रैलोक्याभिपति होने से देवरूप और सुप्रशस्त ज्ञान—केवलज्ञान वाले होने से चैत्य
स्वरूप उन भगवान् की पर्युपासना करूँ ।

ये (श्रमण भगवान् महावीर की पर्युपासना) मेरे लिये अनुगमी रूप से परलोक में हितकर,
मुख्यकर, क्षेमकर—शान्तिकर, निश्रेयस्कर—कल्याणकर मोक्ष प्राप्त कराने वाली होगी, ऐसा उनसे
(सूर्यभिदेव ने) विचार किया । विचार करके अपने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर
उनसे इस प्रकार कहा ।

दिवेचन—टीकाकार खम-क्षम का अर्थं संगति बताते हैं—क्षमाय संगतत्वाय (रायपसेणद्वय
पृ. १०२ आगमोदय समिति) । क्रोध की उपशांति की क्षमा कहते हैं और क्रोध की उपशांति सुख-
शांति—कल्याण करने वाली होने से यहाँ खमाए का क्षेमकर, शान्तिकर यह अर्थ लिया है ।

आभियोगिक देव—जैसे हमारे यहाँ घरेलू काम करने के लिये वेतनभोगी भूत्य—तौकर होते
हैं, उसी प्रकार की स्थिति देवलोक में आभियोगिक देवों की है । वे अपने स्वामी देव की आज्ञा का
पालन करने के लिये नियुक्त रहते हैं । अर्थात् अपने स्वामी देव की आज्ञा का पालन करने वाले
भूत्य—सेवक स्थानीय देवों को आभियोगिक देव कहा जाता है ।

१२—एवं खलु देवाणुपिया ! समणे भगवं महावीरे जंबुदीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नगरीए बहिता अंबसालवणे चेइए अहापडिलवं उग्गहुं उग्गिण्हता संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे चिह्नरह ।

तं गच्छह णं तुम्हे देवाणुपिया ! जंबुदीवं दीवं भारहे वासं आमलकप्पं णयरि अंबसालवणं चेहयं समणं भगवं महावीरं तिकखुतो आथाहिण पयाहिणं करेह, करेता वंबहु णमंसह, वंवित्ता णमंसित्ता साईं साईं नामगोयाईं साहेह, साहिता समणस्स भगवओ महावीरस्स सब्बओ समंता जोयणपरिमङ्डलं जं किञ्चि तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सबकरं वा असुईं वा अचोक्खं वा पूइअं दुष्टिभगन्धं तं सब्बं आमुणिय आमुणिय एगंते एहेह, एहेता — णज्ज्वेदगं णाइमट्टियं पविरलपक्षुसियं रथरेणुविणासणं दिव्यं सुरभिगंधो-दयवासं वासह, वासिता णिहयरयं णदुरयं भदुरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेह, करिता कुमुमस्त जाणु-स्सेहपमाणमित्तं ओहि वासं वासह, वासिता जलयथलयभ्रामुरपभूयस्स बिट्टुआइस्स दसद्ववणस्स कालागुरु-पवरकुन्दुरुक्क-सुरुक्क-धूव-मघमघंत-गंधुद्वयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्यं सुरवराभिगमणजोगां करेह, कारवेह, करिता य कारवेता य खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चपिणह ।

१२—हे देवानुप्रियो ! बात यह है कि यथाप्रतिरूप अवग्रह को ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर जम्बूदीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्रवर्ती आमल-कल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में विराजमान हैं ।

अतएव हे देवानुप्रियो ! तुम जाओ और जम्बूदीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में स्थित आमल-कल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर की दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा करो । प्रदक्षिणा करके बन्दन, नमस्कार करो । बन्दन, नमस्कार करके तुम अपने-अपने नाम और गोत्र उन्हें कह सुनाओ । तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के विराजने के आसपास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि में वास, पत्ते, काष्ठ, कंकड़-पत्थर, अपवित्र, मलिन, सड़ी-गली दुर्गन्धित वस्तुओं को अच्छी तरह से साफ कर दूर एकान्त स्थान में ले जाकर फेंक दो । इसके अनन्तर उस भूमि को पूरी तरह से साफ स्वच्छ करके इस प्रकार से दिव्य सुरभि-सुगंधित गंधोदक की वर्षा करो कि जिसमें जल अधिक न बरसे, कीचड़ न हो । रिमझिम-रिमझिम विरल रूप में नन्हीं-नन्हीं बूदें बरसें और धूल मिट्टी नष्ट हो जाये । इस प्रकार की वर्षा करके उस स्थान को निहितरज, नष्टरज, अष्टरज, उपशांतरज, प्रशांतरज वाला बना दो ।

जलवर्षा करने के अनन्तर उस स्थान पर सर्वत्र एक हाथ उत्सेध—जँचाई प्रमाण भास्वर चमकीले जलज और स्थलज पंचरंगे—रंग-बिरंगे सुगंधित पुष्पों की प्रचुर परिमाण में इस प्रकार से बरसा करो कि उनके बृन्त (उड़ियाँ) नीचे की ओर और पंखुड़ियाँ चित्त-ऊपर की ओर रहें ।

पुष्पवर्षा करने के बाद उस स्थान पर अपनी सुगंध से मन को आकृष्ट करने वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरुष्क तुरुष्क (लोभान) और धूप को जलाओ कि जिसकी सुगंध से सारा वातावरण मधमधा जाये—महक जाये, श्रेष्ठ सुगंध-समूह के कारण वह स्थान गंधवट्टिका-गंध की गोली के समान बन जाये, दिव्य सुरवरों—उत्तम देवों के अभिगमन योग्य हो जाये, ऐसा तुम स्वयं करो और दूसरों से करवाओ । यह करके और करवा कर शीघ्र भेरी आज्ञा वापस मुझे लौटाओ अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की मुझे सूचना दो ।

विवेचन—प्राचीन काल में भूत्यवर्ग का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था, यह बात जैन शास्त्रों के बर्णन से स्पष्ट है। उन्हें कौटुम्बिक पुरुष—परिवार का सदस्य समझा जाता था और सम्राट् से लेकर सामान्य जन तक उन्हें 'देवानुप्रिय' जैसे विष्टजनोचित शब्दों से संबोधित करते थे। ऐसे शब्द-प्रयोगों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय अपने स्तर से भी कम स्तर वाले व्यक्तियों के प्रति विष्ट सभ्य, सुसंस्कृतजनोचित वचन व्यवहार की परंपरा थी।

आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन

१३— तए ण ते आभियोगिका देवा सूरियाभेण देवेण एवं दुत्ता समाणा हुतुहु जाव (चित्त-माणिदिया, पीड़मणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाण) हियथा करयलपरिगगहियं दसमहं सिर-सावसं भृथाए अञ्जलि कट्टु 'एवं देवो ! तहत्ति' आणाए विणएण वयणं पडिसुणंति, 'एवं देवो तहत्ति' आणाए विणएण वयणं पडिसुणेत्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमिस्ता वेडवियसमुग्धाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं वण्णं निसिरंति, तं ज्ञहा—रयणाणं वयराणं वेहलियाणं लोहियक्खाणं प्रसारगल्लाणं हंसगङ्घाणं पुलगाणं सोमंधियाणं जोईरसाणं अंजणाणं अंजणपुलगाणं रयणाणं जायरुद्धाणं अङ्काणं फलिहाणं रिद्वाणं अहाबायरे पुग्गले परिजाडंति, परिसाडित्ता अहासुहमे पुग्गले परियायंति, परियाइत्ता दोहचं पि वेडविय-समुग्धाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता उत्तरवेडवियाइं रुवाइं वित्तवंति, वित्तवित्ता ताए उक्किट्टुए तुरियाए चक्कलाए चंडाए जघणाए सिंघाए उवधूयाए दिव्वाए देवगर्द्दीए तिरियं असंखेज्जाणं दीक्षसमुद्धाणं भज्जामउभेण वीईवयमाणे जेणेव अंबुदीवे दीवे, जेणेव भारहे वासे, जेणेव आमलकप्पा णयरो, जेणेव अंबसालवणे चेतिए, जेणेव समणे भगवं महादीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छुत्ता समणं भगवं महादीरं तिव्युत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, वंवंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासि—'अम्हे ण भंते ! सूरियाभस्स देवस्स आभियोगा देवा देवाणुपियाणं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेश्वो कल्लाणं भगवं चेहयं पञ्जुवासामो ।

१३—तत्पश्चात् वे आभियोगिक देव सूर्याभदेव की इस आज्ञा को सुन कर हर्षित हुए, सन्तुष्ट हुए, यावत् (आनंदित चित्त वाले हुए, उनके मन में प्रीति उत्पन्न हुई, परम प्रसन्न हुए और हर्षातिरेक से उनका) हृदय विकसित हो गया। उन्होंने दोनों हाथों को जोड़ मुकलित दस नखों के द्वारा किये गये सिरसावर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके 'हे देव-स्वामिन् ! आपकी आज्ञा प्रमाण' कहकर विनयपूर्वक आज्ञा स्वीकार की। 'हे देव ! ऐसा ही करेंगे' इस प्रकार से सविनय आज्ञा स्वीकार करके उत्तर-पूर्व दिम्भाग (ईशान कोण) में गये। ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके संख्यात योजन का रत्नमय दंड बनाया। रत्नों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कर्कतन रत्न, (२) वज्र-रत्न, (३) वैद्युर्यरत्न, (४) लोहिताक्ष रत्न, (५) मसारगल्ल रत्न, (६) हंसगर्भ रत्न, (७) पुलक रत्न, (८) सौमत्रिक रत्न, (९) ज्योति रत्न, (१०) अंजनरत्न (११) अंजनपुलक रत्न, (१२) रजत रत्न, (१३) जातरूप रत्न, (१४) अंक रत्न, (१५) स्फटिक रत्न, (१६) रिष्ट रत्न। इन रत्नों के यथा बादर (असार-अयोग्य) पुद्गलों को अलग किया और किरणयामूर्द्ध (सारभूत) पुद्गलों को ग्रहण किया, अहण करके पुनः दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा की।

उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा करके अर्थात् अपना-अपना वैक्रियलब्धिजन्य उत्तर वैक्रिय शरीर बनाकर वे उत्कृष्ट त्वरा वाली, चपल, अत्यन्त सीव्र होने के कारण चंड, जबन-वेगशील, आँखी जैसी तेज दिव्य गति से तिरछे-तिरछे स्थित असंख्यात द्वीप समुद्रों को पार करते हुए जहाँ जम्बूद्वीपवर्ती भारतवर्ष की आमलकत्पा नगरी थी, आग्राशालवन चैत्य था और उसमें भी जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आये ।

वहाँ आकर श्रमण भगवान् भहावीर की तीन बार आदक्षिण—दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा की, उनको वंदन-नामकार किया और उनके नामकार तरह इस प्रकार कहा—

हे भद्रन्त ! हम सूर्याभिदेव के आभियोगिक देव आप देवानुप्रिय को वंदन करते हैं, नमस्कार करते हैं, आप का सत्कार-सम्मान करते हैं एवं कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप आप देवानुप्रिय की पर्युपासना करते हैं ।

विवेषन—मूल शरीर को न छोड़कर अर्थात् मूल शरीर में रहते हुए जीवप्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्धात कहते हैं । वेदना आदि सात कारणों से जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने के कारण समुद्धात के सात भेद हैं । उनमें से यहाँ वैक्रिय समुद्धात का उल्लेख है । यह वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित है । वैक्रियलब्धि वाला जीव विक्रिया करते समय अपने आत्मप्रदेशों को विष्कंभ और भोटाई में शरीर परिमाण और ऊँचाई में संख्यात योजन प्रमाण दंडाकार रूप में शरीर से बाहर निकालता है ।

वैक्रियलब्धि से पृथक् विक्रिया भी होती है और अपृथक् भी । आभियोगिक देवों ने पहले पृथक् विक्रिया द्वारा दंड और उसके पश्चात् दूसरी बार अपने-अपने उत्तर रूप की विकुर्वणा की । इसलिए यहाँ दो बार वैक्रिय समुद्धात करने का उल्लेख किया है ।

गति की तीव्रता बताने के लिए यहाँ उविकट्टाए आदि समान भाव वाले अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार की वाक्यपद्धति प्राचीन वैदिक व बौद्ध ग्रंथों में भी देखने को मिलती है । समानार्थक विभिन्न शब्दों का प्रयोग विवक्षित भाव पर विशेष भार ढालने के लिये किया जाता है । आज भी इस पद्धति के प्रयोग देखने में आते हैं ।

१४—'देवा' इ समणे भगवं महावीरे ते देवे एवं ददासी—पोराणमेयं देवा ! जीवमेयं देवा ! किञ्चमेयं देवा ! करणिङ्गमेयं देवा ! आचित्तमेयं देवा ! अऽभणुण्णायमेयं देवा ! जं णं भवणवद्व-वाणमन्तर-जोङ्गसिय-वेभाणिया देवा अरहते भगवंते वंवंति नवंसंति, वंदिता नमंसिता तओ साइं साइं णाम-गोयाइं साहिति, तं पोराणमेयं देवा ! जाव अऽभणुण्णायमेयं देवा !

१४—'हे देवो !' इस प्रकार से सूर्याभिदेव के आभियोगिक देवों को सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवों से कहा—हे देवो ! यह पुरातन है अर्थात् प्राचीनकाल से देवों में परम्परा से चला आ रहा है । हे देवो ! यह देवों का जीतकरुप है अर्थात् देवों की आचारपरम्परा है । हे देवो ! यह देवों के लिये कृत्य—करने योग्य कार्य है । हे देवो ! यह करणीय है अर्थात् देवों को करना ही चाहिये । हे देवो ! यह आचीर्ण है अर्थात् देवों द्वारा पहले भी इसी प्रकार से आचरण किया जाता रहा है । हे देवो ! यह अनुज्ञात है अर्थात् पूर्व के सब देवेन्द्रों ने संगत माना है कि भवनवासी,

वर्णव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव अरिहंत भगवन्तों को वन्दन-नमस्कार करते हैं। और वन्दन-नमस्कार करके अपने-अपने नाम-गोत्र कहते हैं, यह पुरातन है यावत् है देवो ! यह अभ्यनुज्ञात है ।

संबंधक वायु की विकृत्या

१५—तए ण ते आभिधोगिया देवा समग्रेण भगवया महावीरेण एवं बुत्ता समाणा हट्टु जाव^१ हिथया समणं भगवं यद्वावैर वंडनि णमन्ति, वंवित्ता णमन्तित्ता उत्तरपुरस्थिमं दिसीभागं अवक्कम्ति, अवक्कमित्ता वेउवियसमुद्धाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सिरंति । तं जहा—रययाणं जाव^२ रिट्टाणं अहाबायरे पोगले परिसाडंति, अहाबायरे पोगले परिसाङ्गित्ता दोच्चं पि वेउवियसमुद्धाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संबद्धयवाए विउव्वंति । से जहा नामए भइयदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायके थिरगगहृत्ये वठपाणिपायपिठंतरो-कपरिणए, घणनिचिथवद्वत्तियखंधे, चम्मेट्टुगदुघणमुट्टिसमाहयगत्ते, उरस्स बलसमन्नागए, तलजमल-जुयलबाहू लज्जण-पवण-जवण-पमहृणसमृथे छेए दब्ले पट्ठे कुसले मेधावी णिउणसिष्पोवगए एनं महं सलागाहृत्यगं वा दंडसंपुच्छणिं वा वेणुसलागिगं वा गहाय रायज्जणं वा रायतेपुरं वा वेवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरियं अचबलं असंभंतं निरंतरं सुन्नित्यं सव्यतो समंता संपमज्जेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियामस्स देवस्स आभिधोगिया वेवा संबद्धयवाए विउव्वंति, विउवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सध्वलो समंता जोयणपरिमंडलं जं किञ्चि तणं वा पत्तं वा तहेव सध्वं आहुणिय आहुणिय एगंते एङ्गेति, एङ्गित्ता खिष्पामेव उवसमंति ।

१५—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर उन आभिधोगिक देवों ने हषित यावत् विकसितहृदय होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके वे उत्तर-पूर्व दिग्भाग में गये । वहाँ जाकर उन्होंने वंक्रिय समुद्धात किया और वंक्रिय समुद्धात करके संख्यात योजन का दंड बनाया जो कक्तन यावत् रिष्टरत्नमय था और उन रत्नों के यथाबादर (असारभूत) पुद्गलों को अलग किया । यथाबादर पुद्गलों को हटाकर दुबारा वंक्रिय समुद्धात करके, जैसे—

कोई तरुण, बलवान, युगवान्-कालकृत उपद्रवों से रहित, युवा-युवावस्था वाला, जवान, रोग रहित—नोरोग, स्थिर पजे वाला—जिसके हाथ का अग्रभाग कांपता न हो, पूर्णरूप से दृढ़ पुष्ट हाथ पैर पृष्ठात्तर—पीठ एवं पसलियों और जंधाओं वाला, अतिशय निचित परिपुष्ट मांसल गोल कंधोंवाला, चम्मेष्टक (चमड़े से बेटित पत्थर से बना अस्त्र विशेष), मुद्गर और मुक्कों की भार से सधन, पुष्ट सुगठित शरीर वाला, आत्मशक्ति सम्पन्न, युगपत् उत्पन्न तालवृक्षयुगल के समान सीधी लम्बी और पुष्ट भुजाओं वाला, लांचने-कूदने-वेगपूर्वक गमन एवं मर्दन करने में समर्थ, कलाविज्ञ, दक्ष, पटु, कुशल, मेधावी एवं कार्यनिपुण भृत्यदारक सीकों से बनी अथवा मूठ वाली अथवा बांस की सीकों से बनी बुहारी को लेकर राजप्रांगण, अन्तपुर, देवकुल, सभा, प्याऊ, आराम अथवा उद्यान को बिना किसी घबराहट नपलता सम्भ्रम और आकुलता के निपुणतापूर्वक चारों तरफ से प्रभार्जित

१. सूत्र संख्या १३

२. सूत्र संख्या १३

करता है—बुहारता है, वैसे ही सूर्यभिदेव के उन आभियोगिक देवों ने भी संवर्तक वायु को विकुर्वणा की। विकुर्वणा करके श्रमण भगवान् महाबीर के आस-पास चारों ओर एक योजन—चार कोस के दृढ़गिर्द भूमाग में जो कुछ भी घास पत्ते आदि थे उन सभी को चुन-चुनकर एकान्त स्थान में ले जाकर फेंक दिया और फेंक कर शोध ही अपने कार्य से निवृत्त हुए।

अध्य-बादलों की विकुर्वणा

१६.—दोच्चं पि वेऽदिव्यसमुद्धाएणं समोहणंति, समोहणिता अद्भवद्वलए विउच्चंति । से जहाणामए भद्रगदारगे सिया तरुणे जाव^१ सिष्पोवगए एगं यहं वगवारमं वा, वगकुम्भगं वा, वगथालमं वा, वगकलसगं वा, गहाय आरामं वा जाव^२ यवं वा अतुरियं जाव सञ्चयतो समंता आवरि-सेउजा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभियोगिया देवा अद्भवद्वलए विउच्चंति, विउच्चित्ता खिष्पामेव पतणतणायंति, पतणतणाइत्ता खिष्पामेव विज्जुयायायंति, विज्जुयाइत्ता समणस्स भगवश्चो महाबीरस्स सब्बओ समंता जोवणपरिमंडलं णच्चोदगं णातिमट्टियं सं पविरलपफुसियं रथरेणुविणा-सणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं चासं वासंति, वासेत्ता णिहुयरयं, णहुरयं, भद्ररयं, उवसंतरयं, पसंतरयं, करेति, करित्ता खिष्पामेव उषसामंति ।

१६—इसके पश्चात् उन आभियोगिक देवों ने दुबारा वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके जैसे कोई तरुण यावत् कायंकुशल भृत्यदारक—सींचने वाला नौकर जल से भरे एक बड़े घड़े, वारक (मिट्टी से बने पात्र विशेष—चाढ़े) अथवा जलकुंभ (मिट्टी के घड़े) अथवा जल-स्थालक (कांसे के घड़े) अथवा जल-कलश को लेकर आराम-फुलबारी यावत् परव (प्याऊ) को बिना किसी उतावली के यावत् सब तरफ से सींचता है, इसी प्रकार से सूर्यभिदेव के उन आभियोगिक देवों ने आकाश में छुमड़-छुमड़कर गरजने वाले और विजलियों की चमचमाहट से युक्त मेघों की विक्रिया की और विक्रिया करके श्रमण भगवान् महाबीर के विराजने के स्थान के आस-पास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि में इस प्रकार से सुगन्धिन गंधोदक बरसाया कि जिससे न भूमि जल-बहुल हुई, न कीचड़ हुआ किन्तु रिमभिम-रिमभिम विरल रूप से बूँदाबांदी होने से उड़ते हुए रजकण दब गए। इस प्रकार की मेघ वर्षा करके उस स्थान को निहितरज, नज्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज, प्रशांतरज वाला बना दिया। ऐसा करके वे अपने कार्य से विरत हुए।

विवेचन—देवों द्वारा की गई उक्त मेघबादलों की विकुर्वणा से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में जल वर्षा के लिए कृत्रिम मेघों की रचना होती होगी। आज के वैज्ञानिकों द्वारा भी इस प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं और उनमें कुछ सफलता भी मिली है।

पुष्प-मेघों की रचना

१७.—तत्त्वं पि वेऽदिव्यसमुद्धाएणं समोहणंति पुष्कवद्वलए विउच्चंति, से जहाणामए मालागारदारए सिया तरुणे जाव^३ सिष्पोवगए एगं यहं पुष्कच्छजियं वा पुष्कपडलगं वा पुष्क-चंगेरियं वा गहाय रायझणं वा जाव^४ सञ्चयतो समंता कथगहगहियकरयलपवस्तुविष्पमुखकेण

१. सूत्र संख्या १५

२. सूत्र संख्या १५

३. देखें सूत्र संख्या १५

४. देखें सूत्र संख्या १५

आभियोगिक देवों का प्रत्यावर्तन]

वसद्वबन्नेण कुमुमेण मुक्कपुष्पपुं जोव्यारकलितं करेज्जा, एवामेव ते सूरियाभस्स देवस्स आभि-
योगिया देवा पुष्पवद्वलए विज्ञवंति खिष्पामेव पतणतणायंति जाव^१ जोयणपरिमंडलं जलयथलथ-
मासुरप्पमूयस्स बिटट्टाहस्स वसद्वबन्नकुमुमस्स जाणुसेहपमाणमेत्ति श्रोहि वासंति वासिता काला-
गुरुपवरकु दुखकतुरुक्कधृवमधमघंधुद्यामिरामं सुगंधवर्गंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्यं सुरवरामिश-
मणज्ञोगं कर्त्ति य कारवेत्ता य खिष्पामेव उवसामेति ।

१७—तदनन्तर उन आभियोगिक देवों ने तीसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके जैसे कोई तरण
यावत् कार्यकुशल मालाकारपुत्र एक बड़ी पुष्पद्वादिका (फूलों से भरी टोकरी) पुष्पपटलक (फूलों
की पोटली) अथवा पुष्पचंगेरिका (फूलों से भरी डलिया) से कचग्रहवत् (कामुकता से हाथों में
ली गई कामिनी की केश-राशि के तुल्य) फूलों को हाथ में लेकर छोड़े गए पंचरंगे पुष्पपुंजों को विश्वेर
कर रज-प्रांगण यावत् परव (प्याऊ) को सब तरफ से समलंकृत कर देता है, उसी प्रकार से पुष्प-
वर्षक बागलों की विकुर्वणा की । वे अम्र-बादलों की तरह गरजने लगे, यावत् योजन प्रमाण शोलाकार
भूमांग में दीप्तिमान जलज और स्थलज पंचरंगे पुष्पों को प्रभूत मात्रा में इस तरह बरसाया कि
सर्वत्र उनकी ऊँचाई एक हाथ प्रमाण हो गई एवं ढंडियाँ नीचे और पंखुड़ियाँ ऊपर रहीं ।

पुष्पवर्षा करने के पश्चात् मनमोहक सुगन्ध वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्तुरुष्क, तरुष्क-लोभान
और धूप को जलाया । उनकी मनमोहक सुगन्ध से सारा प्रदेश महकने लगा, श्रेष्ठ सुगन्ध के कारण
सुगन्ध की गुटिका जैसा बन गया । दिव्य एवं श्रेष्ठ देवों के अभिगमन योग्य हो गया । इस प्रकार
से स्वयं करके और दूसरों से करवा करके उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण किया ।

-आभियोगिक देवों का प्रत्यावर्तन

१८—जेणेव समजे भगवं महाबीरे तेणेव उवागच्छता समर्ण भगवं
महाबीरं तिक्खुस्तो जाव^२ वंदिता नमंसिता समर्णस्स भगवतो महाबीरस्स अंतियातो अंबसालवणातो
वेह्यातो पद्मनिवलमंति, पद्मनिवलमिता ताए उकिकट्टाए जाव^३ वीहवयमाणा वीहवयमाणा जेणेव
सोहम्मे कप्ये जेणेव सूरियामे विभाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव सूरियामे देवे तेणेव उवागच्छति
सूरियामं देवं करयलपरिगाहियं विरसावत्तं मत्थए अञ्जलि कट्टु जरुणं विजाएं वद्वावेति चद्वावेता
समाणत्तियं पच्चपिण्ठति ।

१९—इसके पश्चात् वे आभियोगिक देव श्रमण भगवान् महाबीर के पास आये । वहाँ आकर
श्रमण भगवान् महाबीर को तीन बार यावत् वंदन नमस्कार करके श्रमण भगवान् महाबीर के पास से,
आम्रशालवन चंत्य से निकले, निकलकर उत्कृष्ट गति से यावत् चलते-चलते जहाँ सीधर्म स्वर्गं था,
जहाँ सूर्यभि विभान था, जहाँ सुधर्मासभा थी और उसमें भी जहाँ सूर्यभिदेव था वहाँ आये और
दोनों हाथ जोड़ आवर्तं पूर्वक मस्तक पर अञ्जलि करके जय विजय घोष से सूर्यभिदेव का अभिनन्दन
करके आज्ञा को वापस लौटाया अर्थात् आज्ञानुसार कार्य पूरा करने की सूचना दी ।

१. देखें सूत्र संख्या १६

२. देखें सूत्र संख्या १३

३. देखें सूत्र संख्या १३

सूर्यभिदेव की उद्घोषणा एवं आदेश

१९—तए णं सुरियामे देवे तेसि आभियोगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्य हृतुद्ग
जाव^१ हियए पायत्ताणियाहिवहं देवं सद्वावेति, सद्वावेता एवं बवासी—

खिप्पामेव भो ! देवाणुप्तिया ! सूरियामे विमाणे सभाए सुहम्माए मेघोघरसियगम्भीरमहुर-
सद्व जोयणपरिमडलं सूसरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे उल्लालेमाणे महया महया सद्वेण उग्रधोसेमाणे
उग्रधोसेमाणे एवं वयाहि—आणवेति णं भो ! सूरियामे देवे, गच्छति णं भो ! सूरियामे देवे अंबुदीवे
दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए अंबसालवणे चेतिते समणं भगवं महावीरं अभिवंधए, तुडमेऽवि
णं भो ! देवाणुप्तिया ! सद्विद्वीए जाव [सद्वज्ञाईए सद्ववलेणं सद्वसमुद्देणं सद्वावरेण सद्वविभूईए
सद्वविभूताए सद्वसंभमेणं सद्व-पुष्ट-गंध-मल्लालंकारेणं सद्व-तुडिय-सद्व-सण्णिणाएणं महया इडुए,
महया जूईय, महया बलेणं महया समुद्देणं महया वर-तुडिय-जमगसमग-प्पवाइएणं संख-पणव-पङ्गह-
भेरि-मल्लरि-खरभुहि-हुडुक्क-मुरय-मुञ्ग-दुंडुहि-णिघोस] नाइतरवेण णियगपरिवालसद्विं संपरिवृडा
साति साति जाणविमाणाइं दुरुदा समाणा अकालपरिहीणं चेव सूरियामस्स देवस्स अंतिए पाउदभवह ।

२०—आभियोगिक देवों से इस अर्थ को सुनने के पश्चात् सूर्यभिदेव ने हसित, सन्तुष्ट यावत्
हर्षात्मिरेक मे प्रफुल्ल-हृदय हो पदाति-आनीकाधिपति (स्थलसेनापति) को बुलाया और बुलाकर
उससे कहा—

हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही सूर्यभि विमान की सुधर्मा सभा में स्थित मेघसमूह जैसी गम्भीर
मधुर शब्द करने वाली एक योजन प्रमाण गोलाकार सुस्वर घंटा को तीन बार बजा-बजाकर उच्चाति-
उच्च एवं नोषण-उद्दीपणा करते हुए यह कहो कि—

हे सूर्यभि विमान में रहने वाले देवो और देवियो ! सूर्यभिविमानाधिपति के हितकर और
सुखप्रद वचनों को सुनो—सूर्यभिदेव आज्ञा देता है कि देवो ! जम्बू द्वीप के भरत थोन में स्थित
आमलकल्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर की बदना करने के
लिए सूर्यभिदेव जा रहा है। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप लोग समस्त ऋद्धि यावत् (आभूषण)
आदि की काँति, बल (सेना) समुदय-अभ्युदय दिखावे अथवा अपने अपने आभियोगिक देवों के समुदाय,
आदर-सम्मान, विभूति, विभूषा, एवं भक्तिजन्य उत्सुकतापूर्वक सर्व प्रकार के पुष्पों, वेश-भूषाओं,
सुगन्धित पदार्थों, एक साथ बजाये जा रहे समस्त दिव्य वाद्यों—शंख प्रणव, (ढोलक), पटह (नगड़ा),
भेरी, भालर, खरमुखी, हुडुक्क, मुरज (तबला), मृदंग एवं दुन्दुभि आदि निर्घोष के साथ) अपने-
अपने परिवार सहित अपने-अपने यान-विमानों में बैठकर बिना विलंब के—अविलंब, तत्काल सूर्यभि
देव के समक्ष उपस्थित हो जाओ ।

२१—तए णं से पायत्ताणियाहिवती देवे सूरियामेण देवेण एवं बूते समाणे हृतुद्ग जाव^२
हियए एवं देवो ! तहति आण्णाए विणएणं वयणं पडिसुणेति, पडिसुणित्ता जेणेव सूरियामे विमाणे
जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव मेघोघरसियगम्भीरमहुरसद्वा जोयणपरिमडला सुस्सरा घंटा लेणेव

१. देखें सूत्र संख्या १३

२. देखें सूत्र संख्या ८

उवागच्छति, उवागच्छता ते मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुस्सरं धंटं तिक्खुत्तो उल्लासेति ।

तए णं तीसे मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दाए जोयणपरिमंडलाए सुस्सराए धंटाए तिक्खुत्तो उल्लालियाए समाणीए से सूरियाभे विमाणे पात्तायविमाणणिषखुडावडियसद्धंटापडिसुयासयसहस्र-संकुले जाए आइवि होत्था ।

२०— तदनन्तर सूर्यभिदेव द्वारा इस प्रकार से आज्ञापित हुआ वह पदात्यनीकाद्यिपति देव सूर्यभिदेव की इस आज्ञा को सुनकर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्ल-हृदय हुआ और 'हे देव ! ऐसा ही होगा' कहकर विनयपूर्वक आज्ञावचनों को स्वीकार करके सूर्यभि विमान में जहाँ सुधर्मा सभा थी और उसमें भी जहाँ मेघमालावत् गम्भीर मधुर ध्वनि करने वाली योजन प्रमाण गोल सुस्वर धंटा थी, वहाँ आकर मेघमाला जंसी गम्भीर और मधुरध्वनि करने वाली उस एक योजन प्रमाण गोल सुस्वर धंटा को तीन बार बजाया ।

तब उस मेघमालासदृश गम्भीर और मधुर ध्वनि करने वाली योजन प्रमाण गोल सुस्वर धंटा के तीन बार बजाये जाने पर उसकी ध्वनि से सूर्याभि विमान के प्रासादविमान आदि से लेकर कोने-कोने तक के एकान्तशांत स्थान लाखों प्रतिध्वनियों से गूँज उठे ।

विषेष्वन—अधिक से अधिक बारह योजन की दूरी से आया हुआ शब्द ही ओऽन्द्रिय द्वारा शहण किया जा सकता है । मगर सूर्यभि विमान तो एक लाख योजन विस्तार वाला है । ऐसी स्थिति में धंटा का शब्द सर्वत्र कैसे सुनाई दिया ? इस प्रश्न का समाधान मूलपाठ के अनुसार ही यह है कि धंटा के नाड़न करने पर उत्पन्न हुए शब्द-पुद्गलों के इघर-उधर टकराने से तथा दैवी प्रभाव से, लाखों प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न हो गईं । उनसे समग्र सूर्यभि विमान व्याप्त हो गया और विमानवासी सब देवों-देवियों ने शब्द श्रवण कर लिया ।

२१— तए णं तेसि सूरियाभविमाणवासिणं ब्रह्मणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य एगंतरइ-पसत्तनिच्चप्यस्सद्विस्यसुहमुच्छ्याणं सूस्सरधंटारवविउलबोलतुरियच्चवलपडिबोहणे काए समाणे घोसण-कोउहल-दिश्चक्षणाग्रगच्चत्त-उवज्ज्ञतमाणसाणं से पायत्ताणीयाहृष्टई देवे तंसि धंटारवंसि णिसंत-पसंतंसि महया महया सद्देणं उद्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदासी—

हंद ! सुणन्तु भवतो सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सूरियाभ-विमाणवहणो वयणं हियसुहृत्थं—

आणवेह णं भो ! सूरियाभे देवे, गच्छह णं भो ! सूरियाभे देवे जंबुदीवं बोवं भारहं वासं आमलकप्यं नगरि अंबसानवणं चेहयं समणं भगवं महावीरं अभिवंदए; तं तु ब्लेडवि णं वेमाणुपिया ! सविवड्होए अकालपरिहीणा चेद सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउव्वमध्यह ।

२२— तब उस सुस्वर धंटा की गम्भीर प्रतिध्वनि से एकान्त रूप से अर्थात् सदा सर्वदा रति-क्रिया (काम भोगों) में आसक्त, नित्य प्रमत्त, एवं विषयमुख में मूच्छत सूर्यभिविमानवासी देवों और देवियों ने धंटानाद से शीघ्रातिशीघ्र प्रतिबोधित-सावधान-जाग्रत होकर घोषणा के विषय में उत्पन्न कीतूहल की शांति के लिए कान और मन को केन्द्रित किया तथा धंटारव के शांत-

प्रशांत (बिलकुल शांत) हो जाने पर उस पदात्यानीकाधिपति देव ने जोर-जोर से उच्च शब्दों में उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहा—

आप सभी सूर्यभिविमानवासी वैमानिक देव और देवियाँ सूर्यभि विमानाधिपति की इस हितकारी सुखप्रद घोषणा को हर्षपूर्वक सुनिये—

हे देवानुप्रियो ! सूर्यभिदेव ने आप सबको आज्ञा दी है कि सूर्यभिदेव जम्बूद्वीप नामक द्वीप में वर्तमान भरतक्षेत्र में स्थित आमलकल्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महार्वीर को बन्दना करने के लिए जा रहे हैं। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप सभी समस्त ऋद्धि से युक्त होकर अविलम्ब—तत्काल सूर्यभिदेव के समक्ष उपस्थित हो जायें।

सूर्यभिदेव की घोषणा की प्रतिक्रिया

२२—तए ण ते सूरियाभविमाणवासिणो बहुवे वेमाणिया वेवा वेबीओ य पायत्ताणिया-हिवहस्त वेवस्त अंतिए एयमहुँ सोच्चा णिसम्म हट्टुत्तु जाव^१ हियथा अप्येगहया बंदणवत्तियाए, अप्येगहया पूयणवत्तियाए, अप्येगहया सक्कारवत्तियाए अप्येगहया संमाणवत्तियाए, अप्येगहया कोउहल-जिणभत्तिरागेण, अप्येगहया सूरियाभस्त वेवस्त बयणमण्यत्तेमाणा, अप्येगहया अस्मुयाइं सुणेस्सामो, अप्येगहया सुयाइं निसंकियाइं करिस्सामो, अप्येगतिया अन्नमन्नमण्यत्तमाणा, अप्येगहया जिणभत्तिरागेण, अप्येगहया 'अम्मो' त्ति, अप्येगहया 'जीयमेय' ति कट्टु सविवड्ढोए जाव^२ अकालपरिहीणा वेव सूरियाभस्त वेवस्त अंतियं पाउवभवंति ।

२२—तदनन्तर पदात्यनोकाधिपति देव से इस बात (सूर्यभिदेव की आज्ञा) को सुनकर सूर्यभिविमानवासी सभी वैमानिक देव और देवियाँ हर्षित, सञ्चुष्ट यावत् विकसितहृदय हो, कितने ही बन्दना करने के विचार से, कितने ही पर्युपासना करने की आकौश्चा से, कितने ही सत्कार करने की भावना से, कितने ही सम्मान करने की इच्छा से, कितने ही जिनेद्र भगवान् के प्रति कुतूहलजनित भक्ति-अनुराग से, कितने ही सूर्यभिदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, कितने ही अश्रुतपूर्व (जिसको पहले नहीं सुना) को सुनने की उत्सुकता से, कितने ही सुने हुए अर्थविषयक शंकाओं का समाधान करके निःशंक होने के अभिप्राय से, कितने ही एक दूसरे का अनुसरण करते हुए, कितने ही जिन-भक्ति के अनुराग से, कितने ही अपना धर्म (कर्त्तव्य) मानकर और कितने ही अपना परम्परागत व्यवहार समझकर सर्व ऋद्धि के साथ यावत् बिना किसी विलम्ब के तत्काल सूर्यभिदेव के समक्ष उपस्थित हो गये ।

विवेचन- यहाँ मानवीय रुचि की विविधरूपता का चित्रण किया गया है कि कार्य के एक समान होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसमें प्रवृत्त होता है। इसीलिए लोक को विभिन्न रुचि वाला बताया गया है। जैनसिद्धान्त के अनुसार इस प्रकृति—स्वभाव-जन्य विविधता का कारण कर्म है—‘कर्मजं लोकवैचित्र्यं तत्स्वभावानुकारणम् ।’

सूर्यभिदेव द्वारा विमाननिर्माण का आदेश

२३—तए ण सूरियामे वेवे ते सूरियाभविमाणवासिणो बहुवे वेमाणिया वेवा य वेबीओ य

१. देखें सूत्र मंड्या ११

अकालपरिहीणा चेत्प्रभुत्वं पाउवन्नमाणे पासति, पासिसा हुतुद्व जाव' हियए आसिओगियं देवं सहावेति, सद्गवित्ता एवं व्यासी—

सहायता, सद्विषयता इव द्वयात् ।
खिप्पामेव भो ! देवाणुपिष्ठा । अणेगखमभसयसंनिविट्ठं लीलट्रियसालभंजियागं, ईहामिय-
उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-बालग-किनर-रुह-सरभ-चमर-कुङ्जर-वणलय-पउभलय-भत्तिचित्तं खंभग-
यवइरवेह्यापरिगद्याभिरामं विजाहृजमलज्युलजंतजुत्पिय श्रुच्चवीसहस्रमालणीयं स्वयमसहस्रकलियं
भिसमाणं भिक्षिभसमाणं अष्टखुत्त्वोयणलेसं सुहफासं सर्सिसरीयरुचं घण्टावलिचलियमहृमणहरसरं सुहं
कलनं दरिसणिडजं गिउणउचियभिलिभिसितमणिरथणघणियाजालपरिविष्टतं जोयणसधसहस्रवित्थणं
दिव्यं गमणसज्जं सिगद्यगमणं णाम जाणविमाणं विउच्चाहि, विजवित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं
पच्चपिणाहि ।

२३ इसके पश्चात् विलम्ब किये बिना उन सभी सूर्यभिविमानवासी देवों और देवियों को अपने सामने उपस्थित देखकर हृष्ट-तुष्ट धावत् प्रफुल्लहृदय हो सूर्यभिदेव ने अपने आभियोगिक देव को बलाया और बूलाकर उससे इस प्रकार कहा—

इस प्रकार के यात्-विमान की विकृत्या-रचना करके हमें शीघ्र ही इसकी सूचना दो ।

२४—तए ण से आभिअोगिए देवे सुरियाभेण वेवेण एवं बुत्ते समाणे हठु जाव^३ हियए करयल-परिगहियं जाव^३ पडिसुणेह जाव^४ पडिसुणेता उत्तरधुरत्थिमं दिसीभाणं अवककमति, अवककमित्ता वेउवियसमुद्धाएणं समोहणइ समोहणिता संलेजजाइ जोयणाइ जाव^५ अहाबाघरे पोगले परिसाडति परिसाडिसा अहासुहुमे पोगले परियाइ परियाइता बोच्चं पि वेउविय समुद्धाएणं समोहणिता अणेगखुस्मसयसमिक्षिटनं जाव^६ विवं जाणविमाणं विविवितं पवत्ते यावि होत्या ।

१. देखें सब संख्या व-

२. देखें सूत्र संख्या १३

३. देखें सब संघर्ष १३

४. देखें सब संख्या १३

५. देखें सब संख्या १३

६. देखें सब संख्या २३

२४—तदनन्तर वह आभियोगिक देव सूर्यभिदेव द्वारा इस प्रकार का आदेश दिये जाने पर हृषित एवं सन्तुष्ट हुआ यावत् प्रकुल्ल हृदय हो दोनों हाथ जोड़ यावत् आज्ञा को सुना यावत् उसे स्वीकार करके वह उत्तर-पूर्व दिशा—ईशानकोण में आया। वहाँ आकर धैक्षिय समुद्घात किया और समुद्घात करके संख्यात योजन ऊपर-नीचे लंबा दण्ड बनाया यावत् यथावादर (स्थूल-असार) पुद्गलों को अलग हटाकर भारभूत सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण किया, ग्रहण करके दूसरी बार पुनः धैक्षिय समुद्घात करके अनेक संकड़ों स्तम्भों पर समिविष्ट यावत् दिव्ययान-विमान की विकुर्वणा (रचना) करने में प्रवृत्त हो गया।

आभियोगिक देवों द्वारा विमान रचना

२५—तए ण से आभिक्षोगिए देवे तस्स दिव्यस्स जाणविमाणस्स तिविसि तिसोवाणपदिव्यवए विउव्वति, तंजहा—पुरत्पिमेण, वाहिणेण, उत्तरेण, तेसि तिसोवाणपदिव्यगाण इमे एयाहुवे वण्णावासे पण्णरे, तं अहा—

वद्वरामया णिम्मा, रिद्वामया पतिद्वाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवण्ण-रूपमया फलगा लोहितक्षमहयाओ सूईओ, वयरामया संधी, णाणामणिमया अवलंबणा, अवलंबणबाहाओ य, पासादीया जाव^१ पदिव्या।

२५—इसके अनन्तर (विमान रचना के लिए प्रवृत्त होने के अनन्तर) सर्वप्रथम आभियोगिक देवों ने उस दिव्ययान-विमान की तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण और उत्तर में विशिष्ट रूप-शोभासम्पन्न तीन सोपानों (सोङ्गियों) वाली तीन सोपान पंक्तियों की रचना की। वे रूपशोभा सम्पन्न सोपान पंक्तियाँ इस प्रकार की थीं—

इनकी नेम (भूमि से ऊपर निकला प्रदेश, वेदिका) वज्ररत्नों से बनी हुई थी। रिष्ट रत्नमय इनके प्रतिष्ठान (पैर रखने को स्थान) और वैद्युत रत्नमय स्तम्भ थे। स्वर्ण-रजन मय फलक (पाटिये) थे। लोहिताक्ष रत्नमयी इनमें सूचियाँ—कीले लगी थीं। वज्ररत्नों से इनकी संधियाँ (साँझे) भरी हुई थीं, चढ़ने-उत्तरने में अवलंबन के लिये अनेक प्रकार के मणिरत्नों से बनी इनकी अवलंबनबाहा थीं तथा ये त्रिसोपान पंक्तियाँ मन को प्रसन्न करने वाली यावत् असाधारण सुन्दर थीं।

२६—तेसि ण तिसोवाणपदिव्यगाण पुरओ पत्तेवं पत्तेवं तोरणं पण्णत्तं, तेसि ण तोरणाण इमे एयाहुवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमएसु थम्भेसु उवनिविद्वसंनिविद्वा विविहमुत्तरारुवोवचिया विविहतारारुवोवचिया जाव पासाद्या दरिसणिज्जा, अभिरूपा पदिव्या।

२६—इन दर्शनीय मनमोहक प्रत्येक त्रिसोपान-पंक्तियों के ग्रामे तोरण बंधे हुए थे। उन तोरणों का वर्णन इस प्रकार का है—

वे तोरण मणियों से बने हुए थे। गिर न सकें, इस विचार से विविध प्रकार के मणिमय स्तम्भों के ऊपर भली-भांति निश्चल रूप से बांधे गये थे। बीच के अन्तराल विविध प्रकार के मोतियों से निमित रूपकों से उपशोभित थे और सलमा सितारों आदि से बने हुए तारा-रूपकों—बेल कूटों से व्याप्त यावत् (मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप-मनाकर्षक और) अतीव मनोहर थे।

१. देखें सूत्र संख्या १

२७—तेसि णं तोरणाणं उप्य अद्बुद्ध भद्रसगा पण्णता, तंजहा—सोत्थिय-सिरिवच्छ-णन्दियावत्-बद्धमाणग-भद्रासण-कलस-मच्छ-वप्यणा जाव (सध्वरयणमया अछ्या, सण्हा, लण्हा, घट्टा, चट्टा, नीरथा निम्मला, निपंका, निष्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउच्जोया पासादीया दरिसणिज्ञा अभिरुचा) पडिरुवा ।

२८—उन तोरणों के ऊपरी भाग में स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दिकावर्त, बद्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुगल और दर्पण, इन आठ-आठ मांगलिकों की रचना की । जो (सर्वात्मना रत्नों से निमित अतीव स्वच्छ, चिकने, धृष्टि, मृष्ट, नीरज, निर्मल निष्कलंक, दीप्त प्रकाशमान चमकीले शीतल प्रभायुक्त मनाह्लादक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप थे ।

२९—तेसि च णं तोरणाणं उप्य बहुवे किणहचामरज्ञया जाव (नीलचामरज्ञया, लोहियचामरज्ञया, हालिद्वचामरज्ञया) सुविकल्पामरज्ञया अच्छ्या सण्हा रुप्पपट्टा वहरदण्डा जलयामलगन्धिया सुरभा पासादीया दरिसणिज्ञा अभिरुचा पडिरुवा विजव्वति ।

२८—उन तोरणों के ऊपर स्वच्छ, निर्मल, सलीनी, रजतभय पट्ट से शोभित वज्रनिर्मित ढंडियों वाली, कमलों जैसी सुरभि गंध से सुगंधित, रमणीय, आह्लादकारी, दर्शनीय मनोहर अतीव मनोहर बहुत सी कृष्ण चामर छवजाओं यावत् (नील चामर छवजाओं, लाल चामर छवजाओं, पीली चामर छवजाओं और) श्वेत चामर छवजाओं की रचना की ।

२९—तेसि णं तोरणाणं उप्य बहुवे छत्तातिष्ठते, पडाग्राहपडागे, घंटाजुगले, उप्पलहृत्थए, कुमुद-जलिण-सुभग-सोगंधिय-पौडरीय-महापौडरीय-सतपत्त-सहस्रपत्तहृत्थए, सध्वरयणामए अच्छें जाव पडिरुवे विजव्वति ।

२९—उन तोरणों के शिरोभाग में निर्मल यावत् अत्यन्त शोभनीय रत्नों से बने हुए अनेक छातिष्ठवों (एक छत्र के ऊपर दूसरा छत्र) पताकातिपताकाओं चंटायुगल, उत्पल (श्वेतकमल) कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुँडरीक, महापुँडरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र कमलों के भूमकों को लटकाया ।

३०—साए ण से आधियोगिए देवे तस्स दिव्यस्स जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्ञं भूमिभागं विजव्वति । से जहाणामए आलिंगपुक्खरे ति वा, मुहंगपुक्खरे इ वा, परिपुणे सरत्तले इ वा, करत्तले इ वा, चंदमंडले इ वा, सूरमण्डले इ वा, आयंसमंडले इ वा, उरबच्चम्से इ वा, वसहच्चम्से इ वा, बराहच्चम्से इ वा, वग्धच्चम्से इ वा, छगलच्चम्से इ वा, दीवियच्चम्से इ वा, ग्रणेय-संकुकोलगसहस्रवित्ते, णाणाविहपंचवन्नेहि मणीहि उवसोभिते आवड-पच्चावड-सेहि-पसेहि-सोत्थिय-सोवलिथ्य-पूसमाणव-बद्धमाणग-भच्छंडग-भगरडग-जार-मार-फुल्लावलि-पउमपत्त-लागर-तरंग-वसंतलय-पउमलय-भत्तिचित्तेहि सच्छाएहि सप्पभेहि समरीइएहि सउच्जओएहि णाणाविह-पंचधण्णेहि मणीहि उवसोभिए तं जहा—किण्हेहि णीलेहि लोहिएहि हालिद्वेहि सुविकल्लेहि ।

३०—सोपानों आदि की रचना करने के अनन्तर उस आधियोगिक देव ने उस दिव्ययान-विमान के अन्दर एकदम समतल भूमिभाग-स्थान की विश्रिया की । वह भूमाग आलिंगपुक्खर

(मुरज का ऊपरी भाग) मृदंग पुष्कर, पूर्ण रूप से भरे हुए सरोवर के ऊपरी भाग, करतल (हथेली), चन्द्रमंडल, सूर्यमंडल, दर्पण मंडल अथवा शंकु जैसे बड़े-बड़े खीलों को ठोक और खीचकर चारों ओर से सम किये गये भेड़, बैल, सुअर, सिंह, व्याघ्र, बकरी और भेड़िये के चमड़े के समान अत्यन्त रमणीय एवं समया ।

वह सम भूमिभाग अनेक प्रकार के आधर्त, प्रत्यावर्त्त, शेणि, प्रश्नेणि, स्वस्तिका, पुष्यमाणव, शराबसंपुट, मत्स्यांड, मकराण्ड जार, मार आदि शुभलक्षणों और कृष्ण, नील, लाल, पीले और श्वेत इन पांच वर्णों की मणियों से उपशोभित था और उनमें कितनी ही मणियों में पुष्पलताओं, कमल-पत्रों, समुद्रतरंगों, वसंतलताओं, पद्मलताओं आदि के चिनाम बने हुए थे तथा वे सभी मणियां निर्मल, चमकदार किरणों वाली उद्घोत-शीतल प्रकाश वाली थीं ।

मणियों का वर्ण

३१—तत्थ णं जे ते किञ्छा मणी तेसि णं मणीणं इमे एतारुवे वण्णावासे पण्णते, से जहा—
नामए जीमूतए इ वा, खंजणे इ वा, अंजणे इ वा, कज्जले इ वा, मसो इ वा, मसोगुलिया इ वा, गबले
इ वा, गबलगुलिया इ वा, भमरे इ वा, भमरावलिया इ वा, भमरपतंगस्तारे ति वा, जंबूफले ति वा,
अद्वारिट्ठे इ वा, परपुट्ठे इ वा, गए इ वा, गयकलभे इ वा, किञ्छुसप्ये इ वा, किञ्छुकेसरे इ वा, आगास-
यिगले इ वा, किञ्छुसोए इ वा, किञ्छुकणवीरे इ वा, किञ्छुबंधुजीवे इ वा, एयारुवे सिया ?

३२—उन मणियों में की कृष्ण वर्ण वाली मणियाँ क्या सचमुच में सघन मेघ घटाओं, अंजन-
सुरमा, खंजन (गाढ़ी के पहिये की कीच) काजल, काली स्याही, काली स्याही की गोली, भैसे के
सींग की गोली, भ्रमर, भ्रमर पंक्ति, भ्रमर पंख, जामुन, कच्चे श्रीठे के बीज अथवा कौए के बच्चे
कोयल, हाथी, हाथो के बच्चे, कृष्ण सर्प, कृष्ण बकुल शरद ऋतु के मेघरहित आकाश, कृष्ण अशोक
बृक्ष, कृष्ण कनेर, कृष्ण बंधुजीवक (दोपहर में फूलने वाला वृक्ष-विशेष) जैसो काली थीं ?

३२—ओ इण्ट्ठे समद्धे, श्रोवस्मं समणाउओ ! ते ण किञ्छा मणी इत्तो इट्टतराए चेव
कंततराए चेव, मणुण्णतराए चेव, मणामतराए चेव वण्णेणं पण्णता ।

३२—हे आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नहीं है—ऐसा नहीं है । ये सभी तो उपमायें हैं ।
वे काली मणियाँ तो इन सभी उपमाओं से भी अधिक इष्टतर कांततर (कांति-प्रभाववाली) मनोशतर
और अतीव मनोहर कृष्ण वर्ण वाली थीं ।

३३—तत्थ णं जे ते नीला मणी तेसि णं मणीणं इमे एयारुवे वण्णावासे पण्णते, से जहानामए
भिंगे इ वा, भिंगपत्ते इ वा, सुए इ वा, सुयपिच्छे इ वा, चासे इ वा, चासपिच्छे इ वा, णीली इ वा,
णीलीभेवे इ वा, णीलीगुलिया इ वा, सामाए इ वा, उच्चन्तगे इ वा, वणराती इ वा, हलधरवसणे इ वा,
मोरगोदा इ वा, पारेवयगोदा इ वा, अयसिकुसुमे इ वा, बाणकुसुमे इ वा, अंजणकेसिया कुसुमे इ वा,
नीलुष्पले इ वा, नीलासोगे इ वा, णीलकणवीरे इ वा, णीलबंधुजीवे इ वा, भवे एयारुवे सिया ?

३३—उनमें की नील वर्ण की मणियाँ क्या भृंगकीट, भृंग के पंख, शुक (तीता), शुकपंख,
चाष पक्षी (चातक), चाष पंख, नील, नील के अंदर का भाग, नील गुटिका, सांवा (धान्य), उच्चन्तक

मणियों का वर्ण।

(दांतों की नीला रंगने का चूर्ण), बनराजि, बलदेव के पहनने के वस्त्र, मोर की गर्दन, क्यूतर की गर्दन, अलसी के फूल, बाणपुष्प, अंजनकेशी के फूल, नीलकमल, नीले अशोक, नीले कनेर, और नीले बंधुजीवक जैसी नीली थीं ?

३४—णो इण्डु समद्वे, ते णं भीता मणी एरो इटुतराए गेव जाव^१ वण्णेण पण्णता ।

३४—यह अर्थ समर्थ नहीं है—यह ऐसा नहीं है। वे नीली मणियाँ तो इन उपमेय पदार्थों से भी अधिक इष्टतर यावत् अतीव मनोहर नील वर्ण वाली थीं।

३५—तत्थ णं जे ते लोहियगा मणी तेसि णं मणीण इमेयारुवे वण्णावासे पण्णते, से जहाणामए ससरहिरे इ वा, उरबभरहिरे इ वा, वराहरुहिरे इ वा, महिसरुहिरे इ वा, बास्तिद-गोवे इ वा, बालविद्वाकरे इ वा, संशब्दरामे इ वा, गुंजमुरामे इ वा, जासुअणकुसुमे इ वा, किसुय-कुसुमे इ वा, पालियायकुसुमे इ वा, जाइहिगुलए ति वा, सिलप्पवाले ति वा, पवालअंकुरे इ वा, लोहियकुमणी इ वा, लवखारसगे ति वा, किमिरागकंबले ति वा, चीणपिटुरासी ति वा, रत्तुप्पले इ वा, रत्तासोगे ति वा, रत्तकणवीरे ति वा, भवे एयारुवे सिया ?

३५—उन मणियों में की लोहित (लाल) रंग की मणियों का रंग सचमुच में क्या शशक (खरगोश) के खून, भेड़ के रक्त, सुअर के रक्त, मनुष्य के रक्त, भैंस के रक्त, बाल इन्द्रगोप, प्रातः— (खरगोश) के खून, भेड़ के रक्त, सुअर के रक्त, मनुष्य के रक्त, भैंस के रक्त, बाल इन्द्रगोप, प्रातः— कालीन सूर्य, संष्या राग (संष्या के समय होने वाली लालिमा), गुंजाफल (घुंघची) के आधे भाग, जपापुष्प, किशुक पुष्प (केसूडा के फूल), परिजातकुसुम, शुद्ध हिंगलुक (खनिजपदार्थ-विशेष), प्रबाल (मूँगा) प्रबाल के अंकुर, लोहिताक्ष मणि, लाख के रंग, कृमिराग (अत्यन्त गहरे लाल रंग) से रमेकंबल, चीणा (धान्य-विशेष) के आटे, लाल कमल, लाल अशोक, लाल कनेर अथवा रक्त बंधुजीवक जैसा लाल था ?

३६—णो इण्डु समद्वे, ते णं लोहिया मणी इत्तो इटुतराए खेव जाव^२ वण्णेण पण्णता ।

३६—ये पदार्थ उनकी लालिमा का बोध कराने में समर्थ नहीं हैं। वे मणियाँ तो इनसे भी अधिक इष्ट यावत् अत्यन्त मनोहर रक्त (लाल) वर्ण की थीं।

३७—तत्थ णं जे ते हालिहा मणी तेसि णं मणीण इमेयारुवे वण्णावासे पण्णते— से जहाणामए चंपए ति वा, चंपछल्ली ति वा, चंपगमेए इ वा, हलिहा इ वा, हलिहामेवे ति वा, हलिहा-गुलिया ति वा, हरियालिया वा हरियालमेवे ति वा, हरियालगुलिया ति वा, चित्तरंग-गुलिया ति वा, वरकणगनिघसे इ वा, वरपुरिसवसणे ति वा, अल्लकीकुसुमे ति वा, चंपाकुसुमे इ वा, राते ति वा, वरकणगनिघसे इ वा, वरपुरिसवसणे ति वा, अल्लकीकुसुमे ति वा, चंपाकुसुमे इ वा, राते ति वा, वरकणगनिघसे इ वा, वरपुरिसवसणे ति वा, अल्लकीकुसुमे ति वा, चंपाकुसुमे इ वा, जूहियाकुसुमे इ वा, सुहिरण्णकुसुमे ति वा, जीयकुसुमे इ वा, पीयासोगे ति वा, पीयकणवीरे ति वा, जूहियाकुसुमे इ वा, सुहिरण्णकुसुमे ति वा, जीयकुसुमे इ वा, पीयासोगे ति वा, पीयकणवीरे ति वा, पीयबंधुजीवे ति वा, भवे एयारुवे सिया ?

१. देखें सूत्र संख्या ३२

२. देखें सूत्र संख्या ३२

३७—उन मणियों में की पीले रंग की मणियों का पीतरंग क्या सचमुच में स्वर्ण चंपा, स्वर्ण चंपा की छाल, स्वर्ण चंपा के अंदर का भाग, हल्दी—हल्दी के अंदर का भाग, हल्दी की गोली हरताल (खनिज-विशेष), हरताल के अंदर का भाग, हरताल की गोली, चिकुर (गंधद्रव्य-विशेष), चिकुर के रंग से रंगे वस्त्र, शुद्ध स्वर्ण की कसौटी पर खींची गई रेखा, बासुदेव के वस्त्रों, श्रलंको (वृक्ष-विशेष) के फूल, चंपाकुसुम, कूष्मांड (कद्दू-कोला) के फूल, कोरंटक पुष्प की माला, तड़वडा (आंवला) के फूल, घोषातिकी पुष्प, सुवर्णयूथिका—जूही के फूल, सुहिरण्य के फूल, बीजक के फूल, पीले अशोक, पीली कनेर अथवा पीले बंधुजीवक जैसा पीला था ?

३८—णो इण्टु^१ सम्भु^२, ते णं हालिहा मणी एतो इटुतराए चेव जाव^३ वण्णेण पण्णता ।

३९—आयुष्मन् श्रमणो ! ये पदार्थ उनकी उपमा के लिये समर्थ नहीं हैं । वे पीली मणियाँ तो इन से भी इष्टतर यावत् पीले वर्ण वाली थीं ।

३९—तत्थं णं जे ते सुकिलला मणी तेसि णं मणीण इमेयारुवे वण्णावासे पण्णते—से जहानामए अकेति वा, संसे हि वा, चंद्रेति वा, कुमुद-चबक-दयरय-दहि-घणकखीर-खीरपूरे ति वा, कोंचावली ति वा, हारावली ति वा, हंसावली इ वा, बलगावली ति वा, सारतियबलाहुए ति वा, धंतधोयरुपपट्टु इ वा, सालीपिहुरासी ति वा, कुंवपुष्फरासी ति वा, कुमुदरासी ति वा, सुककच्छबाढी ति वा, पिहुणमिजिया ति वा, भिसे ति वा, मुणालिया ति वा, गयवते ति वा, लब्ज-बलए ति वा, पौडरियदलए ति वा, सेयासोगे ति वा सेयकणवीरे ति वा, सेयबंधुजीवे ति वा, भवे एयारुवे तिया ?

४०—हे भगवन् ! उन मणियों में जो श्वेत वर्ण की मणियाँ थीं क्या वे अंक रत्न, शंख, चन्द्रमा, कुमुद, शुद्ध जल, ओस बिन्दु, दही, दूध, दूध के फेन, कोंच पक्षी की पक्कि, मोतियों के हार, हंस पंक्ति, चावल का पंक्ति, चन्द्रमा की पंचित (जाल के मध्य में प्रतिबिम्बित चन्द्रपंक्ति), शरद ऋतु के मेघ, अग्नि में तपाकर धोये गये चांदी के पतरे, चावल के आटे, कुन्दपुष्प-समूह, कुमुद पुष्प के समूह, सूखी सिम्बा फली (सेम की फली), मधूरपिच्छ का सफेद मध्य भाग, विस-मृणाल, मृणालिका, हायी के दाँत, लोग के फूल, पुंडरीककमल (श्वेत कमल), श्वेत अशोक, श्वेत कनेर अथवा श्वेत बंधुजीवक जैसी श्वेत वर्ण की थीं ?

४०—णो इण्टु^१ सम्भु^२, ते णं सुकिला मणी एतो इटुतराए चेव जाव^३ वन्नेण पण्णता ।

४०—आयुष्मन् श्रमणो ! ऐसा नहीं है । वे श्वेत मणियाँ तो इनसे भी अधिक इष्टतर, यावत् सरस, मनोहर आदि मनोज श्वेत वर्ण वाली थीं ।

मणियों का गन्ध-दर्णन

४१—तेसि णं मणीण इमेयारुवे गंधे पण्णते, से जहानामए कोट्टपुडाण वा, तगरपुडाण वा, एलापुडाण वा, चोयपुडाण वा, चंपापुडाण वा, दमणपुडाण वा, कुकुमपुडाण वा, चंदणपुडाण वा,

१. देखें सूत्र संख्या ३२

२. देखें सूत्र संख्या ३२

उत्सीरपुडाण वा, महआपुडाण वा, जातिपुडाण वा, जूहियापुडाण वा, मल्लियापुडाण वा, छाण-मल्लियापुडाण वा, केतगिपुडाण वा, पाडलिपुडाण वा, णोभालियापुडाण वा, अगुरपुडाण वा, लवंग-पुडाण वा, बासपुडाण वा, कप्पूरपुडाण वा, अणुवाथंसि वा, ओभिजजमाणाण वा, कुद्रुजजमाणाण वा, भंजिजजमाणाण वा, उविकरिजजमाणाण वा, विकिरिजजमाणाण वा, परिभुजजमाणाण वा, परिभाइजजमाणाण वा, भण्डाश्रो वा भंडं साहरिजजमाणाण वा, ओराला मणुष्णा मणहरा घाणमण-निवृत्तिकरा सब्बतो समंता गंधा अभिनिस्सरंति, भवे एयारुवे सिया?

४१—उस दिव्य यान विमान के अन्तर्बर्ती सम भूभाग में खचित मणियां क्या वैसी ही सुरभिगंध वाली थीं जैसी कोण्ठ (गन्धद्रव्य-विशेष) तगर, इलाइची, चोया, चंपा, दमनक, कुंकुम, चंदन, उशीर (खश), महआ (सुगंधित पौधा विशेष) जाई पूष्प, जुही, मल्लिका, स्नान-मल्लिका, केतकी, पाटल, नदमल्लिका, अगर, लवंग, बास, कपूर और कपर के पूँझों को अनुकूल वायु में खोलने पर, कूटने पर, तोड़ने पर, उत्कीर्ण करने पर, बिलेरने पर, उपर्मीग करने पर, दूसरों को देने पर, एक पात्र से दूसरे पात्र में रखने पर, (उडेलने पर) उदार, आकर्षक, मनोज, मनहर घ्राण और मन को शांतिदायक गंध सभी दिवा^१ में भवद्वारा ही पूर्व फैलाती है, यहांती है ?

विवेचन —हीरा, पश्चा, माणिक आदि मणिरत्नों में प्रकाश, नमचमाहृट और अमुक प्रकार का रंग आदि तो दिखता है परन्तु इनके पार्थिव होने और पृथ्वी के गंधवती होने पर भी मणियों में अमुक प्रकार की उत्कट गंध नहीं होती है। किन्तु देव-विक्रियाजन्य होने की विशेषता बतलाने के लिए मणियों की गंध का बर्णन किया गया है।

४२—**ओ इण्डु समटु**, तेण मणी एतो इट्टतराए चेव, [कंततराए चेव, मणुष्णतराए चेव, मणामतराए चेव] गंधेण पश्चत्ता ।

४२—हे आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वे तो मात्र उपमायें हैं। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर यावत् मनमोहक, मनहर, मनोज-सुरभि गंध वाली थीं।

मणियों का स्पर्श

४३—तेसि णं मणीण इमेयारुवे फासे पण्णते, से जहानामए आइणे ति वा, रुए ति वा बूरे इ वा णवणीए इ वा हंसगब्बतूलिया इ वा सिरीसकुसुमनिचये इ वा बालकुसुदपत्तरासी ति वा भवे एयारुवे सिया ?

४३—उन मणियों का स्पर्श क्या अजिनक (चर्म का वस्त्र अथवा मृगच्छाला) रुई, बूर (वनस्पति विशेष), मवखन, हंसगर्भ नामक रुई विशेष, शिरीष पूष्पों के समूह अथवा नवजात कमल-पत्रों की राशि जैसा कोमल था ?

४४—**ओ इण्डु समटु**, तेण मणी एतो इट्टतराए चेव जाव^२ फासेण पश्चत्ता ।

४४—आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर यावत् (सरम, मनोहर और मनोज कोमल) स्पर्शवाली थीं।

प्रेक्षागृह-निर्माण

४५—तए णं से आभियोगिए देवे तस्स दिव्यस्स जाणदिव्याणस्स बहुमज्जवेसभागे एस्य णं महं पिच्छाधरमंडलं विउव्यइ, अणेगखंभसय-संनिविट्ठं अबमूग्यसुक्यवरवेश्यातोरणवररद्धसाल-भजियामं सुसिलिट्टुविलिट्टुसंठियपसत्थवेहलियविमलखम्भं णाणामणिषुचिय-उजजलबहुसम-सुविभत्तमूमिभागं, ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किनर-हरु-सरभ-चमर-कुञ्जर-वणसय-पउमलय-भत्तिचित्तं, खंभुग्यवह्येह्यापरिग्याभिरामं विजाहरजमलजुयलजंतजुतं पिव अचोलहस्स-मालणीयं, रुवगसहस्सकलियं, भिसमाणं भिडिभसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सत्सिरीयहथं कंचणमणिरयणथभियामं णाणाविहृयचक्षणघटापडागपरिमंडियम्भसिहरं चबलं भरीद्वकायं विणिम्मुयं लाइय-उह्लोह्यमहियं, गोसीस-सरसरत्तचंदण-बहुरदिव्यपंचंगुलितरुं, उवचियचंदण-कलसं, चंदणघड-सुक्यतोरणपडिवारदेसभागं, आसत्तोसत्तविडलवट्टवारियमल्लदामकसावं, पंच-व्यण्णसरससुरभिमुद्धकपृष्ठपुंजोवयारकलियं, कालामुहपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमधमधंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवह्यमूलं अच्छरवणसंघसंविकिणं विद्वतुलियसद्संपणाइयं अच्छं जाव (सण्हं अभिरुद्वं) पडिरुवं ।

तस्स णं पिच्छाधरमण्डवस्स अंतो बहुसमरभणिजमूमिभागं विउव्यति जाव^१ मणीयं कासो ।

तस्स णं पेच्छाधरमण्डवस्स उभ्योर्द्विविति उभ्यत्वद्विवित्तिं जाव (अच्छं सण्हं लण्हं घट्ठं णीरयं निम्भलं नित्यकं निवकंकलच्छायं सप्यमं समिरीयं सज्जजोयं पासादीयं वरिसणिज्जं, अभिरुद्वं) पडिरुवं ।

४५—तदनन्तर आभियोगिक देवों ने उस दिव्य यान विमान के अंदर बीचों-बीच एक विशाल प्रेक्षागृह मंडप की रचना की ।

वह प्रेक्षागृह मंडप अनेक संकड़ों स्तम्भों पर संनिविष्ट (स्थित) था । अभ्युन्नत—ऊंची एवं सुरचित वेदिकाओं, तोरणों, तथा सुन्दर पुतलियों से सजाया गया था । सुन्दर विशिष्ट रमणीय संस्थान -आकार-वाली प्रशस्त और विमल वैद्युत मणियों से निर्मित स्तम्भों से उपशोभित था । उसका भूमिभाग विविध प्रकार की उज्ज्वल मणियों से खचित, सुविभक्त एवं अत्यन्त सम था । उसमें ईहामूग (भेड़िया) वृपभ, तुरंग—घोड़ा, नर, मगर, विहग—पक्षी, सर्प, किनर, हरु (कस्तुरी मृग), सरभ (अष्टापद), चमरी गाय, कुञ्जर (हाथी), बनलता पश्चलता आदि के चित्राम चित्रित थे । स्तम्भों के शिरोभाग में वज्र रत्नों से बनी हुई वेदिकाओं से मनोहर दिखता था । यंत्रचालित—जैसे विद्याधर युग्मों से शोभित था । सूर्य के सदृश हजारों किरणों से सुशोभित एवं हजारों सुन्दर घंटाओं से युक्त था । देवीप्यमान और अतीव देवीप्यमान होने से दर्शकों के नेत्रों को आकृष्ट करने वाला, सुखप्रद स्पर्श और रूप-शोभा से सम्पन्न था । उस पर स्वर्ण, मणि एवं रत्नमय स्तूप बने हुए थे । उसके शिखर का अग्र भाग नाता प्रकार की घंटियों और पंचरंगी पताकाओं से परिमंडित—सुशोभित था । और अपनी चमचमाहट एवं सभी और फैल रही किरणों के कारण चंचल-सा दिखता था । उसका प्रांगण गोबर से लिपा था और दीवारें सफेद मिट्टी से पुती थीं । स्थान-स्थान पर सरग गोशीषं रक्तचंदन के हाथे लगे हुए थे और चंदनचित्त कलश रखे थे । प्रत्येक द्वार तोरणों और चन्दन-कलशों से शोभित थे । दीवालों पर ऊपर से लेकर नीचे तक सुगंधित

१. देव्ये सूत्र संख्या ३१, ३३, ३५, ३७, ३९, ४१, ४३

भील भालाये लकड़क रही थीं। सरस सुगन्धित और बरंगे पुष्पों के मांडने बने हुए थे। उत्तम कृष्ण अगर, कुन्दरुल्क, तुरुष्क और धूप की मोहक सुगंध से महक रहा था और उस उत्तम सुरभि गंध से गंध की वतिका (अगरबत्ती धूपबत्ती) प्रतीत होता था। अप्सराओं के समुदायों के गमनागमन से व्याप्त था। दिव्य वाद्यों के निनाद से गूंज रहा था। वह स्वच्छ यावत् (सलीना, अभिरूप) था।

उस प्रेक्षागृह मंडप के अंदर अतीव सम रमणीय भू-भाग की रचना की। उस भूभि-भाग में खचित मणियों के रूप-रंग, गंध आदि की समस्त वक्तव्यता पूर्ववत् समझना चाहिये।

उस सभ और रमणीय प्रेक्षागृह मंडप की छत में पश्चलता आदि के चित्रामों से युक्त यावत् (स्वच्छ, सलीना, चिकना, चूष्ट, नीरज, निर्मल, निष्पंक, अप्रतिहतदीप्ति, प्रभा, किरणों वाला, उद्योत वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय अभिरूप) अतीव भनोहर चंदेवा बांधा।

रामचं आदि की रचना

४५— तस्स णं बहुसमरमणिजजस्स भूमिभागस्स बहुमज्जदेसभाए एत्थ णं एनं महं बहरामयं अखाडगं विउद्धति ।

४६—उस सम रमणीय भूमिभाग के भी मध्यभाग में वज्ररत्नों से निर्मित एक विशाल अक्षपाट (अखाड़े-क्रीड़ामंच) की रचना की।

४७— तस्स णं अक्खाडयस्स बहुमज्जदेसभागे एत्थ णं महेगं भणिपेदियं विउद्धति ॥ अटु जोयणाइं आयाम-विवर्जनमेण चत्तारि जोयणाइं बाहुल्लेणं सब्बमणिमयं अङ्गं सण्हं जाव^१ पदिरुषं ।

४७—उस क्रीड़ामंच के ठीक बीचेंबीच आठ योजन लंबी-जीड़ी और चार योजन भोटी पूर्णतया वज्ररत्नों से बनी हुई निर्मल, चिकनी यावत् प्रतिरूपा एक विशाल मणिपीठिका की विकुर्वणा की।

सिंहासन की रचना

४८— तीसे णं मणिपेदियाए उवरि एत्थ णं महेगं सोहासणं विउद्धइ, तस्स णं सोहासणस्स इमेवाहूवे दण्णावासे पण्णते—

तदणिजमया चक्कला, रथयामया सीहा, सोबणिया पाया, जाणामणिमयाइं पायसीसगाइं, जंबूणयमयाइं गताह, बहरामया संधी, जाणामणिमये खेच्चे, से णं सोहासणे ईहामिथ-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहुग-दालग-किन्नर-हस-सरभ-चमर-कुञ्जर-बाणलय-पउभलयभत्तिचित्त, ससारसारोवचियमणि-रथणपायपीढे, अत्थरगमितमसूरगणवत्यकुसंतर्लिङ्केसर-पच्चत्युयामिरामे, आईणग-रुय-बूर-तूलफासमउए सुविरह्य-रथताणे, उब्जियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुअसंबुडे सुरम्मे पासाइए दरिसणिजे अभिरूपे पदिरुषे ।

४९—उस मणिपीठिका के ऊपर एक महान् सिंहासन बनाया। उस सिंहासन के चक्कला (पायों के नीचे के गोल भाग) सोने के, सिंहाकृति वाले हत्थे रत्नों के, पाये सोने के, पादशीर्षक अनेक प्रकार की मणियों के और बीच के गाते जाम्बूनद (विशिष्ट स्वर्ण) के थे। उसकी संघिधां (सांधें) वज्ररत्नों से भरी हुई थी और मध्य भाग की बुनाई का बेत बाण (निवार) मणिमय था।

उस सिहासन पर ईहामृग, वृषभ तुरग—ग्रश्व, नर, मगर, विहग—पक्षी, सर्प, किञ्चर, हु सरम (अष्टापद), चमर अथवा चमरी गाय, हाथी, बनलता, पद्मलता आदि के चित्र बने हुए थे। सिहासन के सामने स्थापित पाद-पीठ सर्वश्रेष्ठ मूल्यवान् मणियों और रत्नों का बना हुआ था। उस पादपीठ पर पैर रखने के लिए बिछा हुआ मसूरक (गोल आसन) नवतृण कुशाग्र और केसर तंतुओं जैसे अत्यन्त सुकोमल सुन्दर आस्तारक से ढका हुआ था। उसका स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र) (मृग छाला) हई, बूर, मक्खन और आक की रई जैसा मृदु-कोमल था। वह सुन्दर सुरचित राजस्वाण से आच्छादित था। उसपर कसीदा काढ़े क्षौम दुकूल (रई से बने वस्त्र) का बाहर बिछा हुआ था और अत्यन्त रमणीय लाल वस्त्र से आच्छादित था। जिससे वह सिहासन अत्यन्त रमणीय, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप—अतीव मनोहर दिखता था।

४९— तस्म एं सीहासणस्स उवरि एत्य एं महेण विजयदूसं विउव्वति, संख-कुंद-वगरथ-अमय-
महियकेणपुंज-संनिशासं सव्वरथणामयं अच्छं सण्हं पासादीयं दरिसणिजं अभिरूपं पदिरुबं ।

५०— उस सिहासन के ऊपरी भाग में शंख, कुंदपुष्प, जलकण, मथे हुए क्षीरोदधि के फेनपुंज के सदृश प्रभावाले रत्नों से बने हुए, स्वच्छ, निर्मल, स्निग्ध प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप एक विजयदूष्य (वस्त्र विशेष, छवाकार जैसे चंदेवे) को बांधा।

५०— तस्म एं सीहासणस्स उवरि विजयदूसस्स य बहुमज्जदेसभागे एत्थ एं महुं एगं वयरामयं
अंकुसं विउव्वति ।

५०— उस सिहासन के ऊपरी भाग में बंधे हुए विजयदूष्य के बीचों-बीच वज्ररत्नमय एक अंकुश (अंकुडिया) लगाया।

५१— तस्म च एं वयरामयंसि अंकुसंमि कुंभिकं मुक्तादामं विउव्वति ।

से एं कुंभिके मुक्तादामे अन्नेहि चउहि अद्वकुंभिकेहि मुक्तादामेहि तवद्धुच्चपमाणेहि
सव्वओ संमता संपरिक्षितते ।

ते एं वामा तवणिजजलंबूसगा णाणामणिरथणविविह-हारद्वहारउवसोभियसमुदाया इसि
अणामणभसंपत्ता वाएहि पुव्वावरदाहिणुतरागएहि मंदायं मंदायं एज्जमाणाणि एज्जमाणाणि पलंब-
माणाणि पलंबमाणाणि वदमाणाणि वदमाणाणि उरालेण मणुनेण मणहरेण कण-मण-णिल्लृति-करेण
सहेण ते पएसे सव्वओ संमता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा
उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।

५१— उस वज्र रत्नमयी अंकुश में (मगध देश में प्रसिद्ध) कुंभ परिणाम जैसे एक बड़े मुक्तादाम (मोतियों के भूमर--फानूस) को लटकाया और वह कुंभपरिमाण वाला मुक्तादाम भी चारों दिशाओं में उसके परिमाण से आधे अर्धति अर्धकुंभ परिमाण वाले और दूसरे चार मुक्तादामों से परिवेष्टित था।

वे सभी दाम (भूमर) सोने के लंबूसकों (गेंद जैसे आकार वाले आभूषणों), विविध प्रकार की मणियों, रत्नों अथवा विविध प्रकार के मणिरत्नों से बने हुए हारों, अर्ध हारों के समुदायों से शोभित हो रहे थे और पास-पास टंगे होने से लटकने से जब पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की

पन्द्र-मन्द हृवा के भोक्त्रों से हिलते-हुलते तो एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज, भनहर, कर्ण एवं मन को शांति प्रदान करने वाली रुनभुन रुनभुन शब्द-छवि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को ध्याप्त करते हुए अपनी श्री-शोभा से अतीव-अतीव शोभित होते थे ।

सिंहासन की चतुर्दिवर्ती भद्रासन-रचना

५२— तए ण से आभिओगिए वेवे तस्स सोहासणस्स अवरुतरेण उत्तरेण उत्तरपुरत्थिमेण एत्थ ण सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं साप्ताण्यसाहस्रोणं चत्तारि भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बङ् ।

तस्स ण सोहासणस्स पुरत्थिमेण एत्थ ण सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं अग्नाग्निसीणं सपरिबारणं चत्तारि भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बङ् ।

तस्स ण सोहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेण एत्थ ण सूरियाभस्स देवस्स अद्विभतरपरिसाए अद्वुण्हं देवसाहस्रीणं अद्वु भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बङ्, एवं वाहिणेणं मजिष्मपरिसाए दसष्हं वेवसाहस्रीणं दस भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बति, दाहिणपञ्चत्थिमेणं दाहिणपरिसाए बारसष्हं देवसाहस्रीणं बारस भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बति ।

पञ्चत्थिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्रासणे विउब्बति ।

तस्स ण सोहासणस्स चउविसि एत्थ ण सूरियाभस्स वेवस्स सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्रीणं सोलस भद्रासणसाहस्रीओ विउब्बति, तं जहा—पुरत्थिमेण चत्तारि साहस्रीओ, दाहिणेण चत्तारि साहस्रीओ, पञ्चत्थिमेण चत्तारि साहस्रीओ, उत्तरेण चत्तारि साहस्रीओ ।

५२— तदनन्तर (प्रेक्षागृह मंडप आदि की रचना करने के अनन्तर) आभियोगिक देव ने उस भिहाग्न के पश्चिमोत्तर (वायव्य कोण), उत्तर और उत्तर पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) में सूर्यभिदेव के चार हजार सामानिक देवों के बैठने के लिए चार हजार भद्रासनों की रचना की ।

पूर्व दिशा में सूर्योभ देव की परिवार सहित चार अग्र महिषियों के लिए चार हजार भद्रासनों को रचना की ।

दक्षिणपूर्व दिशा में सूर्यभिदेव की आध्यन्तर परिषद् के आठ हजार देवों के लिये आठ हजार भद्रासनों की रचना की । दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् के देवों के लिए दस हजार भद्रासनों को, दक्षिण-पश्चिम दिग्भाग में बाह्य परिषदा के बारह हजार देवों के लिए बारह हजार भद्रासनों की और पश्चिम दिशा में सप्त अनीकाधिपतियों के लिए सात भद्रासनों की रचना की ।

तत्पश्चात् सूर्यभिदेव के सोलह हजार आत्मरक्षक देवों के लिए क्रमशः पूर्व दिशा में चार हजार, दक्षिण दिशा में चार हजार, पश्चिम दिशा में चार हजार और उत्तर दिशा में चार हजार, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह हजार भद्रासनों को स्थापित किया ।

समग्र यान-विमान का सौन्दर्य-वर्णन

५३— तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारुवे वणावासे पण्णते, से जहानामए अइराग्यस्स वा, हेमतिथ-दालियसूरियस्स वा, खर्तिगालाण वा, रत्ति पञ्जलिवाण वा, जवाकुसुमवणस्स वा, किसुयवणस्स वा, पारियवणस्स वा, सव्वतो समंता संकुसुमियस्स भवे एयारुवे सिया ?

५३—उस दिव्य यान-विमान का रूप-सौन्दर्य क्या तत्काल उदित हेमन्त ऋतु के बाल सूर्य हुए जपापुष्पवन् अथवा पलाशवन् अथवा पारिजातवन् जैसा लाल था ?

५४—जो इण्टठे समटठे, तस्स एं दिव्यस्स जाणविमाणस्स एस्तो इहुतराए देव जाव^१ वणीणं पण्ठते । गंधो य फासो य जहा मणीण^२ ।

५५—यह ग्रथ समर्थ नहीं है । हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह यान-विमान तो इन सभी उपमाओं से भी अधिक इष्टतर यावत् रक्तवर्ण वाला था । उसी प्रकार उसका गंध और स्पर्श भी पूर्व में किये गये मणियों के वर्णन से भी अधिक इष्टतर यावत् रमणीय था ।

आभियोगिक देव हारा आज्ञा-पूर्ति की सूचना

५५—तए एं से आभियोगिए देवे दिव्यं जाणविमाणं विउव्वह विउव्विता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सूरियाभे देवं करयलपरिगहियं जाव^३ पञ्चलिष्णति ।

५५—दिव्य यान-विमान की रचना करने के अनन्तर आभियोगिक देव सूर्यभिदेव के पास आया । आकार सूर्यभिदेव को दोनों हाथ जोड़ कर यावत् आज्ञा वापस लौटाई अर्थात् यान-विमान बन जाने की सूचना दी ।

५६—तए एं से सूरियाभे देवे आभियोगस्स देवस्स अंतिए एयमद्धं सोऽच्चा निसम्म हठ जाव हियए दिव्यं जिणिदाभिगमणजोगां उत्तरवेउव्वियरुवं विउव्वति, विउव्विता चउहि अग्नहिसीहि सपरिवाराहि, वोहि अणीहि, तं जहा—गंधर्वाणीएण य णट्टाणीएण य संद्वि संपरिवुडे, तं दिव्यं जाणविमाणं अणुपथाहिणीकरेमाणे पुरत्थमिल्लेण तिसोपाणपडिरुवएण बुरुहति बुरुहिता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे ।

५६—आभियोगिक देव से दिव्य यान विमान के निर्माण होने समाचार सुनने के पश्चात् इस सूर्यभिदेव ने हर्षित, संतुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हो, जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख भग्न करने योग्य दिव्य उत्तरवैकिय रूप की विकुर्वणा की । विकुर्वणा करके उनके अपने परिवार सहित चार अग्र महिषियों एवं गंधर्व तथा नाट्य इन दो अनोकों को साथ लेकर उस दिव्य यान-विमान की अनुप्रदक्षिणा करके पूर्व दिशावत्तों अतीव मनोहर त्रिसोपानों से दिव्य यान-विमान पर आरूढ़ हुआ और सिंहासन के समीप आकर पूर्व की ओर सुख करके उस पर बैठ गया ।

५७—तए एं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चत्तारि साभाणियसाहसीबो तं दिव्यं जाणविमाणं अणुपथाहिणीकरेमाणा उत्तरिल्लेण तिसोपाणपडिरुवएण बुरुहति बुरुहिता पत्तेयं पत्तेयं पुद्वण्णस्थेहि

१. देखें सूत्र संख्या ३१, ३३, ३५, ३७, ३९

२. देखें सूत्र संख्या ४१, ३३

३. देखें सूत्र संख्या १८

भद्रासणेर्हि णिसोर्यंति । अबसेसा देवा य बेष्टीओ य तं दिव्यं जाणविमाणं जाव (अणुपयाहिणे करेमाणा) वाहिणिललेण तिसोवाणपडिरुवएण दुरुहंति, दूरुहिता पत्तेयं पत्तेयं पुष्ट्यण्णत्थेर्हि भद्रासणेर्हि निसीर्यसि ।

५७—तत्पश्चात् सूर्यभ देव के चार हजार सामानिक देव उस यान विमान की प्रदक्षिणा करते हुए उत्तर दिशबर्ती त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस पर चढ़े और अपने लिये पहले से ही स्थापित भद्रासनों पर बैठे तथा इनसे शेष रहे और दूसरे देव एवं देवियाँ भी प्रदक्षिणापूर्वक दक्षिण दिशा के सोपानों द्वारा उस दिव्य-यान विमान पर चढ़कर प्रत्येक अपने-अपने लिये पहले से ही निश्चित भद्रासनों पर बैठे ।

५८—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स तं दिव्यं जाणविमाणं दुरुदृष्टस्स समाणस्स अद्य-मञ्जलगा पुरतो अहाणुपुष्ट्योए संपत्तिथा, तं जहा—सोत्थिय-सिरिवच्छ-जाव (नन्दियाषत्त-वद्धमाणग-भद्रासन-कलस-मच्छ) वप्पणा ।

५९—उस दिव्य यान विमान पर सूर्यभदेव आदि देव-देवियों के आरूढ हो जाने के पश्चात् अनुक्रम से आठ मंगल-द्रव्य उसके सामने चले । वे आठ मंगल-द्रव्य इस प्रकार हैं—१. स्वस्तिक २. श्रीवत्स यावत् (३. नन्दावर्त ४. वर्षमानक—शारावसम्पुट—सिकोरे का संपुट ५. भद्रासन, ६. कलश, ७. मत्स्ययुगल और) ८. दर्पण ।

६०—तथणंतरं च णं पुष्ट्यकलसभिगार दिव्या य छत्पदामा सच्चामरा दंसणरतिया-आलोयद-रिसणिज्जा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा ऊसिया गगण-हलमणुलिहंती पुरतो अहाणुपुष्ट्योए संपत्तिया ।

६१—आठ मंगल द्रव्यों के अनन्तर पूर्ण कलश, भूर्गार- भारी, चामर सहित दिव्य छत्र, पताका तथा इनके साथ गगन तल का स्पर्श करती हुई अतिथय सुन्दर, आलोकदर्शनीय (प्रस्थान करते समय मांगलिक होने के कारण दर्शनीय) और वायु से फरफराती हुई एक बहुत ऊंची विजय वैजयंती पताका अनुक्रम से उसके आगे चली ।

६०—तथणंसरं च णं वेहस्तियभिसंतविमलदण्डं पलडबकोरंटमल्लवामोवसोभितं चंद्रमंडलनिभं समुस्सियं विमलमायवत्तं पवरसीहासणं च भणिरयणभत्तिचित्तं सपायपीडं सपाउयाजोयसमाउत्तं बहु-किकरामरपरिगहियं पुरतो अहाणुपुष्ट्योए संपत्तियं ।

६०—विजय वैजयंती पताका के अनन्तर बैदूर्यरत्नों से निर्मित दीप्यमान, निर्मल दंडवाले लटकती हुई कोरंट पुष्ट्यों की मालाओं से मुजोभित, चंद्रमंडल के समान निर्मल, श्वेत-घबल ऊंचा आतपत्र-छत्र और अनेक किकर देवों द्वारा बहन किया जा रहा, मणिरत्नों से बने हुए वेलबूटों से उपशोभित, पादुकाद्वय युक्त पादपीठ सहित प्रवर—उत्तम सिंहासन अनुक्रम से उसके आगे चला ।

६१—तथणंतरं च णं बहरमयबहुलहुसंठियसुसिलिदुपरिघदुमदुपत्तिहुए विसिट्ठे अणेगवरयंच-वण-कुडभीसहस्रसुस्सिए परिमंडियाभिरामे वाउद्धुयविजय-वैजयंती पडागच्छत्तात्तिच्छत्तकलिते तु गगणतलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्रसूसिए महसिमहालए महिंद-ज्ञाए अहाणुपुष्ट्योए संपत्तिये ।

६१— तत्पश्चात् वज्जरत्नों से निमित गोलाकार कमनोय-मनोज्ञ, (गोल) दाढ़े वाला, शेष इवजाओं में विशिष्ट एवं और दूसरी बहुत सी मनोरम छोटी बड़ी अनेक प्रकार की रंगबिरंगी पचरंगी इवजाओं से परिमिडित, वायु वेग से कहराती हुई विजयवैजयंती पताका, छत्रातिष्ठत्र से युक्त, आकाश-मंडल को स्पर्श करने वाला हजार योजन ऊंचा एक बहुत बड़ा इन्द्रध्वज नामक ध्वज अनुक्रम से उसके आगे चला ।

६२— तथणंतरं च णं सुरुषणेवत्थपरिकच्छया सुसज्जा सव्वालंकारभूसिया महया भडचडगर-पहकारेण पञ्च अणीयाहिवईओ पुरतो अहाणुपुष्वीए संपत्तियथा ।

६३— इन्द्र ध्वज के अनन्तर सुन्दर वेष भूषा से सुसज्जित, समस्त आभूषण-अलंकारों से विभूषित और अत्यन्त प्रभावशाली सुभटों के समुदायों को साथ लेकर पांच सेनापति^१ अनुक्रम से आगे चले ।

६४— तथणंतरं च णं बहवे आभिभोगिया देवा देवीओ य सएहि सएहि रूबेहि, सएहि सएहि विसेसेहि सएहि सएहि विदेहि, सएहि सएहि णेज्जाएहि, सएहि सएहि णेवत्थेहि पुरतो अहाणुपुष्वीए संपत्तियथा ।

६५— तदनन्तर बहुत से आभियोगिक देव और देवियां अपनी-अपनी योग्य-विशिष्ट वेश-भूषाओं और विशेषतादर्शक अपने-अपने प्रतीक चिह्नों से सजधजकर अपने-अपने परिकर, अपने-अपने नेजा और अपने-अपने कार्यों के लिये कार्योपयोगी उपकरणों-साधनों को साथ लेकर अनुक्रम से आगे चले ।

६६— तथणंतरं च णं सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सव्वद्वीए जाव (सव्वजुईए, सव्वबलेण, सव्वसमुदएण सव्वादरेण सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेण सव्व-पुष्फ-गंध-मल्लालंकारेण सव्व-तुडिय-सद्द-सणिणाएण सहया इड्डोए, महया जुईए, महया बलेण, महया समुदएण सहया वर-तुडिय-जमगसमग-प्यवाइएण संख-पणव-पटह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुकक-मूरथ-मुदंग-दुन्दुभिनिघोसनाइय) रवेण सूरियाभं देवं पुरतो य मगतो य समणुगच्छत्ति ।

६७— तत्पश्चात् राबसे अंत में उस सूर्यभि विमान में रहने वाले बहुत से वैमानिक देव और देवियां अपनी अपनी समस्त ऋद्धि से, यावत् (सर्वं द्युति, बल-सेना, परिवार रूप समुदाय, आदर-संमान, शृंगार-विभूषा, विभूति-ऐश्वर्य, संध्रम (भक्तिजन्य उत्सुकता) सर्वप्रकार के पुलों, गंध, माला, अलंकारों, सर्वं प्रकार के वाद्यों की मधुर ध्वनि तथा अपनी विशिष्ट ऋद्धि, महान् द्युति, महान् सेना, महान् समुदाय तथा एक साथ बजते हुए अनेक वाद्यों की मधुर ध्वनि एवं शंख, पणव, पटह-ढोल, भेरी, झल्लरी, खरमुखी, हुडुकक, मुरज-मूदंग और दुन्दुभिनिनाद की) प्रतिध्वनि से शोभित होते हुए उस सूर्यभदेव के आगे-पीछे, आजू-बाजू में साथ-साथ चले ।

सूर्यभदेव का आमलकर्त्ता नगरी को ओर प्रस्थान

६८— तए ण से सूरियाभे देवे तेण पञ्चाणीयपरिविक्षत्तेण बद्धराभयवद्दुलदुसंठिएण जाव^२ जोयण-

१. अश्व, गज, रथ, पदाति और वृषभ सेनाओं के अधिपति ।

२. देखें सूत्र संख्या ६१

सहस्रमूस्तिएणं सहतिमहालतेणं सहितजमएणं पुरतो कद्गुजजमाणेण चउहि सामाणियसहस्रेहि जाव^१
सोलसर्हि आयरवद्वेषसाहस्रीहि अन्नेहि य बहुहि सूरियाभविमाणवासिहि वेमाणिएहि वेवेहि देवीहि
य सर्दि संपरिवृद्धे सचिवद्वीए जाव^२ रवेण सोधमस्स कप्पस्स मज्जसंमउज्जेण तं दिव्यं देविड्डि दिव्यं
देवजुति दिव्यं वेवाणुभावं उवलालेमाणे उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे पडिजागरेमाणे पडिजा-
गरेमाणे जेणेक्ष सोहम्मस्स कप्पस्स उत्तरित्त्वे णिज्जाणमग्गे तेणेव उवागच्छति, जोयणसयसाहस्रित्तेहि
क्रिमहेहि ओवयमाणे बीईवयमाणे ताए उविकट्टाए जाव^३ तिरियं असंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्जं-
मज्जेण बीइवयमाणे बीइवयमाणे जेणेव नंबीसरवरे दीवे, जेणेव दाहिणपुरत्तिमित्त्वे रतिकरपव्वते,
तेणेक्ष उवागच्छति, उवागच्छति तं दिव्यं देविड्डि जाव दिव्यं देवाणुभावं पडिसाहरेमाणे पडिसाहरेमाणे
पडिसंखेवेमाणे पडिसंखेवेमाणे जेणेव जंबुदीधे दीवे जेणेव भारहे बासे जेणेव आमलकप्पा नगरी जेणेव
अंवसालवणे चेह्हए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता समणं भगवं महावीरसं
तेण दित्तेन्द्रियान्विमानेण लिखुत्तो चाहुहियं वदाहियं करेह, करित्ता समणस्स भगवत्तो महावीरसं
उत्तरपुरत्तिमे दिसिभागे तं दिव्यं जाणविमाणं ईसि चउरंगुसभसंपत्तं धरणित्तलंसि ठवेह, ठवित्ता चउहि
आगमहितीहि सपरिवारर्हि, बोहि अणीयाहि, तं जहा गंधवाणिएण य णटाणिएण य-सर्दि संपरिवृद्धे
ताओ दिव्वाओ, जाणविमाणाओ पुरस्थितिलेण तिसोवाणपडिरुवएणं पच्चोरुहति ।

काए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्रीओ ताओ विव्वाओ जाणविमाणाओ
उत्तरित्त्वेण तिसोवाणपडिरुवएणं पच्चोरुहति अवसेसा देवा य देवोओ य ताओ विव्वाओ जाण-
विमाणाओ दाहिणित्त्वेण तिसोवाणपडिरुवएणं पच्चोरुहति ।

६५—तत्पश्चात् पांच श्रनीकाष्ठिपतियों द्वारा परिरक्षित बज्जरत्मभयी गोल मनोज संस्थान—
आकारवाले यावत् एक हजार योजन लम्बे अत्यंत ऊचे महेन्द्रद्वज को आगे करके वह सूर्योभिदेव
चार हजार सामानिक देवों यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देवों एवं सूर्योभविमानवासी और दूसरे
वैमानिक देव-देवियों के साथ समस्त ऋद्धि यावत् वाद्यनिनादों सहित दिव्य देवक्षुद्धि, दिव्य देवद्वृति,
दिव्य देवानुभाव-ग्रभाव का अनुभव, प्रदर्शन और अवलोकन करते हुए सौधर्मकल्प के मध्य भाग में
से निकलकर सौधर्मकल्प के उत्तरदिव्यर्ती नियणि मार्ग—निकलने के मार्ग के पास आया और एक
लाख योजन प्रयाण वेग वाली यावत् उत्कुष्ट दिव्य देवगति से नीचे उत्तर कर गमन करते हुए तिल्हे,
असंख्यातद्वीप समुद्रों के बीचोबीच से होता हुया नन्दीश्वरद्वीप और उसकी दक्षिणपूर्ण दिशा
(श्राम्नेय कोण) में स्थिर रतिकर पर्वत पर आया। वहाँ आकर उस दिव्य देव ऋद्धि यावत् दिव्य
देवानुभाव को धीरे धीरे संकुचित और संक्षिप्त करके जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप और उसका
भरत क्षेत्र था एवं उस भरत क्षेत्र में भी जहाँ आमलकल्पा नगरी तथा आम्रशालवन चैत्य था और उस
चैत्य में भी जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आया, वहाँ आकर उस दिव्य-यान—
विमान के साथ श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करके श्रमण भगवान्
महावीर की अपेक्षा उत्तरपूर्ण—दिग्भाग-ईशानकोण—में ले जाकर भूमि से चार अंगुल ऊपर अधर
रखकार उस दिव्य-यान विमान को खड़ा किया ।

१. देखें सूत्र संख्या ७

२. देखें सूत्र संख्या ६४

३. देखें सूत्र संख्या १३

उस दिव्य यानविमान को खड़ा करके वह सपरिवार चारों श्रमहिषियों, गंधर्व और नाट्य विमान से नीचे उतरा ।

तत्पश्चात् सूर्यभिदेव के बाहर राजानिक देव उत्तरदिव्यतीर्ति त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस दिव्य-यान—विमान से नीचे उतरे । तथा इनके अतिरिक्त शेष दूसरे देव और देवियाँ दक्षिण दिशा के त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस दिव्य-यान—विमान से उतरे ।

सूर्यभिदेव का समवसरण में आगमन

६६—तए ण से सूरियामे देवे चजहि श्रमहिसोहि जाव' सोलसहि आपरक्षदेवसाहस्त्रोहि अणेहि य बहूहि सूरियाभविमाणवासीहि वेमाणिएहि देवोहि य सहि संपरिवुडे सविड्होए जाव^३ णादितरवेण जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता समणे भगवंतं महावीरं तिकखुतो आयाहिणपयाहिणं करेति, करिता वंदति नमंसति वंदिता नमंसिता एवं वयासी—

'अहं ण भते ! सूरियामे देवे देवाणुपियाणं वंदरमि नमंसामि जाव (सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेऽयं) पञ्जुवासामि '।

६६—तदनन्तर वह सूर्यभिदेव सपरिवार चार श्रमहिषियों यावत् सोलह हजार आत्म-रक्षक देवों तथा अन्यान्य बहुत से सूर्यभिविमानवासी देव-देवियों के साथ समस्त ऋद्धि-वैभव यावत् वाच निनादों सहित चलता हुआ श्रमण भगवान् महावीर के समीप आया । आकर श्रमण भगवान् की दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर तीन बार प्रदक्षिणा की । प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और वन्दन-नमस्कार करके—सविनय नम्र होकर बोला—

'हे भद्रन्त ! मैं सूर्यभिदेव आप देवानुप्रिय को वन्दन करता हूं, नमन करता हूं यावत् आपका (सत्कार-सन्मान करता हूं और कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप एवं चत्यरूप आपकी) पर्युपासना करता हूं ।

६७—'सूरियाभा' इ समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी—

पोराणमेयं सूरियाभा ! जीषमेयं सूरियाभा ! किञ्चमेयं सूरियाभा ! करणिज्जमेयं सूरियाभा ! आइणमेयं सूरियाभा ! अब्जणुण्णायमेयं सूरियाभा ! जं णं भवणवह-वाणमंतर-जोइल-वेमाणिया देवा अरहते भगवंते वंदति नमंसंति, वंदिता नमंसिता तजो पञ्चासाइं साइं नाम-गोलाइं साहिति, तं पोराणमेयं सूरियाभा ! जाव^३ अब्जणुण्णायमेयं सूरियाभा !'

६७—'हे सूर्यभ !' इस प्रकार से सूर्यभिदेव को संबोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने उस सूर्यभिदेव से इस प्रकार कहा—'हे सूर्यभ ! यह पुरातन है । हे सूर्यभ ! यह जीत-परम्परागत व्यवहार है । हे सूर्यभ ! यह कृत्य है ।, हे सूर्यभ ! यह करणीय है ।, हे सूर्यभ ! यह पूर्व परम्परा से

१. देखें सूत्र संख्या ७

२. देखें ग्रन्थ संख्या १९

३. देखें सूत्र संख्या १८

आचरित है। हे सूर्यभि ! यह अप्यनुज्ञात-सम्मत है कि भवतपति, बाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव अरिहंत भगवन्तों को बन्दन करते हैं, नमन करते हैं और बन्दन-नमस्कार करने के पश्चात् वे अपने-अपने नाम और गोत्र का उच्चारण करते हैं। अतएव हे सूर्यभि ! तुम्हारी यह सारी प्रवृत्ति पुरातन है यावत् है सूर्याम ! सम्मत है।

६८—तए ण से भूरियाभे देवे समणेण भगवद्या महावीरेण एवं बुते समाणे हृषु जाव तुङ्ग-चित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सए हरिस-वस-विसप्यमाणहियए समणं भगवं महावीरं बंदति नमंसति, बंदिसा नमंसित्ता नच्चासणे नातिदूरे सुस्सूसधाणे जमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पञ्जुबासति ।

६९—तब वह सूर्यभि देव थमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर अतीव हृषित हुआ यावत् (संतुष्ट हुआ, मन में अति आनंदित हुआ, मन में प्रीति हुई, अत्यन्त अनुरागपूर्ण मनवाला हुआ, हर्षातिरेक में विकसित हुदयवाला हुआ) और थमण भगवान् महावीर को बन्दन-नमस्कार करके न तो उनसे अधिक निकट और न अधिक दूर किन्तु यथोचित स्थान पर स्थित होकर शुश्रूषा करता हुआ, नमस्कार करता हुआ, अभिमुख विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर अंजिल करके पर्युपासना करने लगा।

६९—तए ण समणे भगवं महावीरे सूरियाचस्स देवस्स तीसे य महतिमहालिताए परिसाए जाव (इस्तिपरिसाए मुणिपरिसाए जहपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयवंदाए अणेगसयवंव-परिवाराए) धर्मं परिकहेह । परिसा जामेव विसि पाउमूता तामेव दिंसि पदिगया ।

६९—तत्पश्चात् थमण भगवान् महावीर ने सूर्यभिदेव को, और उस उपस्थित विशाल परिषद् को यावत् (ऋषियों की सभा को, मुनियों की सभा को, यतियों की सभा को, देवों की सभा को, अनेक सौ संख्यावाली अनेक शत (सौकड़ों के) समूह वाली अनेकशतसमूह युक्त परिवार वाली सभा को) धर्मदेशना सुनाई। देशना सुनकर परिषद् जिस दिशा से आई थी वापस उसी ओर लौट गई।

विवेचन- 'महतिमहालिताए' यह परिषद् का विशेषण है जिसका अर्थ यह है कि भगवान् की देशना सुनने के लिये सूर्यभिदेव, सेयराजा, धारिणी आदि रानियों के सिवाय ऋषिपरिषदा, मुनिपरिषदा, यतिपरिषदा, देवपरिषदा के साथ हजारों नर नारी, उनके समूह और उन समूहों में भी बहुत से अपने-अपने सभी पारिवारिक जनों सहित उपस्थित थे।

भगवान् के समवसरण में उपस्थित विशाल परिषदा और धर्मदेशना आदि का घोपपातिक सूत्र में विस्तार से वर्णन किया गया है। संक्षेप में जिसका सारांश इस प्रकार है—

अप्रतिवद्व बलशाली, अतिशय बलवान्, प्रशस्त, अपरिमित बल, वीर्यं, तेज, माहात्म्य एवं कांतियुक्त थमण भगवान् महावीर ने गरदकालीन नूतन मेघ की गजंता जैसी गंभीर, क्रोच पक्षी के निर्घोष तथा दुन्दुभिताद के समान मधुर, वक्षस्थल में विस्तृत होती हुई, कंठ में अद्विष्ट होती हुई तथा मूर्धा में व्याप्त होती हुई, सुव्यक्त —सप्ट, वर्ण-पद की विकलता —हकलाहट आदि से रहित, सर्व-अक्षर सञ्चिपात—समस्त वणों के मुक्त्यवस्थित संयोग से युक्त, पूर्ण तथा माधुर्य गुणयुक्त स्वर में समन्वित, श्रोताओं को अपनी-अपनी भाषा में परिणत होने के स्वभाव वाली बाणी द्वारा राजा, रानी

तथा सेकड़ों हजारों ऋषियों, मुनियों, यतिआदि देवों आदि श्रोताश्रों के समूह वाली उस महत्ती परिषदा को एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर से अर्धमाघधी भाषा में धर्मदेशना दी ।

भगवान् द्वारा उद्गीर्ण वह अर्धमाघधी भाषा उन सभी अर्थ-अनार्य श्रोताश्रों की भाषाओं में परिणत हो गई ।

भगवान् द्वारा दी गई धर्मदेशना इस प्रकार है—

'लोक' का अस्तित्व है अलोक का अस्तित्व है । इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आङ्गब, संवर, वेदना, निर्जरा, अहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, तारक, तिर्यचयोनि, तिर्यचयोनिज जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिवर्णि-कर्मजनित आवरण से रहित जीवों का अस्तित्व है ।

प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन, परिप्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह, अभ्याख्यान पैशून्य परपरिवाद—निन्दा, रति, अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शन-शत्य आदि वैभाविक भावों का अस्तित्व है ।

प्राणातिपातविरमण—हिंसाविरति, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिप्रहविरमण, मिथ्यादर्शनशत्यविरमण आदि आत्मा की विशुद्धि करने वाले भावों का अस्तित्व है ।

सभी अस्तिभाव स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप हैं और सभी नास्तिभाव परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है ।

सुआचरित—शुद्धभावों से आचरण किये गये दान शील आदि कर्म-कार्य उत्तम फल देनेवाले हैं और दुराचरित—पापकारी कार्य दुःखकारी फल देने वाले हैं । श्रेष्ठ उत्तम कार्यों से जीव पुण्य का और पाप कार्यों से पाप का उपार्जन करता है । संसारी जीव जन्म-मरण करते रहते हैं । शुभ और अशुभ कर्म-कार्य फल युक्त हैं—निष्फल नहीं हैं ।

यह निर्यन्त्र प्रवचन—बीतराग भगवन्तों द्वारा उपदिष्ट धर्म, सत्य, अनुस्तर, अद्वितीय, सर्वात्मना शुद्ध, परिपूर्ण है, प्रमाण से अबाधित है, माया, मिथ्यात्व आदि धात्यों का निवारक है । सिद्धिमार्ग-सिद्धावस्था प्राप्त करने का उपाय है, मुक्तिमार्ग-कर्मरहित अवस्था प्राप्त करने का कारण है, निवर्णिमार्ग—सकल संताप रहित आत्मदशा प्राप्त करने का हेतु है, नियर्णिमार्ग—पुनः जन्म-मरण रूप संसार से पार होने का मार्ग है, अवितथ—यथार्थ, अविसन्धि-विच्छेदरहित—समस्त दुःखों को सर्वथा क्षय करनेवाला है । इसमें स्थित जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण दशा को प्राप्त करते हैं, और समस्त सांसारिक दुःखों का अन्त करते हैं ।

एकाच्चर्चा—जिनके एक ही मनुष्यभव धारण करना शेष रह गया है, ऐसे एक भवावतारी पूर्व-कर्मों के शेष रहने से किन्हीं महद्विक देवलोकों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं और वहां महान् ऋद्धि-सम्पन्न दीर्घ आयु स्थिति वाले होते हैं । उनके वक्षःस्थल हार-मालाओं से सुशोभित होते हैं, और अपनी दिव्य प्रभा से सभी दिशाओं को प्रभासित करते हैं । वे कल्पोपपन्न या कल्पातीत देवों में उत्पन्न होते हैं । वे वर्तमान में भी उत्तमगति, स्थिति को प्राप्त करते हैं और भविष्य में कल्याणप्रद स्थान को प्राप्त करनेवाले और असाधारण रूप से सम्पन्न होते हैं ।

जीव महारम्भ, महापरिग्रह, पञ्चेन्द्रिय जीवों का धध और मांसाहार इन चार कारणों से नरकयोग्य कर्मों का उपार्जन करता है और नारक रूप में उत्पन्न होता है ।

इन चार कारणों से जीव तिर्यचगति को प्राप्त करता है और तिर्यचयोनि में उत्पन्न होता है—१. मायाचार, २. असत्यभाषण, ३. उत्कंचनता—खुशामद या धूर्तता, ४. वंचनता—शोषा देना, ठगना ।

इन कारणों से जीव मनुष्ययोनि में उत्पन्न होते हैं—१. प्रकृतिभद्रता २. प्रकृतिविनीतता ३. सानुकोशता—दयावृत्ति ४. अमर्तसरता—ईर्ष्या का अभाव ।

इन कारणों से जीव देवों में उत्पन्न होते हैं—१. सरागसंयम, २. संयमासंयम, ३. अकाम-निर्जरा, ४. बालतप—अज्ञान अवस्था में तप करना ।

धर्म दो प्रकार का है—१. अगारधर्म २. अनगारधर्म । अनगारधर्म का पालन वह जीव करता है जो सर्व प्रकार से भुँड़ित होकर गृहस्थ अवस्था—घर का त्याग कर श्रमण-प्रवृज्या को अंगीकार कर अनगार बनता है । सर्वप्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण और रात्रिभोजनविरमण व्रत को स्वीकार करता है । इस धर्म के पालन करने में जो निर्गन्ध अथवा निर्गन्धी (साधु, साध्वी) प्रयत्नशील हो अथवा पालन करता हो वह आज्ञा का आराधक होता है ।

अगारधर्म बारह प्रकार का बताया है—पांच अणुब्रत, तीन गुणवत, चार शिक्षाब्रत । पांच अणुब्रत इस प्रकार हैं—स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष, इच्छा-परिग्रह की मर्यादा बांधना ।

तीन गुणब्रत इस प्रकार हैं—अनर्थदंडविरमण, दिस्त्रित, उपभोग-परिभोगपरिमाणब्रत ।

चार शिक्षाब्रत इस प्रकार हैं—सामायिक, देशावकाशिक, पौष्ट्रोपवास, अतिथि-संविभागब्रत और जीवनान्त के समय जो धारण किया जाता है एवं मरण निकट हो तब कषाय और काया को कृश करके प्रीतिपूर्वक जिसकी आराधना की जाती है ऐसा सलेखनाब्रत । यह बारह प्रकार का अमार-सामायिक धर्म है ।

इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित श्रावक या श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं ।

भगवान् की इस देशना को सुनकर उस महती सभा में उपस्थित मनुष्यों में से अनेकों ने श्रमण दीक्षा ली, अनेकों ने पांच अणुब्रत, सात शिक्षाब्रत रूप बारह प्रकार का गृहीधर्म अंगीकार किया ।

शेष परिषदा ने अपने प्रमोदभाव को प्रकट करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, और किर कहा—हे भदन्त ! आप द्वारा सुआख्यात, सुप्रज्ञप्त, सुभाषित, सुविनीत, सुभावित निर्गन्धप्रवचन अनुत्तर है । धर्म की व्याख्या करते हुए आपने उपशम-क्रोधादि की शांति का उपदेश दिया है, उपशम के उपदेश के प्रसंग में आपने विवेक का व्याख्यान किया है, विवेक की व्याख्या करते हुए आपने प्राणातिपात आदि से विरत होने का निरूपण किया है, विरमण का उपदेश

देने के प्रसंग में आपने पापकर्म नहीं करने का विवेचन किया है। आपसे भिन्न दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण इस प्रकार का उपदेश नहीं कर सकता है, तो फिर इससे ओण्ठ धर्म के उपदेश की बात कहीं?

इस प्रकार से कह कर वह परिषदा जिस दिशा से आई थी, वापस उसी ओर लौट गई।

सूर्यभिदेव की जिज्ञासा का समाधान

७०—तए णं से सूरियामे देवे सम्भवस्तु भगवान् भगवत्ते अंतिए धर्मं सोच्चा निसम्म हद्दुरुद्धु जाव हयहियए बद्वाए उट्ठेति उद्वित्ता समणं भगवत्ते महावीर वंदह नमस्कार, वंवित्ता नमसित्ता एवं वयासी—

‘अहं णं भंते ! सूरियामे देवे कि भवसिद्धिते, अमवसिद्धिते ? सम्भविद्वो, मित्त्वादिद्वो ? परित्तसंसारिते, अणंतसंसारिते ? सुलभबोहिए, दुलभबोहिए ? आराहए, विराहए ? चरिते, अचरिते ?

७०—तदनन्तर वद्वा सूर्यभिदेव श्रमण भगवान् महावीर प्रभु से धर्मशब्दण कर और हृदय में अवधारित कर हृषित एवं संतुष्ट यावत् आह्लादितहृदय हुआ। आपने आसन से ऊँचे होकर उसने श्रमण भगवान् महावीर को बन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार प्रश्न किया—

‘भगवन् ! मैं सूर्यभिदेव क्या भवसिद्धिक—भव्य हूँ अथवा अभवसिद्धिक—अभव्य हूँ ? सम्यग्दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि हूँ ? परित्त संसारी—परमित काल तक संसार में श्रमण करने वाला हूँ अथवा अनन्त संसारी—अनन्त काल तक संसार में श्रमण करने वाला हूँ ? सुलभबोधि—सरलता से सम्यग्ज्ञानदर्शन को प्राप्ति करने वाला हूँ अथवा दुलभबोधि हूँ ? आराधक—बोधि की आराधना करने वाला हूँ अथवा विराधक हूँ ? चरम शरीरी हूँ अथवा अचरम शरीरी हूँ ?

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संसारी जीवों की चरम लक्ष्य प्राप्त करने की भावना का दिशदर्शन कराया है। यद्यपि संसारी जीव अनादि काल से इस जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करते आ रहे हैं, परन्तु चाहते यही हैं कि उस आत्मरमणता स्थिति को प्राप्त कर लूँ कि जिसके पश्चात् न पुनर्जन्म है और न पुनःमरण है तथा न बार-बार के जन्म-मरण के कारण सांसारिक आधि-व्याप्तियाँ हैं। यह आकांक्षा तभी सफल हो पाती है जब उस जीव में मुक्ति होने की योग्यता पाई जाती है। ऐसी योग्यता उसी में पाई जाती है जो भव्य हो अर्थात् अभी न सही किन्तु कालान्तर में कभी-न-कभी जिसे मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। इसीलिये सूर्यभिदेव ने सर्वप्रथम भगवान् के समक्ष यही जिज्ञासा व्यक्त की कि—हे भगवन् ! मैं मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता वाला—भव्य हूँ अथवा नहीं हूँ ?

योग्यता होने पर मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब सम्यक् अद्वा, विष्वास, प्रतीति, दृष्टि हो। सम्यक् अद्वा के न होने पर जीव चाहे भव्य (मुक्ति योग्य) हो किन्तु वह प्राप्त नहीं की जा सकती। इस तथ्य को समझने के लिए सूर्यभिदेव ने दूसरा प्रश्न पूछा—मैं सम्यदृष्टि हूँ अथवा नहीं हूँ ?

सम्यग्दृष्टि हो जाने पर भी यह निश्चित नहीं है कि सभी जीव शीघ्र मुक्ति प्राप्त करें। ऐसे जीव भी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले हो सकते हैं और यह भी सम्भव है कि सीमित समय में मुक्ति प्राप्त कर लें। इसी बात को जानने के लिए पूछा—भगवन् ! मैं परिमितकाल तक संसारभ्रमण करने वाला हूँ अथवा अनन्त काल तक मुझे संसार में श्रमण करना पड़ेगा ?

संसारभ्रमण का परिमित काल होने पर भी जीव तभी मुक्त हो सकता है जब तदनुकूल और तदनुरूप सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र का सुयोग-संयोग मिले। इसीलिये सूर्यभिदेव ने भगवान् से यह जानना चाहा कि मैं सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्र की साधना करने में तत्पर हो सकूँगा? उनकी साधना करने का अवसर सुलभता से प्राप्त होगा अथवा नहीं?

सुलभबोधि होने पर भी सभी जीव सम्यग्ज्ञान आदि की यथाविधि आराधना करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। लैक्सिण्याओं, परीषद्, उपम्यार्थों आदि के कारण आराधना से विचलित होकर लक्ष्य के निकट पहुँचने पर भी संसार में भटक जाते हैं। इसी लिंगति को समझने के लिए सूर्यभिदेव ने भगवान् से पूछा—मैं आराधक ही रहूँगा अथवा भटक जाऊँगा? और सबसे अन्त में अपनी समस्त जिज्ञासाओं का निष्कर्ष जानने के लिये उत्सुकता से पूछा कि भव्य सुलभबोधि, आराधक आदि होने पर भी मुझे क्या मुक्ति प्राप्ति की काल-लक्ष्य प्राप्त हो चुकी है? संसार में रहने का मेरा इसके बाद का भव अन्तिम है अथवा और दूसरे भी भवान्तर शेष हैं?

उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि योग्यता, निमित्त और उन निमित्तों का सदुपयोग करने के लिये तदनुकूल प्रवृत्ति करने पर ही जीव मुक्ति प्राप्त करता है। अत एव सर्वदा पुरुषार्थ के प्रति समर्पित होकर जीव को प्रयत्नशील रहना चाहिए।

७१—‘सूरियामा’ इ समर्ण भगवं महावीरे सूरियाभं वेवं एवं बदासी—सूरियामा! तुम एं भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिते जावे ॥ अरिमे णो अचरिमे ।

७१—‘सूर्यभि !’ इस प्रकार से सूर्यभिदेव को सम्बोधित कर अमण भगवान् महावीर ने सूर्यभिदेव को उत्तर दिया—

हे सूर्यभि ! तुम भवसिद्धिक-भव्य हो, अभवसिद्धिक-अभव्य नहीं हो, यावत् चरम शरीरी हो अर्थात् इस भव के पश्चात् का तुम्हारा मनुष्यभव अन्तिम होगा, अचरम शरीरी नहीं हो अर्थात् हे सूर्यभि ! तुम भव्य हो, सम्यग्दृष्टि हो, परमित संसार वाले हो, तुम्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ है, तुम आराधक हो और चरम शरीरी हो ।

सूर्यभिदेव द्वारा मनोभावना का निवेदन

७२—तए णं से सूरियामे देवे समर्णेण भगवयां महावीरेण एवं बुत्ते समाणे हृष्टुद्गु चित्तमाणं-दिए परमसोमणस्तिए समर्णं भगवंतं महावीरं दंदति नमंसत्ति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं ववासी—

तुझे णं भते ! सद्वं जाणहु, सद्वं पासहु, सद्वं कालं जाणहु सद्वं कालं पासहु, सद्वे भावे जाणहु सद्वे भावे पासहु ।

जाणति णं देवाणुप्तिया ! यम पुलिं वा पच्छा वा मम एयाहवं दिव्यं वेदिङ्गिं दिव्यं वेषजुइं विद्वं वेवाणुभावं लद्दं पत्तं अभिसम्भाग्यं ति । तं हृष्टामि णं देवाणुप्तियाणं भत्तिपुव्यगं गोथमा-इयाणं समर्णाणं निरग्याणं दिव्यं वेदिङ्गिं दिव्यं वेषजुइं दिव्यं वेवाणुभावं विल्वं बत्तीसतिवद्दं नद्विहं उवदंसित्तए ।

७२—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर उस सूर्यभिदेव ने हृषित सन्तुष्ट चित्त से आनन्दित और परम प्रसन्न होते हुए श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार निवेदन किया—

हे भद्रन् ! आप सब जानते हैं और सब देखते हैं, सर्वश्रद्धा-विद्या, लोक-अलोक में विद्यमान समस्त पदार्थों को जानते हैं और देखते हैं । सर्व काल- प्रतीत-अनागत-वर्तमान काल को आप जानते और देखते हैं; सर्व भावों को आप जानते और देखते हैं ।

अतएव हे देवानुप्रिय ! पहले अथवा पश्चात् लब्धि, प्राप्त एवं अधिगत इस प्रकार की मेरी दिव्य देव ऋषि, दिव्य देवद्युति तथा दिव्य देवप्रभाव को भी जानते और देखते हैं । इसलिये आप देवानुप्रिय की भक्तिवश होकर मैं चाहता हूँ कि गीतम आदि निर्णन्थों के समक्ष इस दिव्य देवऋषि, दिव्य देवद्युति—कांति, दिव्य देवानुभाव—प्रभाव तथा वत्तीम प्रकार की दिव्य नाट्यविधि—नाट्यकला को प्रदर्शित करूँ ।

७३—तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेण देवेण एवं बृत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयम्भु णो आढाति, णो पारियाणति, तुसिणीए संचिद्गुति ।

७३—तब सूर्यभिदेव के इस प्रकार निवेदन करने पर श्रमण भगवान् महावीर ने सूर्यभिदेव के इस कथन का आदर नहीं किया, उसकी अनुमोदना नहीं की, किन्तु वे मौन रहे ।

विवेचन—आत्मविज्ञानी भगवान् की स्थितप्रज्ञ दशा को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि वे सूर्यभिदेव के निवेदन को आदर न दें, उदासीन-मौन रहे, परन्तु सूर्यभिदेव की मनोभूमिका को देखते हुए वह उनके सामने नाटक दिखाने के सिवाय और कर भी क्या सकता था ? भक्तों की दो कोटियाँ हैं—पहली मन, वचन, काय से अपने भजनीय का अनुसरण करने वालों अथवा अनुसरण करने के लिये प्रयत्नशील रहने वालों की । ये बाह्य प्रदर्शनों के बजाय भजनीय के शुद्ध अनुसरण को ही भक्ति समझते हैं । दूसरी कोटि है प्रशंसकों की, जो भजनीय का अनुसरण करने योग्य पुरुषार्थशाली नहीं होने से उनके प्रशंसक होकर सन्तोष मानते हैं । ऐसे प्रशंसक बाह्य-प्रदर्शन के सिवाय आंतरिक भक्ति तक पहुँच नहीं सकते हैं । ये प्रशंसक बाह्य-प्रदर्शन के प्रति भजनीय की उदासीनता को समझते हुए भी अपनी प्रसन्नता के लिये बाह्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ कर सकें, वैसे नहीं होते हैं । यही औपचारिक भक्ति के ग्राविभवि होने का कारण प्रतीत होता है जो सूर्यभिदेव के निवेदन से स्पष्ट है । इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भगवान् के मौन रहने में ‘यद् यवाचरति शिष्टः तत् तदेवेतरो जनः’ इस उक्ति का तत्त्व भी गम्भित है । टीकाकार ने सूर्यभिदेव की इस नाटकविधि को स्वाध्याय आदि कर्तव्य का विधातक बताया है—‘गीतमादीनां च [नाट्यविधेः स्वाध्यायादि-विधातकारित्वात् ।’

७४—तए णं से सूरियाभे देवे समणं भगवन्तं महावीरं दोष्वं पि तच्चं पि एवं व्यासी—तुभे णं भते ! सर्वं जाणह जाव उवर्द्दित्तए सि कृद् समणं भगवन्तं तिक्खुत्तो आधाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति, अवक्कमित्ता वेउच्चियसमुद्धाएणं समोहणिता संखिज्जात्तं जोयणाऽङ्गं वण्डं निस्तिरति, अहावायरे ।

अहासुहुमे०^१ । दोर्चं पि विडिक्षयसमुद्धाएण जाव बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउच्चति । से अहान् मए आँखिगपुव्वारे इ वा जाव मणीं फासो ।^२

तस्य णं बहुसमरमणिज्जस्य भूमिभागस्य बहुमज्जदेसभागे पिच्छाघरमण्डवं विउच्चति अणेग-
खंभसयसंनिविहृ^३ व्यणाङ्गो-अन्तो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं उल्लोयं अक्षाढगं च मणियेद्वयं च
विउच्चति । तोसे णं मणियेद्वयाए उवरि सीहासणं सपरिवारं आव दामा चिटुन्ति ।^४

७४—तत्पश्चात् सूर्यमिदेव ने दूसरी ओर तीसरी बार भी पुनः इसी प्रकार से श्रमण भगवान्
महाबीर से निवेदन किया—

हे भगवन् ! आप सब जानते हैं आदि, यावत् नाट्यविधि प्रदर्शित करना चाहता हूँ । इस प्रकार कहकर उसने दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर श्रमण भगवान् महाबीर की तीन बार प्रदक्षिणा की । प्रदक्षिणा करके बन्दन-नमस्कार किया और बन्दन-नमस्कार करके उत्तर पूर्वे दिशा में गया । वहाँ जाकर वंक्रियसमुद्धात करके संख्यात योजन लम्बा दण्ड निकाला । यथावादर (असार) पुद्गलों को दूर करके यथासूक्ष्म (सारभूत) पुद्गलों का संचय किया । इसके बाद पुनः दुबारा वंक्रिय समुद्धात करके यावत् बहुसमरमणीय भूमि भाग की रचना की । जो पूर्ववर्णित आँखिग पुष्कर आदि के समान सर्वप्रकार से समतल यावत् रूप रस गंध और स्पर्श वाले मणियों से सुशोभित था ।

उस अत्यन्त सम श्रीर रमणीय भूमिभाग के मध्यातिमध्य भाग में एक प्रेक्षागृहमंडप—नाटकशाला की रचना की । वह अनेक सैकड़ों स्तम्भों पर संनिविष्ट था इत्यादि वर्णन पूर्व के समान यहाँ कर लेना चाहिए ।

उस प्रेक्षागृह मंडप के अन्दर अतीव समतल, रमणीय भूमिभाग, चन्देवा, रंगमंच और मणिपीठिका की विकुर्वणा की और उस मणिपीठिका के ऊपर फिर उसने पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिहासन को रचना यावत् उसका ऊपरो भाग मुक्तादामों से शोभित हो रहा था ।

७५—तए णं से सूर्यियाभे देखे समणस्य भगवतो महाबीरस्य आलोए प्रणामं करेति, करिता 'अणुजाणउ मे भगवं, ति कटू सीहासणवरगए तित्यवराभिमुहे संणिसणे ।

तए णं से सूर्यियाभे देखे तत्पदभयाए नानामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणओवियमिसि-
मिसितविरहयमहाभरणकडग-तुडियवरभूसणुज्जलं पीवरं पलम्बं दाहिणं भुयं पसारेति । तओ णं सरिस-
याणं सरित्याणं सरिक्षयाणं सरिसलाधण-रुवजोव्वणगुणोवदेवाणं एगाभरण-वसणगहि-
अणिउओआणं दुहसो संदेल्लियगणियत्थाणं उत्पीलियवितपद्वपरियरसफेणकावत्तरहयसंगयपलंबवत्थंत-
चित्तचिललगनियंसणाणं एगावलिकण्ठरहयसोभंतवच्छपरिहत्यभूसणाणं अदुसयं णदुसज्जाणं
देवकुमाराणं णिगगच्छक्षिति ।

७५—तत्पश्चात् उस सूर्यमिदेव ने श्रमण भगवान् महाबीर की ओर देखकर प्रणाम किया और प्रणाम करके हे भगवन् ! मुझे आज्ञा दीजिये' कहकर तीर्थकर को ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिहासन—पर सुखपूर्वक बैठ गया ।

१. देखें सूत्र संख्या १३

२. देखें सूत्र संख्या ३०-४४

३. देखें सूत्र संख्या ४५-५१

इसके पश्चात् नाट्यनिधि प्रारम्भ करने के लिये गुहमें एक सूर्यभिदेव ने निषुण शिल्पियों द्वारा बनाये गये अनेक प्रकार की विमल मणियों, स्वर्ण और रत्नों से निर्मित भाग्यवालियों के बोध्य, देवीप्यमान, कटक श्रुटि आदि श्रेष्ठ आभूषणों से विभूषित उज्ज्वल पुष्ट दीधं दाहिनी भुजा को फैलाया—लम्बा किया।

उस दाहिनी भुजा से एक सौ आठ देवकुमार निकले। वे समान शरीर-आकार, समान रंग-रूप, समान वय, समान लावण्य, युवोचित गुणों वाले, एक जैसे आभरणों, वस्त्रों और नाट्योपकरणों से सुसज्जित, कन्धों के दोनों ओर लटकते पल्लों वाले उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) धारण किये हुए, शरीर पर रंग-विरंगे कंचुक वस्त्रों को पहने हुए, हवा का झोका लगने पर विनिर्गत फेन जैसी प्रतीत होने वाली भालर युक्त चित्र-विचित्र देवीप्यमान, लटकते अधोवस्त्रों (चोगा) को धारण किये हुए, एकावली आदि आभूषणों से शोभायमान कण्ठ एवं वक्षस्थल वाले और नृत्य करने के लिए तत्पर थे।

७६—तथांतरं च ण नानामणि जाव^१ पीवरं पलंबं वामं भुयं पसारेति, तओ णं सरिसथाणं, सरिधथाणं, सरिधथाण-हव-जोववणगुणोववेघाणं, एगाभरण-वसणगहिश्रणिज्जोआणं दुहतो संवेहिस्यगणिथस्थाणं आविद्वतिस्यामेलाणं पिणदुगेवेज्जकंचुईणं नानामणि-रथणसूसण विराइर्थगमंगाणं चंद्रहसमनिलाडाणं चंद्राहियसोमदंसणाणं उक्का इव उज्जोवेमाणीणं सिगारागारचारुवेसाणं संगयगय-हसियभणिथ-चिद्विय विलास-लस्तिय-संतावनिउणजुत्तोवयारकुसलाणं, सुवर-थण-जघण-वयण-कर-चरण-नयण-सायणविलासकलियाणं गहियाउज्जाणं अदूसयं नदूसज्जाणं देवकुमारियाणं णिगार्जुङ ।

७६—तदतन्तर सूर्यभिदेव ने अनेक प्रकार की मणियों आदि से निर्मित आभूषणों से विभूषित यावत् पीवर-पुष्ट एवं लम्बी बांयीं भुजा को फैलाया। उस भुजा से समान शरीर-कृति, समान रंग, समान वय, समान लावण्य-रूप-योवन गुणोंवाली, एक जैसे आभूषणों, दोनों ओर लटकते पल्ले वाले उत्तरीय वस्त्रों और नाट्योपकरणों से सुसज्जित, ललाट पर तिलक, भस्तक पर आमेल (फूलों से बने मुकुट जैसे शिरोभूषण) गले में ग्रंथेयक और कंचुकी व्यारण किये हुए अनेक प्रकार के मणि-रत्नों के आभूषणों से विराजित अंग-प्रत्यंगों-वाली चन्द्रमुखी, चन्द्रार्ध समान ललाट वाली चन्द्रमा से भी अधिक सौम्य दिखाई देने वाली, उल्का के समान चमकती, शृंगार गृह के तुल्य चारु-सुन्दर वेष से शोभित, हंसने-बोलने, आदि में पटु, नृत्य करने के लिए तत्पर एक सौ आठ देव-कुमारियाँ निकलीं।

वाञ्छों और वाद्यवादकों की रचना—

७७—तए णं से सूरियामे देवे अदूसयं संखाणं विज्ञवति, अदूसयं संखवायाणं विज्ञवह अ०^२ सिगाणं वि०^३ अ० सिगवायाणं वि०, अ० संखियाणं वि०, अ० संखियवायाणं वि०, अ० खरमुहोणं वि०, अ० खरमुहिवायाणं वि०, अ० पेयाणं वि०, अ० पेयवायगाणं वि०, अ० पीरिपीरियाणं वि० अ० पीरिपीरियावायगाणं विज्ञवति, एवमाइयाई एगूणपणं आउज्जविहाणाई विज्ञवह ।

१. सूत्र संख्या ७५.

२. अ० पद से 'अदूसयं' शब्द का संकेत निया है।

३. वि० पद 'विज्ञवति' शब्द का बोधक है।

७७— तत्पश्चात् अर्थात् एक सौ आठ देवकुमारों और देवकुमारियों की विकुर्वणा करने के पश्चात् उस सूर्यभिदेव ने एक सौ आठ शंखों की और एक सौ आठ शंखवादकों की विकुर्वणा की। इसी प्रकार से एक सौ आठ-एक सौ आठ शृङ्गों-रणसिंगों और उनके वादकों-बजाने वालों की, शंखिकाओं (छोटे शंखों) और उनके वादकों की, खरमुखियों और उनके वादकों की, पेयों और उनके वादकों की, पिरिपिरिकाओं और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इस तरह कुल मिलाकर उनपचास प्रकार के वादों और उनके बजाने वालों की विकुर्वणा की।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पिरिपिरिका पर्यन्त वादों के नामों का उल्लेख है। शेष के नाम यथास्थान आगे के सूत्र में आये हैं वे इस प्रकार हैं—

१. शंख २. शृङ्ग (रणसिंग) ३. शंखिका (छोटे शंख), ४. खरमुखी ५. पेया ६. पिरिपिरिका
 ७. पण्ड—ढोल, ८. पटह—तगड़ा, ९. भंभा, १०. होरमध, ११. भेरी, १२. भालर, १३. दुन्दुभि,
 १४. मुरज, १५. मृदंग, १६. नन्दीमृदंग, १७. आर्लिंग, १८. कुस्तुंबा, १९. गोमुखी, २०. मादला
 २१. बीणा, २२. विरची, २३. बल्लकी, २४. षट्भ्रामरी बीणा, २५. आमरी बीणा, २६. बछीसा,
 २७. परिवादिनी बीणा, २८. सुघोषावंटा, २९. नन्दीघोष घंटा, ३०. सौतार की बीणा, ३१. काछ्वी
 बीणा, ३२. चित्र बीणा, ३३. आमोट, ३४. भंभा, ३५. नकुल, ३६. तूण, ३७. तुंबबीणा—तम्बूरा,
 ३८. मुकुन्द—मुरज सरीखा एक वाद्य-विशेष, ३९. हुडुकक, ४०. विचिककी, ४१. करटी, ४२. डिडिम,
 ४३. किणिक, ४४. कडंब, ४५. दर्दर, ४६. दर्दरिका, ४७. कलशिका ४८. मडकक, ४९. तल, ५०. ताल
 ५१. कांस्थ ताल, ५२. रिंगरिसिका ५३. लत्तिका, ५४. मकरिका, ५५. शिशुमारिका, ५६. वाली,
 ५७. वेणु, ५८. परिली, ५९. बद्धक ।

यद्यपि मूल सूत्रपाठ के वादों की संख्या उनपचास बताई है, परन्तु गणना करने पर उनकी संख्या उनसठ होती है। टीकाकार ने इसका समाप्तान इस प्रकार किया है—मूलभेदापेक्षया आतोच्च-भेदा एकानपञ्चाशत्, शेषस्तु एतेषु एव अन्तर्भवन्ति यथा वंशातोष्टविधाने वाली-वेणु-परिली-बद्धगा-इति—अर्थात् वादों के मूल भेद तो उनपचास ही हैं। शेष उनके अवान्तरभेद हैं, जैसे कि वंशवादों में वाली, वेणु, परिली, बद्धग आदि का अन्तर्भवि हो जाता है ।

ऊपर दिये गये वाद नामों में से कुछ एक के नाम स्पष्ट ज्ञात नहीं होते हैं कि वर्तमान में उनकी व्याप्ति संज्ञा है? टीकाकार आचार्य ने भी लोकगम्य कहकर इनकी व्याख्या नहीं की है—‘अव्याख्यातास्तु भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः ।

सूर्यमिदेव द्वारा नृत्य-गान-वादन का आदेश

७८—तए णं ते बहुवे देवकुमारा य देवकुमारियाश्रो य सद्वावेति ।

तए णं ते बहुवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेदं देवेणं सद्वाविया समाणा हट्ट जाव (तुट्ट चित्तमाणंदिया) जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छत्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्नहियं जाव (सिरसावत्तं मत्यए अञ्जलि कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेति) बद्धावित्ता एवं व्याप्ति—‘संविसंतु णं वेवाणुप्त्यया ! जं अम्हेहि कायव्यं ।’

७९—तत्पश्चात् सूर्यमिदेव ने उन देवकुमारों तथा देवकुमारियों को बुलाया ।

सूर्यभिदेव द्वारा बुलाये जाने पर वे देवकुमार और देवकुमारियाँ हर्षित होकर यावत् (संतुष्ट और चित्त में आनंदित होकर) सूर्यभिदेव के पास आये और दोनों हाथ जोड़कर यावत् (आवर्त पूर्वक भस्तक पर अज्ञालि करके जय-विजय शब्दों से वधाया और) अभिनन्दन कर सूर्यभिदेव से विनयपूर्वक बोले—हे देवानुप्रिय ! हमें जो करता है, उसकी आज्ञा दीजिये ।

७९—तए णं से सूरियामे देवे ते बहुवे देवकुमारीओ य एवं व्यासी—

गच्छहु णं तुम्हे देवाणुप्रिया ! समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुतो आयाहिणप्याहिणं करेह, करिस्ता वंदहु नमंसहु, वंदित्ता नमंसित्ता गोयमाद्याणं समणाण निर्गंथाणं तं दिव्यं देविद्विं दिव्यं देवज्युति विव्यं देवाणुभावं, दिव्यं बत्तीसइबद्धं णद्विविहि उवदंसेह, उवदंसित्ता खिप्पामेव एयमाण-स्त्रियं पञ्चत्पिण्डाहु ।

८०—तब सूर्यभिदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों से कहा—

हे देवानुप्रियो ! तुम सभी श्रमण भगवान् महावीर के पास जाओ और दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार श्रमण भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा करो । प्रदक्षिणा करके बन्दन-नमस्कार करो । बन्दन-नमस्कार करके गौतमादि श्रमण निर्गंथों के समक्ष दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव वाली बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविद्धि करके दिखलाओ । दिखलाकर शीघ्र ही मेरी इस आज्ञा को बापस मुझे लौटाओ ।

८०—तए णं ते बहुवे देवकुमारा देवकुमारीयो य सूरियामेण देवेण एवं बुत्ता समाणा हृद जाव करयल जाव पडिसुणति, पडिसुणिता जेणेव समणे भगवं महावीरे सेणेव उवागच्छुति, उवागच्छुता समणं भगवंतं महावीर जाव नमंसित्ता जेणेव गोयमादिया समणा निर्गंथा तेणेव उवागच्छुति ।

८०—तदनन्तर वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ सूर्यभिदेव की इस आज्ञा को सुनकर हर्षित हुए यावत् दोनों हाथ जोड़कर यावत् आज्ञा को स्वीकार किया । स्वीकार करके श्रमण भगवान् के पास आये । आकर श्रमण भगवान् महावीर को यावत् नमस्कार करके जहाँ गौतम आदि श्रमण निर्गंथ विराजमान थे, वहाँ आये ।

८१—तए णं ते बहुवे देवकुमारा देवकुमारीयो य समामेव समसरणं करेति, करिस्ता^१ समामेव अवणमंति अवणमित्ता समामेव उन्नमंति, एवं सहितामेव ओनमंति एवं सहितामेव उन्नमंति सहितामेव उण्णमित्ता संगयामेव ओनमंति संगयामेव उन्नमंति उन्नमित्ता थिमियामेव ओणमंति थिमियामेव उन्नमंति, समामेव यसरंति पसरित्ता, समामेव आउजजिह्वाणाङ्गं गेण्हंति समामेव पदारंसु पगाङ्गंसु पण्डित्यसु ।

१. “समामेव पंतिश्चो वंधनं वंधित्ता समामेव पंतिश्चो नमंसति नमंसित्ता” यह पाठ किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में विशेष मिलता है कि एक साथ पंक्ति बनाई, पंक्तिवद्ध होकर एक साथ नमस्कार किया और नमस्कार करके……… ।

८१—इसके बाद वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ पंक्तिबद्ध होकर एक साथ मिले। मिलकर सब एक साथ नीचे नमे और एक साथ ही अपना मस्तक ऊपर कर सीधे खड़े हुए। इसी क्रम से तुनः सभी एक साथ मिलकर नीचे नमे और फिर मस्तक ऊंचा कर सीधे खड़े हुए। इसी प्रकार सीधे खड़े होकर नीचे नमे और फिर सीधे खड़े हुए। खड़े होकर धोमे से कुछ नमे और फिर सीधे खड़े हुए। खड़े होकर एक लाय अलग-अलग फैल गये और फिर यथायोग्य नृत्य-गान आदि के उपकरणों-वालों को लेकर एक साथ ही बजाने लगे, एक साथ ही गाने लगे और एक साथ नृत्य करने लगे।

विवेचन—मूल पाठ में 'समामेव, सहितमेव तथा संगथामेव' ये तीन शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इनका संस्कृतरूप 'समकमेव, सहितमेव और संगतमेव' होता है। सामान्यतया तीनों शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु इनके अर्थ में भिन्नता है। टीकाकार ने किसी नाट्यकृशल उपाध्याय से इनका अर्थभेद समझ लेने की मूचना की है।

नृत्य गान आदि का रूपक

८२—कि ते ? उरेण मन्दं सिरेण तारं कठेण वितारं तिविहं तिसमयरेयगरहयं गुञ्जारवक-
कुहरोष्मृदं रत्तं तिठाणकरणसुद्धं सकुहरगुञ्जत्वंस-तंती-तल-ताल-लय-गहनुसंपत्तं महरं सम्भललियं
भणोहरं मिउरिभियपथसंचारं सुरह सुणह वरचारुलवं दिव्यं णटुसज्जं गेयं पगीय। वि होत्या ।

८३—उनका संगीत इस प्रकार का था कि उर—हृदयस्थल से उदगत होने पर आदि में मन्द मन्द—धीभा, मूर्छा में आने पर तार—उच्च स्वर वाला और कठ स्थान में विशेष तार स्वर (उच्चतर ध्वनि) वाला था। इस तरह श्रिस्थान-समुद्रगत वह संगीत श्रिसमय रेचक से रचित होने पर त्रिविद्ध रूप था। संगीत को मधुर प्रतिध्वनि-गुञ्जारव से समस्त प्रेक्षागृह मण्डप गुञ्जने लगता था। गेय राग-रागनी के अनुरूप था। श्रिस्थान श्रिकरण से शुद्ध था, अर्थात् उर, शिर एवं कण्ठ में स्वर संचार रूप क्रिया से शुद्ध था। गुञ्जती हुई बांसुरी और दीणा के स्वरों से एक रूप मिला हुआ था। एक-दूसरे की बजती हथेली के स्वर का अनुसरण करता था। मुरज और कंशिका आदि वालों की झंकारों तथा नर्तकों के पादक्षेप-ठुमक से वराबर मेल खाता था। दीणा के लय के अनुरूप था। दीणा आदि वाली धूनों का अनुकरण करने वाला था। कोयल की कुह-कुह जैसा मधुर तथा सर्व प्रकार से मम, सललित मनोहर, मृदु, रिभित पदसंचार युक्त, श्रीताम्रों को रतिकर, सुखान्त ऐसा उन नर्तकों का नृत्यसज्ज विशिष्ट प्रकार का उत्तमोत्तम संगीत था।

८४—कि ते ? उद्घुमंताणं संखाणं सिगाणं संखियाणं खरमुहीणं पेयाणं परिविरियाणं,
आहम्मंताणं पणवाणं पङ्हाणं, अफालिज्जमणाणं भंभाणं होरभाणं, तालिज्जताणं भेरीणं जल्लरीणं
तुंदुहीणं, आलवंताणं मुरयाणं मुहगाणं नंदीमुहंगाणं, उत्तालिज्जंताणं आलिगाणं कुतुंबाणं गोमुहीणं
मद्दलाणं, मुच्छिज्जंताणं दीणाणं दिपंचोणं बल्लकोणं कुट्टिज्जंताणं महत्तीणं कच्छभीणं च्छशबीणाणं,
सारिज्जंताणं बद्धीसाणं मुघोसाणं नंदिधीसाणं, कुट्टिज्जंतीणं भामरीणं छब्भामरीणं परिवायणीणं,
छिपंतीणं तूजाणं तुंबवीणाणं, आमोडिज्जंताणं आमोताणं भंशाणं नउलाणं, अच्छिज्जंतीणं मुगुदाणं
हुडुकोणं विक्षिकरोणं, वाइज्जंताणं करडाणं डिडिमाणं किणियाणं कडम्बाणं, ताडिज्जंताणं वहरिगाणं
दहरगाणं कुतुंबाणं कलसियाणं मद्दयाणं, आताडिज्जंसणं तलाणं तालाणं कंसतालाणं, घट्टिज्जंताणं
रिगिरिसियाणं लत्तियाणं मगरियाणं सुंसुमारियाणं, फूमिज्जंताणं वंसाणं वेलूणं बालोणं परिल्लोणं
बद्धगाणं ।

८३—मधुर संगीत-गान के साथ-साथ नृत्य करने वाले देवकुमार और कुमारिकाओं में से शंख, शूण्य, शंखिका, खरमुखी, पेया पिरिपिरिका के बादक उन्हें उद्धमानित करते—फूंकते, पणव और पठह पर आवात करते, भंभा और होरंभ पर टंकार मारते, भेरी भल्लरी और दुन्दुभि की ताड़ित करते, मुरज, मृदंग और नन्दीमृदंग का आलाप लेते, आलिंग कुस्तुम्ब, गोमुखी और मादल पर उत्ताडन करते, बोणा विर्पची और बल्लकी को मूर्छित करते, महती बीणा (सौ तार की बीणा) कच्छपीबीणा और चित्रबीणा को कूटते, बढ़ीम, मुघोषा, नन्दीघोष का सारण करते, आमरी-षड् आमरी और परिवादनी बीणा का स्फोटन करते, तूण, तुम्बबीणा का स्पर्श करते, आमोट भांझ कुम्भ और नकुल को आमोटते-परस्पर टकराते-खनखनाते, मृदंग-हुड्डक-दिचिक्की को धीमे से छूते, करड़ डिडिम किणित और कडम्ब को बजाते, दर्दरक, दर्दरिका कुस्तुंबुरु, कलशिका मड्ड को जोर-जोर से ताड़ित करते, तल, ताल कांस्वताल को धीरे से ताड़ित करते, रिगिरिसका लसिका, मकरिका और शिशुमारिका का घटून करते तथा बंशी, बेणु वाली परिल्ली तथा बद्धकों को फूंकते थे। इस प्रकार ये यहाँ अपने-अपने वार्षों रो बला रहे थे।

८४—तए ण से बिढ़वे गीए, बिढ़वे बाइए, बिढ़वे नट्टे एवं अद्भुए सिगारे उराले मणुने मणहरे गीते मणहरे नट्टे मणहरे बातिए उण्पिजलभूते कहकहभूते बिढ़वे देवरमणे पवत्ते या बि होत्था।

८५—इस प्रकार का वह वाच्य सहचरित दिव्य संगीत दिव्य वादन और दिव्य नृत्य आश्चर्य-कारी होने से अद्भुत, शूण्याररसोपेत होने से शूण्याररूप, परिपूर्ण गुण-युक्त होने से उदार, दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था कि जिससे वह मनमोहक गीत, मनोहर नृत्य और मनोहर वाच्यवादन सभी के चित्त का आक्षेपक (ईर्ष्या-स्पर्धा जनक) था। दर्शकों के कहकहों—वाह-वाह के कोलाहल से नाट्यशाला को गुंजा रहा था। इस प्रकार से वे देवकुमार और कुमारिकायें दिव्य देवकीड़ा में प्रवृत्त हो रहे थे।

नाट्याभिनयों का प्रदर्शन

८५—तए ण ते बहुवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सोत्यय-सिरिवच्छ-नंदियावत्त-बद्धमाणग-भद्रासण-कलस-मञ्जु दप्पणमगल्लभत्तचित्तं णामं दिव्यं नदृविधि उवदंसेति ।

८५—तत्पश्चात् उस दिव्य नृत्य कीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और कुमारिकाओं ने श्रमण भगवान् महावोर एवं गीतमादि श्रमण निर्गत्थों के समक्ष १. स्वस्तिक २. श्रीवत्स ३. नन्दावर्त ४. वधंमानक ५. भद्रासन ६. कलश ७. भत्त्य और ८. दर्पण, इन आठ मंगल द्रव्यों का आकार रूप दिव्य नाट्य-अभिनय करके दिखलाया।

८६—तए ण ते बहुवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सप्तमेव समोक्षरणं करेति करिता तं चेष्ट भाणियच्चं जात्य बिढ़वे देवरमणे पवत्ते या बि होत्था।

८६—तत्पश्चात् अर्थात् मंगलद्रव्याकार नाट्य-अभिनय सम्पन्न करने के पश्चात् दूसरी

नाट्यविधि दिखाने के लिए वे देवकुमार और देवकुमारियाँ एकत्रित हुई और एकत्रित होने से लेकर दिव्य देवरमण में प्रवृत्त होने पर्यन्त की पूर्वोंत समस्त वक्तव्यता का यहाँ वर्णन करना चाहिए।

विवेचन— ‘तं चेव भाणियव्वं’ पद से यहाँ पूर्व में किये गये वर्णन की पुनरावृत्ति करने का संकेत किया है। उस वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

सूर्यभद्र द्वारा आज्ञापित वे देवकुमार और देवकुमारियाँ श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके गीतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों के समक्ष आये, उनके सामने एक साथ नीचे नमे फिर मस्तक ऊँचा कर सीधे खड़े हुए। इसी प्रकार सामूहिक रूप में नमन आदि किया। तप्पश्चात् अपने अपने नृत्य गान के उपकरण और वाचों को लेकर वे सभी गाने, नाचने एवं नाट्य-अभिनय करने में प्रवृत्त हो गये।

८७—तए यं बहुवे वेवकुमाराऽय देवकुमारियो य समणस्स भगवत्तो महावीरस्स आबड-पच्चावड-सेडिपसेडि-सौतियय-पूसमाणव-बद्धमाणग-मच्छण्डमगरंड-जार-मार-फुल्लावलि-पउमपत्त-सागर-तरंग-बसंतलता-पउमलघभत्तिचित्तं णाम विव्वं णटुविहि उवदंसेति ।

८८—तदनन्तर उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने श्रमण भगवान् महावीर एवं गीतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों के सामने आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौषस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्षमानक, मत्सयादण्ड, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सामरतरंग, वासन्ती-लता और गद्मलता के आकार की रचनारूप दिव्य नाट्यविधि का अभिनय करके बतलाया।

८९—एवं च एकिकिक्याए णटुविहीए समोसरणादिया एसा वक्तव्यया जाव दिव्ये देवरमणे पद्मते या यि होत्या ।

९०—इसी प्रकार से प्रत्येक नाट्यविधि को दिखाने के पश्चात् दूसरी प्रारम्भ करने के अन्तराल में उन देवकुमारों और देवकुमारियों के एक साथ मिलने से लेकर दिव्य देवकीड़ा में प्रवृत्त होने तक की समस्त वक्तव्यता [कथन] पूर्ववत् सर्वत्र कह लेना चाहिए।

९१—तए यं से बहुवे वेवकुमाराऽय देवकुमारियो य समणस्स भगवत्तो महावीरस्स ईहामिअ-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-बालग-किञ्चर-रुद-सरभ-चभर-कुञ्जर-बणलय-पउमलघभत्तिचित्तं णाम विव्वं णटुविहि उवदंसेति ।

९२—तदनन्तर उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने श्रमण भगवान् के समक्ष ईहामृग, वृषभ, तुरग-आश्व, नर-मानव, मगर, विहग-पक्षी, व्याल-सर्प, किञ्चर, रुद, सरभ, चभर, कुञ्जर, बनलता और पश्चलता की आकृति-रचना-रूप दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया।

९३—एगतो वंकं एगओ चक्रवालं दुहओ चक्रवालं चक्रद्वचक्रवालं णाम विव्वं णटुविहि उवदंसेति ।

१. किसी किसी प्रति में निम्नलिखित पाठ है—

एगतो वंकं दुहओ वंकं एगतो खहं दुहओ चक्रवालं दुहओ चक्रवालं चक्रद्वचक्रवालं णाम विव्वं णाटुविहि उवदंसेति। अर्थात् तप्पश्चात् एकतोवक, द्वितीयवक, एक और गगनमंडलाकृति, दोनों भी गगनमंडलाकृति, एकतश्चक्रवाल द्वितीयक्रवाल ऐसी चक्रार्ध और चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया।

९०—इसके बाद उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने एकतोवक (जिस नाटक में एक ही दिशा में धनुषाकार श्रेणि बनाई जाती है), एकतश्चक्रवाल (एक ही दिशा में चक्राकार श्रेणि बने), द्विवातश्चक्रवाल (परस्पर सम्मुख दो दिशाओं में चक्र बने) ऐसी चक्राध्य-चक्रवाल नामक दिव्य नाट्य-विधि का प्रदर्शन दिखाया ।

९१—चंद्रावलिपविभक्ति च सूरावलिपविभक्ति च वलयावलिपविभक्ति च हंसावलिप०^१ च एगावलिप० च तारावलिप० मुक्तावलिप० च कणगावलिप० च रथणावलिप० च णामं दिव्वं णटुविहि उबदंसेति ।

९२—इसी प्रकार अनुक्रम से उन्होंने चन्द्रावलि, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कणकावलि और रथनावलि की प्रकृष्ट-विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्य-विधि का अभिनय प्रदर्शित किया ।

९३—चंद्रुगमणप० च सूरुगमणप० च उगमणुगमणप० च णामं दिव्वं णटुविहि उबदंसेति ।

९४—तत्पश्चात् उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने उक्त क्रम से चन्द्रोदगमप्रविभवित, सूर्यादगमप्रविभक्ति युक्त अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य के उदय होने को रचना बाले उदगमनोदगमन नामक दिव्य नाट्यविधि को दिखाया ।

९५—चंद्रावरणप० सूरावरणप० च आवरणावरणप० च णामं^२ उबदंसेति ।

९६—इसके अनन्तर उन्होंने चन्द्रावरण, सूर्यगमन की रचना बाली चन्द्र सूर्य आगमन नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया ।

९७—चंद्रावरणप० सूरावरणप० च आवरणावरणप० णामं उबदंसेति ।

९८—तत्पश्चात् चन्द्रावरण सूर्यावरण अर्थात् चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर जगत् और धर्म मण्डल में हाने बाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि को प्रदर्शित किया ।

९९—चंद्रतथमणप० च सूरतथमणप० अतथमणद्वयमणप० णामं उबदंसेति ।

१०—इसके बाद चन्द्र के अस्त होने, सूर्य के अस्त होने की रचना से युक्त अर्थात् चन्द्र और सूर्य के अस्त होने के समय के दृश्य से युक्त अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया ।

११—चंद्रमंडलप० च सूरमंडलप० च नागमंडलप० च जग्नमंडलप० च भूतमंडलप० च रक्खस-महोरा-गन्धक्षमंडलप० च मंडलभंडलप० नामं उबदंसेति ।

१. 'प०' अभ्यर सर्वश 'पविभक्ति' शब्द का सूचक है ।

२. 'णम' शब्द से सर्वश 'णामं दिव्वं णटुविहि' यह पद ग्रहण करना चाहिये ।

९६—तदन्तर चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यज्ञमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गत्थवंभण्डल की रचना से युक्त अर्थात् इन इनके मण्डलों के भावों का दर्शक मण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्य अभिनय प्रदर्शित किया ।

९७—'उसभयंडलप० च सीहून्डलप० च हयविलंबियं गयवि०' ३ हयविलसियं गयविलसियं मत्तहयविलसियं मत्तगजविलसियं मत्तहयविलंबियं मत्तगयविलंबियं द्रुतविलंबियं णामं णटुविहं उवदंसेति ।

९८—तत्पश्चात् वषभमण्डल, सिहमण्डल की ललित गति अश्व गति, और गज की विलम्बित गति, अश्व और हस्ती की विलसित गति, मत्त अश्व और मत्त गज की विलसित गति, मत्त अश्व की विलम्बित गति, मत्त हस्ती की विलम्बित गति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बित प्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का का प्रदर्शन किया ।

९९—सागरपविभक्ति च नागरप० च सागर-नागर प० च णामं उवदंसेति ।

१०—इसके बाद सागर प्रविभक्ति, नगर प्रविभक्ति अर्थात् समुद्र और नगर सम्बन्धी रचना से युक्त सागर-नागर-प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

११—णंवाप० च चंपाप० नन्दा-चंपाप० च णामं उवदंसेति ।

१२—तत्पश्चात् नन्दाप्रविभक्ति—नन्दा पुष्करिणी की सुरचना से युक्त, चम्पा प्रविभक्ति—चम्पक वृक्ष की रचना से युक्त नन्दा-चम्पाप्रविभक्ति नामक दिव्यनाट्य का अभिनय दिखाया ।

१००—मच्छंडाप० च मधरेडाप० च जारप० च मारप० च मच्छडा-मधरेडा-जारा-माराप० च णामं उवदंसेति ।

१०१—तत्पश्चात् मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, की आकृतियों की सुरचना से युक्त मत्स्याण्ड-मकराण्ड-जार-मार प्रविभक्ति नामक दिव्यनाट्यविधि दिखलाई ।

१०२—'क' त्ति ककारप० च, 'ख' त्ति खकारप० च, 'ग' त्ति गकारप० च 'घ' त्ति घकारप० च, 'ङ' त्तिङ्कारप० च, ककार-खकार-गकार-घकार-ङकारप० च णामं उवदंसेति, एवं चकारवग्नो वि तकारवग्नो वि पकारवग्नो वि ।

१. किसी-किसी प्रति में निम्न प्रकार का पाठ है—

उसभललियविवक्तं सीहूललियविवक्तं हयविलंबियं गयवि० हयविलसियं गयविलसियं मत्तहयविलसियं मत्तगजविलसियं मत्तहयवि. मत्तगयवि. द्रुयविलम्बियं णामं णटुविहं उवदंसेति ।

इसके बाद वृथभ-दैल की नुमकती हुई लवित गति, सिह की नुमकती हुई ललित गति, अश्व की विलंबित गति, गज की विलंबित गति, मत्त अश्व की विलसित गति, मत्त गज की विलसित गति, मत्त अश्व की विलंबित गति, मत्त गज की विलंबित गति वी दर्शक रचनावली द्रुतविलंबित नामक नाट्यविधि को दिखाया ।

२. 'वि.' पद से 'विलंबित' पद ग्रहण करना चाहिए ।

१०१—तदनन्तर उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने क्रमशः 'क' अक्षर की आकृति-द्वारा गकारप्रविभक्ति, 'ख' की आकार-रचना करके खकार प्रविभक्ति, 'ग' की आकृति-रचना रचना द्वारा डकारप्रविभक्ति, इस प्रकार ककार-खकार-गकार-डकारप्रविभक्ति नाम की दिव्य नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया ।

इसी तरह से चकार-चकार-जकार-भकार-झकार की रचना करके चकारवर्गप्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

चकार वर्ग के पश्चात् क्रमशः ठ-ठ-ड-ढ-ण के आकार की सुरचना द्वारा टकारवर्ग-प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया ।

टकारवर्ग के अनन्तर क्रम प्राप्त तकार-थकार-दकार-धकार-नकार-की रचना करके तकार-वर्गप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि को, दिखलाया ।

तकारवर्ग के नाट्याभिनय के अनन्तर प, फ, ब, भ, म, के आकार की रचना करके पकारवर्ग-प्रविभक्ति नाम की दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

विवेचन—यहाँ लिपि सम्बन्धी अभिनयों के उल्लेख में ककार से पकार पर्यन्त पाँच वर्गों के पच्चीस अक्षरों के अभिनयों का हो सकेत किया है, उसमें स्वरों तथा य, र, ल, व, ष, स, ह, क्ष, त्र, है। अक्षरों के अभिनयों का उल्लेख नहीं है। इसका कोई ऐतिहासिक कारण है या अन्य, यह विचारणीय है। अथवा सम्भव है कि देवों की लिपि में ककार से लेकर पकार तक के अक्षर होते हों जिससे उन्हीं का अभिनय प्रदर्शित किया है ।

इस लिपि सम्बन्धी अभिनयों में 'क' वर्गेरह की जो मूल आकृतियाँ ब्राह्मी लिपि में बताई हैं, आकृतियों के सदृश अभिनय यहाँ समझना चाहिए। जैसे कि ब्राह्मी लिपि में क की + ऐसी आकृति है, अतएव इस आकृति के अनुरूप स्थिर होकर अभिनय करके बताना 'क' की आकृति का अभिनय कहलायेगा। इसी प्रकार लिपि सम्बन्धी शेष दूसरे सभी अभिनयों के लिए भी समझ लेना चाहिए ।

१०२—असोयपल्लवप० च, अंशपल्लवप० च, जंबूपल्लवप० च, कोसंष्ठपल्लवप० च, पल्लवप० च णामं उवदंसेति ।

१०२—तत्पश्चात् अशोक पल्लव (अशोकवृक्ष का पत्ता) आम्रपल्लव, जमू (जामुन) पल्लव, कोशाम्रपल्लव की आकृति-जैसी रचना से युक्त पल्लवप्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित की ।

१०३—पउमलयाप० जाव (नागलयाप० असोगलयाप० चंपगलयाप० चयलयाप० वण-लयाप० वासंतियलयाप० अइमुत्तयलयाप० कुंवलयाप०) सामलयाप० चलयाप०^१ च णामं उवदंसेति ।

१०३—तदनन्तर पद्मलता यावत् नागलता, अशोकलता, चंपकलता, आम्रलता, वनलता,

१- 'पल्लव पल्लव प.' इनि गाठान्तरम् ।

२- 'नया लया प.' इनि गाठान्तरम् ।

वासंतीलता, प्रतिमुक्तकलता और इयामलता की सुरचना वाला लता-प्रविभक्ति नामक नाट्याभिनय प्रदर्शित किया ।

१०३—दुवणामं लतांलेति । लिहंलिहं ज्ञामं उब० । दुयविलवियं ज्ञामं उब० । अंचियं, रिभियं, अंचियरिभियं, आरभडं, भसोलं आरभटभसोलं, उप्पयनिवयपवत्तं, संकुचियं पसारियं रयारइयं अंतं संभंतं ज्ञामं दिव्यं णदृविर्हि उबदंसेति ।

१०४—इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलंबित, द्रुत विलंबित, अंचित, रिभित, अंचित-रिभित, आरभट, भसोल और आरभटभसोल नामक नाट्यविधियों का अभिनय प्रदर्शित किया ।

तदनन्तर उत्पात—(ऊपर नीचे उछलने-कूदने) निपात, संकुचित-प्रसारित भय और हृष्वश शरीर के अंगोपांगों को सिकोड़ना और फैलाना, रयारइय (?) आन्त और संआन्त सम्बन्धी कियाओं विषयक दिव्य नाट्य-अभिनयों को दिखाया ।

विवेचन -पूर्वोक्त नाट्यविधियों का स्वरूप-प्रतिपादन नाट्यविधिप्राभृत में किया गया है । परन्तु पूर्वों के विच्छिन्न होने से इन विधियों का पूर्ण रूप से जैसा का तैसा वर्णन करना सम्भव नहीं है । वर्तमान में भरत का नाट्यशास्त्र उपलब्ध है । जिसमें नाट्य, संगीत आदि से सम्बन्धित विषयों की जानकारी दी गई है । यहां देवों ने जिन नाट्यों का प्रदर्शन किया है, उनमें से कुछ एक के नाम तो इस नाट्यशास्त्र में भी आये हैं, यथा— संकुचित, प्रसारित, द्रुत, विलंबित, अंचित इत्यादि ।

सूत्र ९२ से १०४ पर्यन्त संगीत और वाद्यों के वर्णन के साथ नाट्यविधियों के अभिनयों का वर्णन किया गया है । अनेक अभिनय तो ऐसे हैं जिनके भाव समझ में आ सकते हैं । इनमें से कतिपय पशुपतियों, बनसपतियों, जगत् के अन्य पदार्थों, प्राकृतिक प्रसंगों और उत्पातों एवं लिपि-आकारों से सम्बन्धित हैं ।

१०५—तए णं ते बह्ये देवकुमाराय देवकुमारीओ य समामेय समोसरणं करेति आव दिव्ये देवरमणे पवर्ते यावि होत्या ।

१०५—तदनन्तर अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार की नाट्यविधियों का प्रदर्शन करने के अनन्तर वे देवकुमार और देवकुमारियाँ एक साथ एक स्थान पर एकत्रित हुए यावत् दिव्य देवरमत में प्रवृत्त हो गये ।

भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंगों का अभिनय

१०६—तए णं ते बह्ये देवकुमाराय देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावोरस्स पुष्व-भवचरियणिबद्धं च, चवणचरियणिबद्धं च, संहरणचरियणिबद्धं च, जम्मणचरियणिबद्धं च, अभि-सेषचरियणिबद्धं च, बालभावचरियणिबद्धं च, जोव्वण-चरियणिबद्धं च, कामभोगचरियणिबद्धं च, निदखमण-चरियणिबद्धं च, तवचरणचरियणिबद्धं च, जाणुप्पायचरिय-निबद्धं च तित्थपवत्तण-चरिय-परिनिव्वाणचरियणिबद्धं च, चरिमचरियणिबद्धं च ज्ञामं दिव्यं णदृविर्हि उबदंसेति ।

१०६—तत्पश्चात् उन सब देवकुमारों एवं देवकुमारियों ने शमण भगवान् महावीर के पूर्व भवों संबंधी चरित्र से निबद्ध एवं वर्तमान जीवन संबंधी, च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्र-

निबद्ध, जन्मचरित्रनिबद्ध, जन्माभिषेक, बालकीड़ानिबद्ध, यीवन-चरित्रनिबद्ध (गृहस्थावस्था से संबंधित) अभिनिष्ठमण-चरित्रनिबद्ध (दीक्षामहोत्सव से संबंधित), तपश्चरण-चरित्र निबद्ध (साधनाकालीन दृश्य) ज्ञानोत्पाद चरित्र-निबद्ध (कैवल्य प्राप्त होने की परिस्थिति का चित्रण), तीर्थ-प्रवर्तन चरित्र से सम्बन्धित, परिनिवाण चरित्रनिबद्ध (मोक्ष प्राप्त होने के समय का दृश्य) तथा चरम चरित्र निबद्ध (निवाण प्राप्त हो जाने के पश्चात् देवों आदि द्वारा किये जाने वाले महोत्सव से संबंधित) नामक अंतिम दिव्य नाट्य-अभिनय का प्रदर्शन किया ।

दिव्येभ्यः—देवों द्वारा अभण भगवान् महावीर एवं गौतम अमण निर्यन्त्रों के समक्ष प्रदर्शित बत्तीस प्रकार के नाट्य-अभिनयों में से अंतिम (बत्तीसवाँ अभिनय) अभण भगवान् महावीर की जीवन-घटनाओं के मुख्य-मुख्य प्रसंगों से संबंधित है । यह सब देखकर तत्कालीन अभिनयकला की परम प्रकर्षता का दृश्य उपस्थित हो जाता है और उस-उस अभिनय की उपयोगिता भी परिज्ञात हो जाती है ।

नाट्याभिनय का उपसंहार

१०७—तए ण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउष्विहं वाइतं बाएंति तं जहा-
ततं-विततं-घणं-झुसिरं ।

१०७—तत्पश्चात् (दिव्य नाट्यविधियों को प्रदर्शित करने के पश्चात्) उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने ढोल-नगाड़े आदि तत, वीणा आदि वितत, झाँझ आदि घन और शंख, बांसुरी आदि शुषिर इन चतुर्विध बादिओं—बाजों को बजाया ।

१०८—तए ण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य चउष्विहं गेयं गायति तं जहा-
उक्षितं-पायंतं-मंदायं-रोह्यावसाणं च ।

१०९—बादिओं को बजाने के अनन्तर उन सब देवकुमारों और देवकुमारियों ने उत्क्षप्त, पादान्त, (पादवृद्ध) मंदक और रोचितावसान रूप चार प्रकार का संगीत (गाना) गाया ।

१०१—तए ण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य चउष्विहं णहुविहि उवदंलंति,
तंजहा-अंचियंरिभियं-आरभडं-भसोलं च ।

१०९—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने अचित, रिभित, आरभट एवं भसोल इन चार प्रकार की सृत्यविधियों को दिखाया ।

११०—तए ण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ च चउष्विहं अभिणयं अभिणएंति,
तंजहा-दिट्ठंतियं—पाडितियं (पश्चियंतियं)-सामान्नाविणिवाइयं—अंतो-मज्जावसाणियं च ।

११०—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने चार प्रकार के अभिनय प्रदर्शित किये, यथा—दाढीनितक, प्रात्यंतिक, सामान्यतोविनिपातनिक और अन्तर्मध्यावसानिक, (लोकमध्यावसानिक) ।

विवेचन— सूत्र संख्या १०७-११० पर्यन्त माटकों का प्रदर्शन करने के पश्चात् उपसंहार रूप चार प्रकार के बादों को बजाने, संगीतों को गाने एवं नृत्यों और अभिनयों को करने का उल्लेख किया है।

बादादि अभिनय पर्यन्त चार-चार प्रकारों को बतलाने का कारण यह है कि ये उन-उनके मूल हैं। अर्थात् बादों, राग-रागनियों आदि के अलग-अलग नाम होने पर भी वे सभी मुख्य-गोण भाव से इन चार प्रकारों के ही विविध रूप हैं।

प्रस्तुत में तत आदि शब्दों के बादों के उत्क्षण आदि शब्दों से संगीत के और अंचित आदि शब्दों से नृत्य के चार-चार भेद और उनके सामान्य अर्थ तो समझ लिये जा सकते हैं तथा इसी प्रकार अभिनय के जो चार प्रकार बतलाये हैं उनमें से दृष्टान्तिक अभिनय—किसी प्रकार के दृष्टान्त का अभिनय। प्रत्यन्त का अर्थ म्लेच्छदेश है ('प्रत्यन्तो म्लेच्छमण्डलः')—अभिधान चिन्तामणि कोश ४ इलोक १८)। भोट (भूटान) आदि देशों की म्लेच्छ देशों में गणना है। इन देशों के निवासियों और उनके आचरण अथवा किसी प्रसंग आदि का अभिनय प्रात्यंतिक अभिनय है। सामान्य प्रकार के अभिनय को सामान्यतोपनिपातनिक और लोक के मध्य या अन्य सम्बन्धों अभिनय को अन्तर्मध्यावसानिक अभिनय कहते हैं। यह अभिनय के प्रकार सूचक शब्दों का शब्दार्थमात्र है। परन्तु उन सभी के विशेष अथं को समझने के लिए लंगित तथा ध्यानित विशारदों एवं नाट्यशास्त्र से जानकारी प्राप्त करना चाहिये।

१११—तए णं ते बह्ये देवकुमारियाओ य देवकुमारियाणं समणाणं निर्माणाणं दिव्यं देविद्विः दिव्यं देवजुति दिव्यं देवाणुभावं दिव्यं बत्तीसइबद्धं नाडयं उवर्दसित्ता समर्ण भगवंतं महावीरं तिक्खुतो आयाहिणपयाहिणं करेति, करित्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसिता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सूरियाभं देवं करयलपरिग्नहियं सिरसावत्तं भस्थए अंजलि कट्टु जएणं विजएणं बद्धार्थेति बद्धाविस्ता एवं श्राणस्तियं पच्चपिण्ठाति।

११२—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव प्रदर्शक बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधियों को दिखाकर श्रमण भगवन् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके बन्दन-नमस्कार करने के पश्चात् जहाँ अपना अधिष्ठिति सूर्यभिदेव था वहाँ आये। वहाँ आकर दोनों हाथ जोड़कर सिर पर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके सूर्यभिदेव को 'जय विजय हो' शब्दोच्चारणों से बधाया और बधाकर आज्ञा बापस सौंपी, अर्थात् निवेदन किया कि आपकी आज्ञा के अनुसार हम श्रमण भगवन् महावीर आदि के पास जाकर बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि दिखा आये हैं।

११३—तए णं से सूरियाभे देवे सं दिव्यं देविद्विः, दिव्यं देवजुइः, दिव्यं देवाणुभावं पडिसाहरइ, पडिसाहरेता खणेण जाते एवं एगमूए।

तए ण से सूरियाभे देवे समर्ण भगवंतं महावीरं तिक्खुतो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता नियमपरिवालसद्धि संपरिवृद्धे तमेव दिव्यं जाणविमाणं दुरुहति दुरुहिता जामेव दिसि पाउमूए तामेव दिसि पडिगए।

११२—तत्पश्चात् उस सूर्यभिदेव ने अपनी सब दिव्य देवकृदि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव-प्रभाव को समेट लिया—अपने शरीर में प्रविष्ट कर लिया और शरीर में प्रविष्ट करके क्षणभर में अनेक होने से पूर्व जैसा अकेला था वैसा ही एकाकी बन गया।

इसके बाद सूर्यभ देव ने अमण भगवान् महावीर को दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा की, बन्दन-नमस्कार किया। बन्दन-नमस्कार करके अपने पूर्वोक्त परिवार सहित जिस यान-विमान से आया था उसी दिव्य-यान-विमान पर आरूढ़ हुआ। आरूढ़ होकर जिस दिशा से—जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया।

गौतमस्वामी की जिज्ञासा : भगवान का समाधान्

११३—‘भंते’ ति भगवं गोयमे समणं भगवंतं महावीरं बंदति नमंसति, बंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासो”—सूरियाप्रस्तु एवं भंते ! देवस्तु एसा विवा वेविद्वी विवा वेषज्जुती विवे वेवाणुभावे कहि गते ? कहि अणुप्पविट्ठे ?

१. कहीं कहीं यह पाठान्तर देखने में आता है—

‘तेण कालेण तेण समर्णं समणस्तु भगवश्चो महावोरस्तु जिद्वे अन्तेवासी इंद्रशूर्दि नामं अणगारे गोयमसगोत्ते सत्त्वस्सेहे समचउरसंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंवयणे कणगपुलगनिघसपम्भूगोरे उगगतवे विस्ततवे तत्ततवे महाववे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरवंभचेरवासी उच्छृङ्खसरीरे संवित्तविपुलतेयलेस्से चउदस-पुव्वी चउनाणोवगए संवक्षरतविवाई समणस्तु भगवतो महावीरस्तु अद्वूरसामेते उड्ढंजाण् अहोसिरे झाण-कोट्टोवगए संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

तए पं से भगवं गोयमे जायसङ्के जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसङ्के उप्पन्नकोउहल्ले संजायसङ्के संजायसंसए संजायकोउहल्ले समुष्पण्णमह्ये समुष्पण्णसंसए समुष्पण्णकोउहल्ले उद्दृए उद्दृहे उद्दृहि उद्दृता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छता समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुसो आयाहिणपयाहिणं करेति, तिक्खुतो आयाहिणपयाहिणं करेता बंदति नमंसति बंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासो—’

‘उस काल और उस समय अमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी—शिष्य गौतम गोत्रीय, सात हाथ ऊने, समचउरस संस्थान एवं वज्ज अद्वूरभनाराच संहलन वाले, कसीटी पर खींची गई स्वर्ण रेखा तथा कमल की केशर के समान गौरवणे वाले, उपतपस्वी, कर्मवन की दग्ध करने के लिये अग्निवत् आज्वल्यमान तप वाले, तप्त उपर्वी—आत्मा को तपानेवाले, महातपस्वी—दीर्घतप करनेवाले, उदार-प्रधान, घोर—कथायादि के उन्मूलन में बठोर, घोरगुण—दूसरों के द्वारा दुर्जुचर मूलोत्तर गुणों से सम्प्रभ घोरतपस्वी—बड़ी बड़ी तपस्यायें करने वाले, घोर ब्रह्मचर्यवासी—श्रव्यों के लिये कठिन ब्रह्मचर्य में लीन, शारीरिक संस्कारों और ममत्व का त्याग करने वाले, विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त करके शरीर में समाहित करने वाले, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, मति आदि मनपर्याय पर्यन्त चार ज्ञानों से समन्वित, सर्व अक्षरों और उनके संयोगजन्य रूपों को जानने वाले गौतम नामक अनगार अमण भगवान् महावीर से न अलिंदूर और न ग्रति समीप अथति उचित स्थान में स्थित होकर ऊपर घुटने और नीचा मस्तक रखकर—मस्तक नमाकर ध्यान रूपी कोष्ठ में विराजमान होकर संयम तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

तत्पश्चात् भगवान् गौतम को तत्त्वविषयक शद्वा—जिज्ञासा हुई, संशय हुआ, कुतूहल हुआ, शद्वा उत्पन्न हुई, संशय उत्पन्न हुआ, कुतूहल उत्पन्न हुआ, विशेषरूप से शद्वा उत्पन्न हुई, विशेषरूप से संशय उत्पन्न हुआ विशेषरूप से कुतूहल उत्पन्न हुआ, विशेषरूप से शद्वा उत्पन्न हुई, विशेषरूप से संशय उत्पन्न हुआ और विशेषरूप से कुतूहल उत्पन्न हुआ । तब अपने स्थान से उठ जड़े हुए, और उठकर जहाँ अमण भगवान् महावीर विराज रहे थे, वहाँ आये, वहाँ आकर दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर अमण भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा की । तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करके बन्दन और नमस्कार किया, बन्दन नमस्कार करके हस प्रकार बहा—निवदेन किया—’

११३—तदनन्तर—सूर्यभिदेव के बापस जाने के अनन्तर ‘हे भद्रत’ इस प्रकार से संबोधित कर भगवन् गीतम् ने श्रमण भगवन् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके विनयपूर्वक इस प्रकार पूछा—

प्रश्न—हे भगवन् ! सूर्यभिदेव को वह सब तुलोक दिव्य देवऋषि, दिव्य देवधुति, दिव्य देवानुभाव-प्रभाव कहां चला गया ? कहां प्रविष्ट हो गया—समा गया ?

११४—गोयमा ! सरीर गते सरीरं अणुप्पविद्धे ।

११४—उत्तर—हे गीतम् ! सूर्यभिदेव द्वारा रचित वह सब दिव्य देव ऋषि आदि उसके शरीर में चली गई, शरीर में प्रविष्ट हो गई—समा गई, अन्तर्लीन हो गई ।

११५—से केणट्ठेण भंते ! एवं दुच्चद्वारा सरीर गते, सरीरं अणुप्पविद्धे ?

११५—प्रश्न—हे भद्रत ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि शरीर में चली गई, शरीर में अनुप्रविष्ट—अन्तर्लीन हो गई ?

११६—गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया-दुहतो लित्ता गुत्ता गुत्तदुषारा जिवाया जिवायगंभीरा, तीसे णं कूडागारसालाए अद्वृतसामते एस्थ णं भहेगे जणसमूहे चिह्नति, तए णं से अण-समूहे एगं भहं अद्वयद्वलगं वा वासद्वलगं वा महावायं वा एजजमाणं वा पासति, पासिस्ता तं कूडागार-सालं अंतो अणुप्पविसित्ता णं चिह्नइ, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं दुच्चति—‘सरीरं अणुप्पविद्धे’ ।

११६—हे गीतम् ! जैसे कोई एक भीतर-बाहर गोबर आदि से लिपी-पुती, बाह्य प्राकार—परकोटे—से धिरी हुई, मजबूत किवाड़ों से युक्त गुप्त द्वार वाली निर्वति—वायु का प्रवेश भी जिसमें दुष्कर है, ऐसी गहरी, विशाल कूटाकार—पर्वत के शिखर के आकार वाली—शाला हो । उस कूटाकार शाला के निकट एक विशाल जनसमूह बैठा हो । उस समय वह जनसमूह आकाश में एक बहुत बड़े मेघपटल को अथवा जलवृष्टि करने योग्य बादल को अथवा प्रचण्ड आंधी को आता हुआ देखे तो जैसे वह उस कूटाकार शाला के अंदर प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार है गीतम् ! सूर्यभिदेव की वह सब दिव्य देवऋषि आदि उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई—अन्तर्लीन हो गई है, ऐसा मैंने कहा है ।

सूर्यभिदेव के विमान का अस्त्वथान और वर्णन

११७—कहि णं भंते ! सूरियाभस्त देवस्त सूरियामे नामं विमाने पञ्चते ?

११७—हे भगवन् ! उस सूर्यभिदेव का सूर्यभ नामक विमान कहां पर कहा गया है ?

११८—गोयमा ! जंदुहीवे शीवे अंदरस्त पञ्चयस्त दाहिणेण इसीसे रथणप्पमाए पुढबीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो उद्धं चंदिम-सूरिय-गहगण-नवखत्त-तारारूपामं बहुई जोअणसत्याइं एवं-सहस्राइं-सथसहस्राइं, बहुईओ जोअणकोडीओ, जोअणसयकोडीओ, जोअणसहस्रकोडीओ, बहुईओ जोअणसयसहस्रकोडीओ बहुईओ जोअण-कोडाकोडीओ उद्धं दूरं बीतोवहस्ता एस्थ णं सोहृद्मे नामं कल्पे पञ्चते-पाईणपडीणायते उद्दीणदाहिण-वित्थणे, अद्वचंदसंठाणसंठिते, अच्छमालि-

भासरासिवणाभे, असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेण, असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ परिवक्षेवेण, एत्थं यं सोहम्माणं देवाणं वस्तीसं विमाणावासयसहस्राहं भवति इति, मक्खायं । ते यं विमाणा सञ्चरणामया अच्छाया जाव (सन्धा लण्हा, घटा मट्टा, पीरवा निम्मला, निपंक्ता निवकं-कडच्छाया) सत्प्रभा समिरीया सउज्जोया पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरुदा) पठिरुदा । तेस्यं विमाणाणं बहुमज्जदेसमाए पञ्च वडिसया पश्चता, तं जहा—असोगवडिसए सत्त्वणवडिसए चंपग-वडिसए^१ चूतवडिसए मज्जे सोधम्मवडिसए । ते यं वडिसया सञ्चरणामया अच्छाया जाव पठिरुदा ।

तस्य यं सोधम्मवडिसगस्स महाविमाणस्स पुरत्थिभेण तिरियं असंखेज्जाहं जोयणसयसहस्राहं वीहवहसा एत्थं यं सूरियाभस्स वेदस्स सूरियाभे विमाणे पण्णते, अद्वतेरस जोयणसयसहस्राहं आयाम-विक्खंभेण^२, अउणयालीसं च सयसहस्राहं बावन्तं च सहस्राहं अट्ठ य अड्याल जोयणसते^३ परिक्षेवेण ।

११८—हे गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर (सुमेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के रमणीय समतल भूभाग से ऊपर ऊर्ध्वदिशा में चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण नक्षत्र और तारामण्डल से आगे भी ऊंचाई में बहुत से सैकड़ों योजनों, हजारों योजनों, लाखों, करोड़ों योजनों और मैकड़ों करोड़, हजारों करोड़, लाखों करोड़ योजनों, करोड़ों करोड़ योजन को पार करने के बाद प्राप्त स्थान पर सौधर्मकला नाम का कल्प है—अर्थात् सौधर्म नामक स्वर्गलोक है ।

वह सौधर्मकल्प पूर्व-पश्चिम लम्बा और उत्तर-दक्षिण विस्तृत—चौड़ा है, अर्धचन्द्र के समान उसका आकार है, सूर्य किरणों की तरह अपनी द्युति—कान्ति से सदैव चमचमाता रहता है । असंख्यात कोडाकोडि योजन प्रमाण उसकी लम्बाई-चौड़ाई तथा असंख्यात कोटाकोटि योजन प्रमाण उसकी परिधि है ।

उस सौधर्मकल्प में सौधर्मकल्पवासी देवों के बत्तीस लाख विमान बताये हैं । वे सभी विमानावास सबतिमना रत्नों से बने हुए स्फटिक मणिवत् स्वच्छ यावत् (सलीने, अत्यन्त चिकने, घिसे हुए, मंजे हुए, नीरज, निर्मल, निष्कलंक, निरावरण, दीप्ति, कान्ति, तेज और उद्योत—प्रकाशयुक्त, मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, मनोहर एवं) अतीव मनोहर हैं ।

उन विमानों के मध्यातिमध्य भाग में—ठोक बीचेबीच—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में अनुक्रम से शशीक-अवतंसक, सप्तपर्ण-अवतंसक, चंपक-अवतंसक, आम्र-अवतंसक तथा मध्य में सौधर्म-अवतंसक, ये पांच अवतंसक (मुख्य श्रेष्ठ भवन) हैं । ये पांचों अवतंसक भी रत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर हैं ।

उस सौधर्म-अवतंसक महाविमान की पूर्व दिशा में तिरच्छे असंख्यात लाख योजन प्रमाण आगे जाने पर आगत स्थान में सूर्यभद्रेव का सूर्यभ नामक विमान है । उसका आयाम-विष्टकंभ (लम्बाई-चौड़ाई) साढ़े बारह लाख योजन और परिष्ठि उनतालीस लाख बावन हजार आठ सौ अड़तालीस योजन है ।

१. पाठान्तर—भूतवडेसए, भूयगवडिसते ।

२. पाठान्तर—अतो तेरतय सहस्राहं आयामविक्खंभेण बायालीसं च सप्तसहस्राहं अट्ठ य अड० ।

३. अउणयालीसं च सयसहस्राहं अट्ठ य अड्यालजोयणसते ।

११९—से एं एगेन यागारेण सब्बओ समंता संपरिकिल्ते । से एं पागारे तिष्ण जोयणसयाई उड़हुं उच्चतेण, मूले एगं जोयणसयं विक्खंभेण, मज्जे पन्नासं जोयणाई विक्खंभेण, उप्पि पणवीसं जोयणाई विक्खंभेण । मूले वित्थणे, मज्जे संखिते उप्पि तणुए, गोपुच्छसंठाणसंठिए सब्बरयणामए अच्छे जाव पड़िरुवे ।

१२०—वह सूर्यभि विमान चारों दिशाओं में सभो ढीर से एक प्राकार—परकोटे से घिरा हुआ है । यह प्राकार तीन सी योजन ऊँचा है, मूल में इस प्राकार का विष्कम्भ (चौड़ाई) एक सी योजन, मध्य में पचास योजन और ऊपर पच्चीस योजन है । इस तरह यह प्राकार मूल में चौड़ा, मध्य में संकड़ा और सबसे ऊपर अल्प—पतला होने से गोपुच्छ के आकार जैसा है । यह प्राकार सर्वात्मना रत्नों से बना होने से रत्नमय है, स्फटिकमणि के समान निर्मल है यावत् प्रतिरूप-अतिशय मनोहर है ।

१२० से एं पागारे नाणा विहृपंचवणोहि कविसीसएहि उपसोभिते, तं जहा—कणहेहि य नीलेहि य लोहितेहि हालिद्वेहि सुकिकल्लेहि कविसीसएहि । से एं कविसीसया एगं जोयणं आयामेण, अद्वजोयणं विक्खंभेण, देसूणं जोयणं उड़हुं उच्चतेण सब्बरयणामया अच्छा जाव पड़िरुवा ।

१२०—वह प्राकार अनेक प्रकार के कृष्ण, नील, लोहित—लाल, हारिद्र—पीले और श्वेत इन पाँच धरणों बाले कपिशीर्षकों (कंगूरों) से शोभित है ।

ये प्रत्येक कपिशीर्षक (कंगूरे) एक-एक योजन लम्बे, आधे योजन चौड़े और कुछ कम एक योजन ऊंचे हैं तथा ये सब रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् बहुत रमणीय हैं ।

सूर्यभिविमान के द्वारों का वर्णन

१२१—सुरियाभस्त एं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए दारसहस्स दारसहस्स भवतीति भवक्षायं ।

ते एं दारा पंच जोयणसयाई उड़हुं उच्चतेण अद्वाइज्जाई जोयणसयाई विक्खंभेण तावहइयं चेव पवेसेण, सेया वरकणगथूभियागा ईहामिथ-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहृग-बालग-किष्वर-हरु-सरभ-चमर-कुंजर-बणलय-पउमलयभत्ति-चित्ता, खंभुग्यवरवयरवेहृयापरिगयाभिरामा, विज्जाहरजभल-जुयसजंतजुस्ता विव, अच्छोसहस्समालणीया रुदगसहस्सकलिया, भिसमाणा भिभिसमाणा, चवखु-ल्लोयणलेसा, सुहफासा सस्तिसरीय रुदा ।

वन्नो दाराणं तेसि होइ—तं जहा—वहरामया णिम्बा, रिहूमया पड़द्वाणा, वेरुलियमया खंमा, जायरुबोवचिथ-घबरपंचबन्न-मणिरयण-कोहृमतला, हंसबभमया एलुया, गोमेज्जमया इंदकीला, लोहियवखमतीतो चेडाओ, जोईरसमया उत्तरंगा, लोहियवमईओ सूईओ, वयरामया संघी, नाणा-बणिमया समुभाया, वयरामया अगला-अगलपासाया, रययामयाओ आवस्तणपेद्वियाओ । अंकुशर-पासगा, निरंतरियघणकवाडा भित्तीसु चेव भित्तिगुलिता छपन्ना लिष्ण हुँति गोमाणसिया तत्तिया णाणामणिरयणबालरुदगलीलटुग्रसाल-भंजियागा, वयरामया कूडा, रययामया उसेहा, सब्बत-वणिज्जमया उल्लोया, णाणामणिरयणजालपंजर-मणिवंसगलोहियवपद्विवंसगरययमोमा, अंकामया पवखा-पवखबाहाओ, जेर्दीरसामया बंसा-बंसकवेल्लुयाओ, रययामईओ पहियाओ, जायरुबमईओ ओहाडणीओ, वहरामईओ उवरिपुञ्छणीओ, सब्बसेयरययामये छायणे, अंकमयकणगकडतवणिज्ज-थूभियागा, सेया संखतलविमलनिम्बलदधिघण-गोखोर-फेलरययणिगरप्पगासा तिलगरयणहुचंव-

चित्ता' नाणामणिदामालंकिया, अंतो वर्त्तु च सम्हा तदणिउजवालुया पत्थडा, सुहफासा, सस्तिरीय-
रुदा, पासाइया दरिसणिउजा अभिरुदा पडिरुदा ।

१२१—सूर्यधिदेव के उस विमान की एक-एक बाजू में एक-एक हजार द्वार कहे गये हैं, अर्थात् उस विमान की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन ओरों विशाओं में से प्रत्येक में एक-एक हजार द्वार हैं ।

ये प्रत्येक द्वार पौच-पौच सी योजन ऊँचे हैं, अबाई सौ योजन चौड़े हैं और इतना ही (अबाई सौ योजन) इनका प्रवेशन—गमनागमन के लिए घुसने का स्थान—है । ये सभी द्वार इवेत वर्ण के हैं । उत्तम स्वर्णमयी स्तूपिकाओं—शिखरों से सुशोभित हैं । उन पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मकर विहग, सर्प, किञ्चर, रुह, सरभ-अष्टापद चमर, हाथी, बनलता, पद्मलता आदि के चित्राम चित्रित हैं ।

स्तम्भों पर बनी हुई वज्र रत्नों की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखाई पड़ते हैं । सभश्वेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यन्त्र द्वारा चलते हुए-से दीख पड़ते हैं । वे द्वार हजारों किरणों से व्याप्त और हजारों रूपकों—चित्रों से युक्त होने से दीप्यमान और अतीव देदीप्यमान हैं । देखते ही दर्शकों के नयन उनमें चिपक जाते हैं । उनका स्पर्श सुखप्रद है । रूप शोभासम्पन्न है ।

उन द्वारों का वर्ण-स्वरूपवर्णन इस प्रकार है—

उन द्वारों के नेम (भूभाग से ऊपर निकले प्रदेश) वज्ररत्नों से, प्रतिष्ठान (मूल पाये) रिष्ट रत्नों से—स्तम्भवैङ्मय मणियों से तथा तलभाग स्वर्णजड़ित पंचरंगे मणि रत्नों से बने हुए हैं । इनकी देहलियाँ हंसगर्भ रत्नों की, इन्द्रकीलियाँ गोमेदरत्नों की, द्वारशाखायें लोहिताक्ष रत्नों की, उत्तरंग (ओतरंग—द्वार के ऊपर पाटने के लिये तिरछा रखा पाटिया) ज्योतिरस रत्नों के, दो पाटियों को जोड़ने के लिये ठोकी गई कीलियाँ लोहिताक्षरत्नों की हैं और उनकी सांधे वज्ररत्नों से भरी हुई हैं । समुद्रगक (कीलियों का ऊपरी हिस्सा—टोपी) विविध मणियों के हैं । अर्गेलायें अर्गेलापाशक (कुंदा) वज्ररत्नों के हैं । आवर्तन पीठिकायें (इन्द्रकीली का स्थान) चाँदी की हैं । उत्तरपाश्वक (वेनी) अंक रत्नों के हैं । इनमें लगे किवाड़ इतने सटे हुए सघन हैं कि बन्द करने पर थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं रहता है । प्रत्येक द्वार की दोनों बाजुओं की भोतों में एक सौ अडसठ-एक सौ अडसठ सब मिलाकर तीन सौ छप्पन भित्तिगुलिकायें (देखने के लिये गोल-गोल गुप्त झरोखे) हैं और उनमी ही गोमानसिकायें—बैठकें हैं—प्रत्येक द्वार पर अनेक प्रकार के मणि रत्नमयी व्यालरूपों—सप्तों-से कीड़ा करती पुतलियाँ बनी हुई हैं । अथवा संपर्क धारिणी अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से निर्मित कीड़ा करती हुई पुतलियाँ इन द्वारों पर बनी हुई हैं । इनके माड़ वज्ररत्नों के और माड़ के शिखर चाँदी के हैं और द्वारों के ऊपरी भाग स्वर्ण के हैं । द्वारों के जालीदार झरोखे भाँति-भाँति के मणि-रत्नों से बने हुए हैं । मणियों के बांसों का छप्पर है और बांसों को बांधने की खपच्चियाँ लोहिताक्ष रत्नों की हैं । रजतमयी भूमि है अर्थात् छप्पर पर चाँदी की परत बिछी हुई है । उनकी पाखें और पाखों की बाजुयें अंकरत्नों की हैं । छप्पर के नीचे सीधी और आँड़ी लगी हुई वलियाँ तथा कबेलू ज्योतिस-रत्नमयी हैं । उनकी पाटियाँ चाँदी की हैं । अबघाटनियाँ (कबेलुओं के ढक्कन) स्वर्ण की बनी हुई हैं । ऊपरि

१. पाठान्तर—सह्वतल-विमल निम्नल-दहिवण-गोखीरफेण-रववनियरणगासद्वचन्दचित्ताइं ।

प्रोच्छन्निया (टाटिया) बजरत्नों की हैं। टाटियों के ऊपर और कबेलुओं के नीचे के आच्छादन सर्वात्मना श्वेत-श्वर और रजतमय हैं। उनके शिखर अंकरत्नों के हैं और उन पर तपनीय—स्वर्ण की स्तूपिकायें बनी हुई हैं। ये द्वार शंख के समान विमल, दही एवं दुर्घटन और चाँदी के ढेर जैसी श्वेत प्रभा वाले हैं। उन द्वारों के ऊपरी भाग में तिलकरत्नों से निर्मित अनेक प्रकार के अधर्तन्द्रों के चित्र बने हुए हैं। अनेक प्रकार की मणियों की मालाओं से अलंकृत हैं। वे द्वार अन्दर और बाहर अत्यन्त सुखद स्पर्श वाले रूप-शोभासम्पन्न, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर और अतीव रमणीय हैं।

१२२—तेसि णं दाराणं उभाओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस चंदणकलस-परिवाडोओ पञ्चत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमल-पइट्टाणा सुरभिवरवारिपिपुण्णा, चंदण-कलशच्चचागा, आविष्टे कठे गुणा, पउमुष्पसपिहाणा। लालशयणासया, झन्छा जाल॑ पङ्किरुबाणा मह्या-मह्या इन्द्रकुभसमाणा पञ्चता समणाउसो !

१२२—उन द्वारों की दोनों बाजुओं को दोनों निशीधिकाओं (बैठकों) में सोलह-सोलह चन्दन-कलशों की पंक्तियाँ हैं, अर्थात् उन द्वारों की दायीं बायीं बाजू की एक-एक बैठक में पंक्तिवद्ध सोलह-सोलह चन्दनकलश स्थापित हैं।

ये चन्दनकलश श्रेष्ठ उत्तम कमलों पर प्रतिष्ठित—रखे हैं, उत्तम सुगन्धित जल से भरे हुए हैं, चन्दन के लेप से चर्चित-मंडित, विभूषित हैं, उनके कंठों में कलावा (रक्तवर्ण सूत) बंधा हुआ है और मुख पद्मोत्पल के ढबकनों से ढंके हुए हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! ये सभी कलश सर्वात्मना रत्नमय हैं, निर्मल यावत् बृहत् इन्द्रकुभ जैसे विशाल एवं अतिशय रमणीय हैं।

१२३—तेसि णं दाराणं उभाओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस-सोलस णागदन्तपरिवाडोओ पञ्चत्ताओ !

ते णं णागदन्ता मुत्ताजालंतशसियहेमजाल-गववज्जाल-खिखिणीघंटाजाल-परिक्षित्ता अहमुगाया अभिजिसिट्टा तिरिपं सुसंपरिग्नहिया अहेपन्नगद्धरुवा, पन्नगद्धसंठाणसंठिया, सववय-रामया अक्ष्या जाव^२ पङ्किरुबा मह्या मह्या गयदंतसमाणा पन्नता समाणाउसो !

१२३—उन द्वारों की उभय पाश्ववर्ती दोनों निशीधिकाओं में सोलह-सोलह नागदन्तों (खूटियों-तकूचों) की पंक्तियाँ कही हैं।

ये नागदन्त मोतियों और सोने की मालाओं में लटकती हुई गवाक्षाकार (गाय की आँख) जैसी आकृति वाले धुंधरओं से युक्त, छोटी-छोटी घंटिकाओं से परिवेष्टित—व्याप्त, घिरे हुए हैं। इनका अग्रभाग ऊपर की ओर उठा और दीवाल से बाहर निकलता हुआ है एवं पिछला भाग अन्दर दीवाल में अच्छी तरह से बुसा हुआ है और आकार सर्प के अधोभाग जैसा है। अग्रभाग का संस्थान सर्पधि के समान है। वे बजारत्नों से बने हुए हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! बड़े-बड़े गजदन्तों जैसे ये नागदन्त अतीव स्वच्छ, निर्मल यावत् प्रतिष्ठित—अतिशय शोभाजनक हैं।

१२४—तेसु णं णागदंतएसु बहवे किञ्चसुतबद्वा वग्धारितमल्लवाभकलाक्षा लील-लोहित-हालिद्व-सुविकलसुतबद्वा वग्धारितमल्लवाभकलाक्षा । ते णं वामा सवणिकजलंबूसगा, सुवन्नपथरग-मंडिया नाणाविहमणिरयणविहारउवसोभियसमुदया जाव (इसि अण्णमण्णम-संपत्ता, वाएहु पुव्वावरदाहिण्णतुरागएहु मंवायं मंदायं एजजमाणाणि एजजमाणाणि पलंबमाणाणि वदमा-णाणि वदमाणाणि उरालेण मणुष्णणं मणहरेण कण्ण-मणणिव्वुतिकरेण सद्वेण ते पएसे सव्वभो समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा) सिरोए अहीव अहीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।

१२४—इन नागदन्तों पर काले सूत्र से गूँथी हुई तथा नीले, लाल, पीले और सफेद ढोरे से गूँथी हुई लम्बी-लम्बी मालायें लटक रही हैं । वे मालायें सोने के भूमकों और सोने के पत्तों से परिमंडित तथा नाना प्रकार के मणि-रत्नों से रचित विविध प्रकार के शोभनीक हारों—अधंहारों के अम्बुदय यावत् (पास-पास टंगे होने से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की हवा के मन्द-मन्द भोकों से हिलने-डुलने और एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज, मनहर, कर्ण और मन को शांति प्रदान करने वाली छवनि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को व्याप्त करते हुए) अपनी श्री-शोभा से अतीव-अतीव उपशोभित हैं ।

१२५—तेसि णं णागदंताणां उवरि अस्त्राओ सोलस-सोलस नागदंतपरिवाडीओ पश्चत्ता, ते णं णागदंता तं चेव जाव गयदंतसमाणा पश्चत्ता समाणाउसो ! तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पश्चत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वेहलियामईओ धूवधडीओ पण्णसाओ, ताओ णं धूवधडीओ कामागुरुपवरकु तुरुक्कतुरुक्कधूवधमघमघंतगंधुदधुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधियातो गंधवट्टिभूयाओ ओरालेण मणुष्णेण मणहरेण घाणमणणिव्वुइकरेण गंधेण से पदेसे सञ्चओ समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा जाव (सिरोए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा) चिट्ठंति ।

१२५—इन नागदन्तों के भी ऊपर अन्य-दूसरी सोलह-सोलह नागदन्तों की पंक्तियाँ कही हैं । हे श्रायुष्मन् श्रमणो ! पूर्ववर्णित नागदन्तों की तरह ये नागदन्त भी यावत् विशाल गजदन्तों के समान हैं ।

इन नागदन्तों पर बहुत से रजतमय शीके (छोड़े) लटके हैं । इन प्रत्येक रजतमय शीकों में वैद्युर्य-मणियों से बनी हुई धूप-घटिकायें रखी हैं ।

ये धूपघटिकायें काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दरुष्क, तुरुष्क (लोभान) और सुगन्धित धूप के जलने से उत्पन्न मधमधाती मनमोहक सुगन्ध के उड़ने एवं उत्तम सुरभि-गन्ध की अधिकता से गन्धवर्तिका के जैसी प्रतीत होती हैं तथा सर्वोत्तम, मनोज, मनोहर, नासिका और मन को तृप्तिप्रदायक गन्ध से उस प्रदेश को सब तरफ से अधिकासित करती हुई यावत् अपनी श्री से अतीव-अतीव शोभायमान हो रही हैं ।

द्वारस्थित पुतलियाँ

१२६—तेसि णं वाराण उभओ पासे बुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस सालभंजिया-परिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्टियाओ, सुपझट्टियाओ, सुअलंकियाओ, णाणा-विहरागवसणाओ, णाणामल्लपिणद्वाओ, सुट्टिगिज्जामुमज्जाओ, आमेलगजमलज्जयल-वट्टिय-अद्भुत्य

पीणरहयसंठियपौदरपउत्तरलो, रसादंगालो, अदिग्रकेतीओ प्रित्तिसापसत्थ-सबखणसंबेलिपरग-
सिरयाओ ईसि असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहृष्टगहियगसालाओ ईसि अद्विष्कडवसं-
चिट्ठिएण लूसमणीओ विव चवखुल्लोयणलेसेहि य अस्मन्नं खिजजभाणीओ विव पुढिवपरिणामाओ,
सासयभावमुवगयाओ, चन्द्राणणाओ, चन्द्रविलासिणीओ, चन्द्रदुसमणिडालाओ, चंद्राहियसोमवंसणाओ,
उक्का विव उज्जोवेमाणाओ, खिज्जुघणमिरियसूरदिष्टतेयअहिययरसज्जिकासाओ सिंगारागार-
चारुवेसाओ पासाह्याओ जाव (वरिसणिडजाओ अमिरुवाओ पडिरुवाओ) चिट्ठति ।

१२६—उन द्वारों को दोनों बाजुओं की निषीधिकाओं (बैठकों) में सोलह-सोलह पुतलियों
की पंक्तियाँ हैं ।

ये पुतलियाँ विविध प्रकार की लीलायें—(कीड़ायें) करती हुई, सुप्रतिष्ठित-मनोज्ञ रूप से
स्थित सब प्रकार के आभूषणों—अलंकारों से शृंगारित, अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे परिधानों—वस्त्रों
एवं मालाओं से शोभायमान, मुट्ठी प्रमाण (मुट्ठी में समा जाने योग्य) कृश—पतले मध्य भाग (कटि
प्रदेश) वाली, शिर पर ऊँचा अंबाडा—जूँड़ा बांधे हुए और समधेण में स्थित हैं । वे सहवर्ती, अभ्यु-
न्नत—ऊँचे, परिपुष्ट-मांसल, कठोर, भरावदार, पीवर—स्थूल गोलाकार पयोधरों—स्तनों वाली,
लालिमा युक्त नयनान्तभाग वाली, सुकोमल, अतीव निर्मल, शोभनीक सघन घुंघराली काली-काली
कबरारी केशराशि वाली, उत्तम अद्विक वृक्ष का सहारा लेकर खड़ी हुईं और बायें हाथ से अग्र शाखा
को पकड़े हुए, अर्ध निसीलित नेत्रों की ईष्ट् वक्क कटाक्ष-रूप चेष्टाओं द्वारा देखों के मनों को हरण
करती हुई-सी और एक दूसरे को देखकर परस्पर खेद-खिल होती हुई-सी, पार्थिवपरिणाम (मिट्टी से
बनी) होने पर भी शाश्वत—नित्य विद्यमान, चन्द्राधर्तुल्य ललाट वाली, चन्द्र से भी अधिक सौम्य
कांति वाली, उल्का-खिरते तारे के प्रकाश पुंज की तरह उद्योत वाली—चमकीली विद्युत् (मेघ की
विजली) की चमक एवं सूर्य के देदीप्यमान तेज से भी अधिक प्रकाश-प्रभावाली, अपनी सुन्दर वेशभूषा
से शृंगार रस के गृह-जंसी और मन को प्रसन्न करने वाली यादत अतीव (दर्शनीय, मनोहर अतीव
रमणीय) हैं ।

१२७—तेसिणं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस जालकडगपरिवडीओ
पञ्चता, ते यं जालकडगा सबवरयणमया अच्छा जाव' पडिरुवा ।

१२७—इन द्वारों को दोनों बाजुओं की दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह जालकटक
(जाली झरोखों से बने प्रदेश) हैं, ये प्रदेश सर्वरत्नमय, निर्मल यादत अत्यन्त रमणीय हैं ।

१२८—तेसि यं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस घंटापरिवडीओ
पञ्चता, तासि यं घंटाणं इमेयारुवे बझावासे पञ्चते, तं जहा—

जंबूष्यामईओ घंटाओ, बयरामयाओ, लालाओ णाणामणिमया घंटापासा, तवणिडजामहियाओ
संखलाओ, रययामयाओ रज्जूओ ।

ताओ यं घंटाओ ओहस्सराओ, मेहस्सराओ, हंसस्सराओ कुचस्सराओ, सीहस्सराओ,
कुंदुहिस्सराओ, णंदिघोसाओ, मंजुघोसाओ, सुस्सरघोसाओ उरालेणं यणुन्नेणं

मणहरेण कल्पमणनिष्ठुहुकरेण सहेण ते पदेसे सध्वओ समंता आपूरेमाजाओ आपूरेमाणाओ जाव (सिरीए अईव अईव उवसोभेभाणा) चिट्ठंति ।

१२८—इन द्वारों की उभय पाश्वंवर्ती दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह घंटाओं की पंक्तियाँ कही गई हैं ।

उन घंटाओं का वर्णन इस प्रकार है—वे प्रत्येक घंटे जाम्बूनद स्वर्ण से बने हुए हैं, उनके लोलक वज्जरत्नमय हैं, भीतर और बाहर दोनों बाजुओं में विविध प्रकार के मणि जड़े हैं, लटकाने के लिये बंधी हुई सौकले सोने की और रस्सियाँ (होरियाँ) चाँदी की हैं ।

मेघ की गढ़गड़ाहट, हंसस्वर, क्रौंचस्वर, सिंहगञ्जना, दुन्दुभिनाद, वाचसमूहनिनाद, नव्दिघोष, मंजुस्वर, मंजुघोष, मुस्वर, सुस्वरघोष जैसी छवनिवाले वे घंटे अपनी श्रेष्ठ—सुन्दर मनोज्ञ, मनोहर कण और मन को प्रिय, सुखकारी भनकारों से उस प्रदेश को चारों ओर से व्याप्त करते हुए अतीव अतीव शोभायमान हो रहे हैं ।

१२९—तेसि णं वाराण उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस वणमालापरिवाजीओ पञ्चत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणामणिभयदुमलयकिसखयपल्लवसमाडलाओ छप्यपरिभुज्जमाणसोहंत सस्तरीयाओ पासाईयाओ, वरिसणिङ्जाओ अभिरूपाओ परिरूपाओ ।

१३०—उन द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह वनमालाओं की परिपाटियाँ—पंक्तियाँ कही हैं ।

ये वनमालायें अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित द्रुभों—वृक्षों, पौधों, लताओं किसलयों (नवीन कोपलों) और पल्लवों—पत्तों से ब्याप्त हैं । मधुपान के लिये बारम्बार पटपदों—झमरों के द्वारा स्पर्श किये जाने से सुशोभित ये वनलतायें मन को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप, एवं प्रतिरूप हैं ।

१३०—तेसि णं वाराण उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस-सोलस पगंठगा पञ्चता । ते णं पगंठगा अद्वाइज्जाइं जोयणसयाइं आयामविक्खंभेण, पणवीसं जोयणसयं बाहल्लेण, सध्वद्वयरामया अछ्या जाव^१ पडिरूपा ।

१३०—इन द्वारों की उभय पाश्वंवर्ती दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह प्रकंठक (वेदिका रूप पीठविशेष, चबूतरा) हैं ।

ये प्रत्येक प्रकंठक अद्वाई सौ योजन लम्बे, अद्वाई सौ योजन चौड़े और सबा सी योजन मोटे हैं तथा सबतिमना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् अतीव रमणीय हैं ।

१३१—तेसि णं पगंठगाण उवरि पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेसगा पञ्चता । ते णं पासायवडेसगा अद्वाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेण, उडभुगायमूसिश्रपहसिया दिव, विविहमणिरयणभत्तिचित्ता, वाजद्धुयविजय-वेजयंतपडागच्छत्तकलिया, तुंगा, यगण-

तलमणुलिहंतसिहरा, जालंतररथणपंजहम्मिलिय द्व, मणिकणगयूभियागा, वियसिथसयबत्तपोडरीय-
तिलगरथणद्वचंवचित्ता, याणमणिदामालंकिया अंतो यहि च सणहा तवणिवजवासुया-परथडा सुहफासा
सस्सिरीयरुधा पासादीया दरिसणिज्जा जाष वाभा ।

१३१—उन प्रकारकों के ऊपर एक-एक प्रासादावतंसक (श्रेष्ठमहल-विशेष) है ।

ये प्रासादावतंसक ऊचाई में अढाई सौ योजन ऊचे और सबा सौ योजन चौड़े हैं, चारों
दिशाओं में व्याप्त अपनी प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं । विविध प्रकार के मणि-रत्नों से इनमें
चित्र-विचित्र रचनायें बनी हुई हैं । बायु से फहराती हुई, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती-
पताकाओं एवं छत्रालिच्छत्रों (एक द्वासरे के ऊपर रहे हुए छत्रों) से अलंकृत हैं, अत्यन्त ऊचे होने से
इनके शिखर मानो आकाशतल का उल्लंघन करते हैं । विशिष्ट शोभा के लिये जाली-झरोखों में
रत्न जड़े हुए हैं । वे रत्न ऐसे चमकते हैं मानों तत्काल पिटारों से निकाले हुए हों । मणियों और
स्वर्ण से इनकी स्तूपिकायें निर्मित (शिखर) हैं । तथा स्थान-स्थान पर विकसित शतपथ एवं पुण्डरीक
कमलों के चित्र और तिलकरत्नों से रचित अर्धचन्द्र बने हुए हैं । वे नाना प्रकार की मणिमय मालाओं
से अलंकृत हैं । भीतर और बाहर से चिकने—कमनीय हैं । प्रांगणों में स्वर्णमयी बालुका विद्धी हुई
है, इनका स्पर्श सुखप्रद है । रूप शोभासम्पन्न है । देखते ही चित्त में प्रसन्नता होती है, वे दर्शनीय
हैं । यावत् मुक्तादामों आदि से सुशोभित हैं ।

विवेचन—‘जाव दामा’ पद से यह सूचित किया है कि यानविमान के प्रसंग में जिस तरह
उसकी अन्तर्भूमि, प्रेक्षागृह मंडप, रंगमंच, सिहासन, विजय, दूष्य, बज्जाकुंश एवं मुक्तादामों का
वर्णन किया है, उसी प्रकार समस्त वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिये ।

संक्षेप में उक्त वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

इन प्रासादावतंसकों का अन्तर्वर्ती भूभाग आलिंग पुष्कर, मूदंगपुष्कर, सूर्यमंडल, चन्द्रमंडल
अथवा कीलों को ठोक और चारों ओर से खीचकर सम किये गये भैड़, बैल, सुअर, सिह आदि के
चमड़े के समान अतीव सम, रमणीय है एवं अनेक प्रकार के शुभ लक्षणों तथा आकार प्रकार वाले
काले, पीले, नीले आदि वर्णों की मणियों से उपशोभित है ।

प्रत्येक प्रासादावतंसक के उस समभूमि भाग के बीचों-बीच वेदिकाओं, तोरणों, पुतलियों
आदि से अलंकृत प्रेक्षागृहमंडप बने हुए हैं और उन मंडपों के भी मध्यभाग में स्थित मणिपीठिकाओं
पर इहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर आदि-आदि के चित्रामों से युक्त स्वर्ण-मणि रत्नों से बने हुए
सिहासन रखे हैं ।

सिहासनों के ऊपरी भाग में शंख, कुंद-पुष्य, क्षीरोदधि के फेनपुंज आदि के सदृश प्रवेत्तधवल
विजयदूष्य बंधे हैं और उनके बीचों बीच बज्जरत्नों से बने हुए अकुंश लगे हैं ।

उन अकुंशों में कुंभप्रमाण, अर्धकुंभ प्रमाण जैसे बड़े-बड़े मुक्तादाम (भूमर) लटक रहे हैं ।
ये सभी दाम सोने के लंबूसकों, मणि रत्नमयी हारों—अर्धहारों से परिवेषित हैं तथा हवा के झोकों
से परस्पर एक-द्वासरे से टकराने पर कर्णप्रिय ध्वनि समीपवर्ती प्रदेश को व्याप्त करते हुए
असाधारण रूप से सुशोभित हो रहे हैं ।

द्वारों के उभय पार्श्वधर्ती तोरण

१३२—तेसि णं वाराणं उभओ पासे सोलस सोलस तोरणा पश्चत्ता, जाणामणिभया जाणामणि-
मएसु खंभेसु उवणिविटुसच्चिविटा जाव^१पउम-हृत्यगा ।

तेसि णं तोरणाणं पत्तेयं पुरओ दो दो सालभंजियाओ पश्चत्ताप्तो, जहा हेद्वा तहेव^२ ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ नागदंता पश्चत्ता, जहा हेद्वा जाव^३ दामा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो हृयसंघाडा, गथसंघाडा, नरसंघाडा, किञ्चरसंघाडा, किपुरिस-
संघाडा, महोरगसंघाडा, गंधब्वसंघाडा, उसभसंघाडा, सव्वरयणामया अच्छा जाव^४ पडिरुवा, एवं
पंतीओ दोही मिहुणाइ ।

तेसि णं तोरणाणं दो-दो पउमस्याओ जाव^५ (मागलयाओ, असोगलयाओ, चंपगलयाओ,
चूयस्याओ, बणलयाओ, बासंतियलयाओ, अहमुत्तयलयाओ कुंदलयाओ) सामलयाप्तो, णिछ्चं
कुसुभियाप्तो सव्वरयणामया अच्छा जाव^६ पडिरुवा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो दिसा-सोवत्तिया पश्चत्ता, सव्वरयणामया अच्छा जाव^७
पडिरुवा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो-दो चंदणकलसा पश्चत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपट्टाणा
तहेव^८ ।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो मिगारा पश्चत्ता, ते णं मिगारा वरकमलपट्टाणा जाव^९ महया
मत्तगयमुहागितिसमाणा पश्चत्ता समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो आयंसा पश्चत्ता, तेसि णं आयंसाण इमेयारुवे वशावासे
पश्चत्ते, तंजहा—तवणिजमया पगंठगा, अंकमया भंडला, अणुरधसितनिम्मलाए छायाए समणुबद्धा,
चंदमङ्गलयडिजिकासा, महया-महया अद्वकायसमाणा पश्चत्ता समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो वहरनामथाला पश्चत्ता, अच्छुतिभ्छुडियसालितंदुलणहृस-
विटुपडिप्पा इव चिट्ठ॑ति सव्वजंदूजयमया जाव^{१०} पडिरुवा महया-महया रहचकहवालसमाणा पश्चत्ता
समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो पाईओ, ताओ, णं पाईओ सच्छोदगपरिहरयाओ, जाणाविहस्स
फलहृरियगस्स बहुपडिपुश्चाप्तो चिव चिट्ठ॑ति, सव्वरयणामईओ अच्छा जाव^{११} पडिरुवाओ महया-महया
गोकलिजरचककसमाणीओ पश्चत्ताओ समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो सुपइट्टा पश्चत्ता जाणाविहभंडविरहया इव चिट्ठ॑ति सव्वरय-
णमया अच्छा जाव^{१२} पडिरुवा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो मणोगुलियाओ पश्चत्ताप्तो, तासु णं मणोभुलियासु बहवे
सुबन्न-दप्पमया फलगा पन्नसा, तेसु णं सुबन्नरूपमएसु फलगेसु बहवे बयरामया नागदंतया पन्नसा,
तेसु णं बयरामएसु णागदंतएसु बहवे बयरामया सिक्कगा पन्नसा, तेसु णं बयरामएसु सिक्कगेसु किण्ठ-

१-२. देखें सूत्र संख्या १२६ ३—देखें सूत्र संख्या १२३ ४—देखें सूत्र संख्या ११८ ५-६ देखें सूत्र ११८
७-८. देखें सूत्र संख्या ११२ ९-१०-११—देखें सूत्र संख्या ११८

मुत्तसिकगवच्छया णोलसुत्तसिककगवच्छया, लोहिथसुत्तसिककगवच्छया हालिद्वसुत्तसिकगवच्छया,
सुकिललसुत्तसिककगवच्छया बहुवे वायकरगा पन्नता सब्बवेरुसिथमया अच्छा जाव^१ पड़िरुवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरडगा पन्नता, से जहाणामए रन्नो चाउरंत-
चबकबट्रिस्स चित्ते रयणकरंडए बेहलियमणिफलिहृपडसपच्चोयडे साते पहाते ते पतेसे सब्बसो समंता
ओमा संति उज्जोवेति तदति पभासति, एवमेव ते यि चित्ता रयणकरंडगा साते पभाते ते पएसे
सब्बओ समंता ओमासंति, उज्जोवेति, तर्वति पभासति।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो हृषकंठा, गयकंठा, नरकंठा, किनरकंठा, किपुरिसकंठा,
महोरगकंठा, गंधब्बकंठा, उसभकंठा सब्बरयणामया अच्छा जाव^२ पड़िरुवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो पुण्कचंगेरीओ, मल्लचंगेरीओ, चुनचंगेरीओ, गंधचंगेरीओ,
बथचंगेरीओ, आभरणचंगेरीओ, सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहृथचंगेरीओ पन्नताओ सब्बरयणामयाओ
अच्छाओ जाव^३ पड़िरुवाओ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो पुण्कपडलगाईं जाव लोमहृथपडलगाईं सब्बरयणामयाईं
अच्छाईं जाव^४ पड़िरुवाईं।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सीहासणा पण्णता, तेसि णं सीहासणाणं बण्णओ जाव^५
दामा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो रुप्पमया छत्ता पन्नता, ते णं छत्ता बेरुलियविमलदंडा,
जंबूण्यकनिया, बइरसंधी, मुत्तजासपरिगया, अटुसहस्सवरकंचणसलागा, बद्रमलयसुगंधिसब्बो-
उयसुरमिसीयलच्छया, मंगलभत्तचित्ता, चंवागारोबमा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चामराओ पन्नताओ, साओ णं चामराओ चंबप्पभवेरुसिय-
बयरनानामणिरयणखचियचित्तदण्डाओ^६ सुहुमरययदीहवालातो संखंककुददगरयअमयमहियफेण-
पुंजसनिनगासातो, सब्बरयणामयाओ, अच्छाओ जाव पड़िरुवाओ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो तेल्लसमुगा, पत्तसमुगा, शोयगसमुगा, तगरसमुगा, एसा-
समुगा, हरियालसमुगा, हिगुलयसमुगा, मणोसिलासमुगा, अंजेसमुगा, सब्बरयणामया अच्छा
जाव पड़िरुवा।

१३२—उन द्वारों के दक्षिण और वाम—दोनों पाश्वों में सोलह-सोलह तोरण हैं।

वे सभी तोरण नाना प्रकार के भणिरत्नों से बने हुए हैं तथा विविध प्रकार की भणियों से
निर्मित स्तम्भों के ऊपर अच्छी तरह बन्धे हैं यावत् पद्म-कमलों के भूमकों-गुच्छों से उपशोभित हैं।

उन तोरणों में से प्रत्येक के आगे दो-दो पुतलियां स्थित हैं। पुतलियों का वर्णन पूर्ववत्
जानता चाहिए।

१-२-३-४ देखें सूत्र संख्या ११८

५. सिहासन के वर्णन के लिये देखें सूत्र संख्या ४८, ४९, ५०, ५१।

६. पाठान्तर—णाणामणिकणगरयणविमलमहिद्वतवणिज्ञजलविचित्तदण्डाओ चिलियाओ।

उन तोरणों के आगे दो-दो नागदन्त (खूटे) हैं। मुक्तादाम पर्यन्त इनका वर्णन पूर्ववर्णित नागदन्तों के समान जानना चाहिये।

उन तोरणों के आगे दो-दो शश्व, गज, नर, किञ्चर, किपुरुष, महोरग, गन्धर्व और वृषभ संघाट (युगल) हैं। ये सभी रत्नमय, निर्मल यावत् असाधारण रूप-सौन्दर्य वाले हैं। इसी प्रकार से इनकी पंक्ति (श्रेणी) वीथि^१ और मिथुन (स्त्री-पुरुषयुगल) स्थित हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पञ्चलतायें यावत् (नागलतायें, अशोकलतायें, चम्पकलतायें, आश्रलतायें, बनलतायें, वासन्तीलतायें, अतिभुक्तकलतायें, कुंदलतायें) श्यामलतायें हैं। ये सभी लतायें पुष्पों से व्याप्त और रत्नमय, निर्मल यावत् असाधारण मनोहर हैं।

उन तोरणों के अग्र भाग में दो-दो दिशा-स्वस्तिक रखे हैं, जो सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् (मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप-मनोहर) प्रतिरूप-अतीव मनोहर हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो चन्द्रनकलश कहे हैं। ये चन्द्रनकलश श्रेष्ठ कमलों पर स्थापित हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

उन तोरणों के आगे दो-दो शृंगार (फारी) हैं। ये शृंगार भी उत्तम कमलों पर रखे हुए हैं यावत् हे आयुष्मन् श्रमणो ! सत्त गजराज की मुखाकृति के समान विशाल आकार वाले हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो आदर्श-दर्पण रखे हैं। इन दर्पणों का वर्णन इस प्रकार है—

इनकी पाठपीठ सोने की है, (चीखटे बैड़र्य मणि के और पिछले भाग बज्जरत्नों के बने हुये हैं) प्रतिक्रिम्ब मण्डल अंक रत्न के हैं और अनधिसे होने (चिसे नहीं जाने) पर भी ये दर्पण अपनी स्वाभाविक निर्मल प्रभा से युक्त हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! चन्द्रमण्डल सरीखे ये निर्मल दर्पण ऊंचाई में कायाधं (आधे शरीर) जितने बड़े-बड़े हैं।

उन तोरणों के आगे बज्जरमय नाभि वाले (बज्जरत्नों से निर्मित मध्य भाग वाले) दो-दो थाल रखे हैं। ये सभी थाल मूशाल आदि से तीन बार छाँटे गये, धोध गये, अतीव स्वच्छ निर्मल अखण्ड तंदुलों-चावलों से परिपूर्ण-भरे हुए से प्रतिभासित होते हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! ये थाल जम्बूनद-स्वर्णविशेष-से बने हुए यावत् अतिशय रमणीय और रथ के पहिये जितने विशाल गोल आकार के हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पात्रियाँ रखी हैं। ये पात्रियाँ स्वच्छ निर्मल जल से भरी हुई हैं और विविध प्रकार के सद्य-ताजे हरे फलों से भरी हुई-सी प्रतिभासित होती हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! ये सभी पात्रियाँ रत्नमयी, निर्मल यावत् अतीव मनोहर हैं और इनका आकार बड़े-बड़े गोकलिजरों (गाय को घास रखने के टोकरों) के समान गोल हैं।

उन तोरणों के आगे दो दो सुप्रतिष्ठकपात्र विशेष (प्रसाधन मंजूषा-शृंगारदान) रखे हैं। प्रसाधन-शृंगार की साधन भूत शौषधियों आदि से भरे हुए भाँडों से सुशोभित हैं और सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् अतीव मनोहर हैं।

१. एक दिखोन्मुख एवं परस्पर एक दूसरे के उम्मुख अवस्थान को क्रमशः पंक्ति और वीथि कहते हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो मनोगुलिकायें हैं। इन मनोहर मनोगुलिकाओं पर अनेक सोने और चांदी के पाटिये जड़े हुए हैं और उन सोने और चांदी के पाटियों पर वज्ररत्नमय नागदन्त लगे हैं एवं उन नामदन्तों के ऊपर वज्ररत्नमय छोंके टंगे हैं। उन छोंकों पर काले, नीले, लाल, पीले और सफेद सूत के जालीदार वस्त्र खण्ड से ढंके हुए बातकरक (जल से रहित, कोरे घड़े) रखे हैं। ये सभी बातकरक वज्ररत्नमय, स्वच्छ यावत् अतिशय सुन्दर हैं।

उन तोरणों के आगे चित्रामों से युक्त दो-दो (रत्नकरंडक—रत्नों के पिटारे) रखे हैं। जिस तरह चातुरंत चक्रवर्ती (षट् खण्डाधिपति) राजा का बैडूर्यमणि से बना एवं स्फटिक मणि के पटल से आच्छादित अद्भुत-आश्चर्य-जनक रत्नकरंडक अपनी प्रभा से उस प्रदेश को पूरी तरह से प्रकाशित, उद्घोतित, तापित और प्रभासित करता है, उसी प्रकार ये रत्नकरंडक भी अपनी प्रभा—काँति से अपने निकटवर्ती प्रदेश को सर्वत्मना प्रकाशित, उद्घोतित, तापित, और प्रभासित करते हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो अश्वकंठ, (कंठ पर्यन्त घोड़े की मुखाकृति जैसे रत्न-विशेष) गजकंठ, नरकंठ, किञ्चरकंठ, किपुरुषकंठ, गहोरगकंठ, धधवंड और दृश्यकंठ लगे हैं। ये सब अश्वकंठादिक सर्वथा रत्नमय, स्वच्छ-निर्मल यावत् असाधारण सुन्दर हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पुष्प-चंगेरिकायें (फूलों से भरी छोटी-छोटी टोकरियाँ—डलियाँ) माल्यचंगेरिकायें, चूर्ण (सुगन्धित चूर्ण) चंगेरिकायें गन्ध चंगेरिकायें, वस्त्र चंगेरिकायें, आभरण (आभूषण) चंगेरिकायें, सिद्धार्थ (सरसों) की चंगेरिकायें एवं लोमहस्त (मयूरपिच्छ) चंगेरिकायें रखी हैं। ये सभी रत्नों से बनी हुई, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पुष्पपटलक (पिटारे) यावत् (माल्य, चूर्ण, गन्ध, वस्त्र, आभरण, सिद्धार्थ,) तथा मयूर पिच्छपटलक रखे हैं। ये सब भी पटलक रत्नमय, स्वच्छ—निर्मल यावत् प्रतिरूप हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो सिहासन हैं। इन सिहासनों का वर्णन मुक्तादामपर्यन्त पुर्ववत् कहना चाहिये।

उन तोरणों के आगे रजतमय दो-दो छत्र हैं। इन रजतमय छत्रों के दण्ड विमल बैडूर्य-मणियों के हैं, कणिकायें (बीच का केन्द्र) सोने की हैं, संघियी वज्र की हैं, मोती पिरोई हुई आठ हजार सोने की सलाइयाँ (तानें) हैं तथा दहर चन्दन और सभी श्रहतुओं के पुष्पों की सुरभि से युक्त शीतल कान्ति वाले हैं। इन पर मंगलरूप स्वस्तिक आदि के चित्र बने हैं। इनका आकार चन्द्रमण्डलवत् गोल है।

उन तोरणों के आगे दो-दो चामर हैं। इन चामरों की डंडियाँ चन्द्रकांत बैडूर्य और वज्र रत्नों की हैं और उन पर अनेक प्रकार के मणि-रत्नों द्वारा विविध चित्र-विचित्र रचनायें भी हैं, शंख, अंकरत्न, कुदपुष्प, जलकण और मथित क्षीरोदधि के फेनपुंज सदृश प्रवेत-ध्रवल इनके पतले लम्बे बाल हैं। ये सभी चामर सर्वथा रत्नमय, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अनुपम शोभाशाली हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो तेलसमुद्रगक (सुगन्धित तेल से भरे पात्र), कोष्ठ (सुगन्धित द्रव्य-विशेष कुटज) समुद्रगक, पत्र (तमाल—के पत्ते) समुद्रगक, चौयसमुद्रगक, तगरसमुद्रगक, एला

(इलायची) समुद्रगक, हरतालसमुद्रगक, हिंगलुकसमुद्रगक, मैनभिलसमुद्रगक, अंजनसमुद्रगक रखे हैं। ये सभी समुद्रगक रत्नों से बने हुए, तिर्मल यावत् ग्रतीव मनोहर हैं।

द्वारस्थ छवजाओं का वर्णन

१३३ - सूरियामे णं विमाणे एगमेगे दारे अटुसयं चक्रज्ञयाणं, अटुसयं सिंगज्ञयाणं, गरुडज्ञयाणं, छतज्ञयाणं, पिच्छज्ञयाणं, सउण्डिज्ञयाणं, सौहृज्ञयाणं, उत्तमज्ञयाणं, अटुसयं सेषाणं चउविसाणाणं नागवरकेऊणं। एवमेव सपुत्रवावरेण सूरियामे विमाणे एगमेगे वारे असीयं असीयं केउसहस्रं भवति इति मवखायं।

१३३ - सूर्यभि विमान के प्रत्येक द्वार के ऊपर चक्र, मृग, गरुड, छत्र, मयूरपिच्छ, पक्षी, सिंह, वृषभ, चार दाँत वाले श्वेत हाथी और उत्तम नाग (सर्प) के चित्र (चिह्न) से अंकित एक सौ, आठ—एक सौ आठ छवजायें फहरा रही हैं। इस तरह सब मिलाकर एक हजार अस्ती-एक हजार अस्ती छवजायें उस सूर्यभि विमान के प्रत्येक द्वार पर फहरा रही हैं—ऐसा तीर्थकर भगवन्तों ने कहा है।

द्वारवर्ती भौमों (विशिष्ट स्थानों) का वर्णन

१३४—तेसि णं वाराणं एगमेगे वारे पण्डित्पण्डित्भौमा पञ्चता। तेसि णं भौमाणं भूमि-भागा, उल्लोधा च भाणियथ्वा। तेसि णं भौमाणं च बहुमज्जदेसभागे पक्षेयं पत्तेयं सीहासणे, सीहासण-वन्नभो सपरिवारो, अवलेसेसु भौमेसु पत्तेयं-पत्तेयं भद्रासणा पञ्चता।

१३४—उन द्वारों के एक-एक द्वार पर पैसठ-पैसठ भौम (विशिष्ट स्थान—उपरिगृह) बताये हैं। यान विमान की तरह ही इन भौमों के समरमणीय भूमि भाग और उल्लोक (चन्देवों) का वर्णन करता चाहिए।

इन भौमों के बीचों-बीच एक-एक सिंहासन रखा है। यानविमानवर्ती सिंहासन की तरह उसका सपरिवार वर्णन समझना चाहिए, अथवा उसके परिवार रूप सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित इन सिंहासनों का वर्णन जानना चाहिये। शेष आस्यास के भौमों में भद्रासन रखे हैं।

१३५—तेसि णं वाराणं उत्तमागारा^१ सोलसविहेहि रयणेहि उवसोभिया, तं जहा—रयणेहि जाव रिद्धेहि।

तेसि णं दाराणं उप्पि अटुटुमंगलगा सज्जया जाव छतालिछता।

एवमेव सपुत्रवावरेण सूरियामे विमाणे चत्तारि द्वारसहस्रा भवतीति ग्रन्थायं।

१३५—उन द्वारों के ओतरंग (ऊपरी भाग) सोलह प्रकार के रत्नों से उपशोभित हैं। उन रत्नों के नाम इस प्रकार हैं—कर्कतनरत्न यावत् (वज्र, वैदूर्य, लोहिताक्ष, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलक सौगन्धिक, ज्योतिरस, अंक, अंजन, रजत, अंजनपुलक, जातरूप, स्फटिक), रिष्टरत्न।

१. पाठान्तर—उवरिमागारा।

उन द्वारों के ऊपर छबजाओं यावत् छवातिछ्वाओं से शोभित स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगल हैं।

इस प्रकार सूर्यभि विमान में सब मिलकर चार हजार द्वार सुशोभित हो रहे हैं।

विमान के बनखण्डों का वर्णन

१३६—सूरियाभस्स विमानस्स चउट्टिंति पंच जोयणसयाइ अबाहाए उत्तारि वणसंडा पञ्चसा, तं जहा—असोगवणे, सत्तदव्यवणे, चंपगवणे, चूयगवणे ।

पुरत्थिमेण असोगवणे, दाहिणेण सलवञ्चवणे, पच्चत्थिमेण चंपगवणे, उत्तरेण चूयगवण ।

ते णं वणखंडा साइरेगाइ अद्वतेरस जोयणसयसहस्साइ आयामेण, पंच जोयणसयाइ विखंभेण, पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिखिता, किण्हा किण्हीभासा, नीला नीलोभासा, हरिया हरियोभासा, सीया सीयोभासा, निद्वा निद्वोभासा, तिष्वा तिष्वोभासा, किण्हा किण्हुच्छाया, नीला नीलच्छाया, हरिया हरियच्छाया, सीया सीयच्छाया, निद्वा निद्वच्छाया, घणकडितडियच्छाया, रम्मा महामेहनिकुरुंब-मूया । ते णं पायवा मूलमंतो वणखंडवञ्चओ ।

१३६—उन सूर्यभिविमान के चारों और पाँच सौ-पाँच सौ योजन के अन्तर पर चार दिशाओं में १. अशोकवन, २. सप्तपर्णवन, ३. चंपकवन और ४. आम्रवन नामक चार वन खंड हैं।

पूर्व दिशा में अशोकवन, दक्षिण दिशा में सप्तपर्ण वन, पश्चिम में चंपक वन और उत्तर में आम्रवन है।

ये प्रत्येक वनखंड साढ़े बारह लाख योजन से कुछ यथिक लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं। प्रत्येक वनखंड एक-एक परकोटे से परिवेष्टित—बिरा है।

ये सभी वनखंड अत्यन्त धने होने के कारण काले और काली आभा वाले, नीले और नील आभा वाले, हरे और हरी कांति वाले, शीत स्पर्श और शीत आभा वाले, स्तिर्घ—कमनीय और कमनीय कांति दीप्ति—प्रभा वाले, तीव्र प्रभा वाले तथा काले और काली छाया वाले, नीले और नीली छाया वाले, हरे और हरी छाया वाले, शीतल और शीतल छाया वाले, स्तिर्घ और स्तिर्घ छाया वाले हैं एवं वृक्षों की शाखा-प्रशाखायें आपस में एक दूसरी से मिली होने के कारण अपनी सघन छाया से बड़े ही रमणीय तथा महा मेघों के समुदाय जैसे सुहावने दिखते हैं।

इन वनखंडों के वृक्ष जमीन के भीतर गहरी फैली हुई जड़ों से युक्त हैं, इत्यादि वृक्षों का समग्र वर्णन शौपातिक सूत्र के अनुसार यहाँ करना चाहिए।

विवेचन—शौपातिक सूत्र के अनुसार संक्षेप में वनखंड के वृक्षों का वर्णन इस प्रकार है—

१. एक जाति वाले शेष वृक्षों के समूह की वन और चिन्ह-भिन्न जाति वाले वृक्षों के समुदाय को वनखंड कहते हैं—एग जाईएहि रुखेहि वण अणेगजाईएहि उत्तमेहि रुखेहि वणसण्डे (जीवाभिगम चूणि)।

इन वनखंडों के वृक्ष जलीय के अन्दर विस्तृत रहने वाले हुए झूल, चान्द, स्कन्ध, लंबा, शाखा, प्रशाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज से युक्त हैं। छतरी के समान इनका रमणीय गोल आकार है। इनके स्कन्ध ऊपर की ओर उठी हुई अनेक शाखा-प्रशाखाओं से शोभित हैं और इतने विशाल एवं बृत्ताकार हैं कि अनेक पुरुष मिलकर भी अपने फैलाये हुए हाथों से उन्हें घेर नहीं पाते। पत्ते इतने घने हैं कि बीच में जरा भी बंतर दिखलाई नहीं देता है। पत्र-पल्लव सदैव नवीन जंसे दिखते हैं। कोपले अत्यन्त कोमल हैं और सदैव सब ऋतुओं के पुष्पों से व्याप्त हैं तथा नमित, विशेष नमित, पुष्पित, पल्लवित, गुलिमत, गुच्छित, विनमित प्रणमित होकर मंजरी रूप शिरोभूषणों से अलंकृत रहते हैं। तोता, मयूर, मैना, कोयल, नंदीमुख, तीतर, बटेर, चक्रवाल, कलहंस, बतक, सारस आदि अनेक पक्षि-युगलों के मधुर स्वरों से गूँजते रहते हैं। अनेक प्रकार के गुच्छों और गुलमों से निमित मंडप आदि से सुशोभित हैं। नासिका और मन को तृप्ति देने वाली सुरांघ से महकते रहते हैं। इस प्रकार ये सभी वृक्ष सुरम्य, प्रासादिक दर्शनीय, अभिरूप-भनोहर एवं प्रतिरूप—विशिष्ट शोभासंपन्न हैं।

१३७—तेसि णं वणसंदर्शणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णसा, से जहानामए आलिङ-
पुक्खरे तिवा जाव णाणाविहृपंचकण्णेहि भणोहि य तणेहि य उवसोभिया, तेसि णं गंधो फासो ज्ञेयव्वो
जहवकमं ।

१३८—उन वनखंडों के मध्य में अति सम रमणीय भूमिभाग (मंदान) है। वे-मंदान आलिङ पुष्कर आदि के सदृश समतल यावत् नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पंचरंगे मणियों और तृणों से उप-शोभित हैं। इन मणियों के गंध और स्पर्श यथाक्रम से पूर्व में किये गये मणियों के गंध और स्पर्श के वर्णन के समान जानना चाहिए।

मणियों और तृणों की ध्वनियाँ

१३९—प्र०—तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य पुञ्चावरदाहिणुतरागतेहि वातेहि मंदायं
मंदायं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं खालियाणं कंदियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरिदाणं केरिसए सद्वे
भवति ?

१४०—हे भद्रन्त ! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा से आए वायु के स्पर्श से मंद-मंद हिलने-डुलने, कंपने, डगमगाने, फरकने, टकराने क्षुभित—विचलित और उदीरित—प्रेरित होने पर उन तृणों और मणियों की कंसी शब्द-ध्वनि होती है ?

१४१—उ०—गोयमा ! से जहानामए सीयाए वा, संवमाणोए वा, रहस्य वा सच्चित्तस्स
सज्जायस्स, सर्घटस्स, सपडागस्स, सतोरणवरस्स सतंदिघोसस्स, सखिखिणहेमजालपरिकिष्टस्स,
हेमव्यचित्ततिणिसकणगणिजजत्वार्थ्यायस्स, सुसंपिन्द्रचक्रमंडलधुरागस्स, कालायससुक्यणेमिजंत-
कम्मस्स आहण्णवर-तुरगसुसंपउत्तस्स, कुसलणरच्छेयसारहि-सुसंपरिगगहियस्स, सरसबत्तीसतोणपरि-
मंदियस्स सकंकडावयंगस्स, सचाव-सर-पहरण-आवरणभरिय-जोधजुज्ज्ञासज्जस्स, रायंगणंसि वा
रायंतेउरंलि वा रमंसि वा मणिकुट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिक्खणं अभिष्टुज्ज्ञाणस्स वा निष्टुर्ज-
माणस्स वा ओराला मणुण्णा भणोहरा कण्णभणनिवुइकरा सद्वा सबवद्वो समंता अभिणिस्सवंलि ।

मवेयारुवे सिया ? णो इणहुे समद्वे ।

१३९—हे गीतम ! जिस तरह शिविका (डोली, पालकी) अथवा स्यन्दभानिका (बहली-सुख-पुर्वक एक व्यक्ति के बैठने योग्य घोड़ा जुता यान-विशेष) अथवा रथ, जो छत्र, छवजा, धंटा, पताका और उत्तम तोरणों से सुशोभित, वाद्यसमूहवत् शब्द-निनाद करने वाले चूंधरुओं एवं स्वर्णमयी मालाओं से परिवेष्टित हो, हिमालय में उत्पन्न अति निगड़-सारभूत उत्तम तिनिश काढ़ से निर्मित एवं सुव्यवस्थित रीति से लगाये गये आरों से युक्त पहियों और धुरा से सुसज्जित हो, सुदृढ़ उत्तम लोहे के पट्टों से सुरक्षित पट्टियों वाले, शुभलक्षणों और गुणों से युक्त कुलीन अश्व जिसमें जुते हों जो रथ-संचालन-विद्या में अति कुशल, दक्ष सारथी द्वारा संचालित हो, एक सौ-एक सौ वाण वाले, बत्तीस तूणीरों (तरकसों) से परिमंडित हो, कबन्च से श्राच्छादित अग्न-शिखर-भाग वाला हो, धनुष बाण, प्रहरण, कवच आदि युद्धोपकरणों से भरा हो, और युह के लिये उत्पर—सन्नद्ध योधाओं के लिए सजाया गया हो, ऐसा रथ बारम्बार मणियों और रत्नों से बनाये गये—फर्ज वाले राजप्रांगण, अंतःपुर अथवा रमणीय प्रदेश में आवागमन करे तो सभी दिशा-विदिशा में चारों ओर उत्तम, मनोज्ञ, मनोहर, कान और मन को आनन्द-कारक मधुर शब्द-ध्वनि फैलती है ।

हे भद्रत ! क्या इन रथादिकों की ध्वनि जैसी ही उन तृणों और मणियों की ध्वनि है ?

गीतम ! नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं है । (उनकी ध्वनि तो इनसे भी विशेष मधुर है ।)

१४०—से जहाणामए वेयालियबीणाए उत्तरमंवामुच्छियाए अके सुपइट्टियाए कुसलनरनारि-सुसंपरिग्नहियाए चंदणसारनिम्मिष्कोणपरिघट्टियाए पुष्परत्तादरत्तकालसमयंमि मंदायं-संदायं वेइयाए, पवेइयाए, चलियाए, घट्टियाए, खोभियाए, उदीरियाए ओराला, मणुष्णा, मणहरा, कण्ह-मणनिब्दुहकरा सद्वा सञ्चओ समंता अभिनिस्सवंति, भवेयारूपे सिया ? यो इणट्ठे समट्ठे ।

१४०—भद्रत ! क्या उन मणियों और तृणों की ध्वनि ऐसी है जैसी कि मध्यरात्रि अथवा रात्रि के अन्तिम प्रहर में बादनकुशल नर या नारी द्वारा अंक—गोद में लेकर चंदन के सार भाग से रचित कोण (बीणा बजाने का दण्ड, डाँडी) के रूपरूप से उत्तर-मन्द मूर्च्छना वाली (राग-रागिनी के अनुरूप तीव्र-मन्द आरोह-अवरोह ध्वनियुक्त) वैतालिक बीणा को मन्द-मन्द ताड़ित, कंपित, प्रकंपित, चालित, ध्वित क्षुभित और उदीरित किये जाने पर सभी दिशाओं एवं विदिशाओं में चारों ओर उदार, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोहर, कण्हप्रिय एवं मनमोहक ध्वनि गूँजती है ?

गीतम ! नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं है । उन मणियों और तृणों की ध्वनि इससे भी अधिक मधुर है ।

१४१—से जहानामए किन्नराण वा, किन्नुरिसाण वा, महोरगाण वा, गंधव्याण वा, भद्र-सालवणगयाण वा, नंदणवणगयाण वा, सोमणसवणगयाण वा, पंडगवणगयाण वा, हिमवंतमलयमंदर-गिरिगुहासमन्नागयाण वा, एगझो सञ्चिहियाण समागयाण सञ्जिसन्नाण समुविद्वाण पमुहयपवको-लियाण गीवरह गंधव्यहसियमणाण गज्जं पज्जं, कत्थं, गेयं पयश्चद्दं, पायश्चद्दं उविखतं पायंतं मंदायं रोहयविसाण सत्तसरसमन्नागयं छट्टोसविष्पमवकं एककारसालंकारं अट्टगुणोववेयं, गुजाड्वंकुहरो-वगूङं रत्तं तिद्वाणकरणमुद्दं पगीयाणं, भवेयारूपे ?

१४१—भगवन् ! तो क्या उनकी इच्छनि इस प्रकार की है, जैसे कि भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन आथवा पांडुक वन या हिमवन, मलय आथवा मंदरगिरि की गुफाओं में गये हुए एवं एक स्थान पर एकत्रित, समागत, बैठे हुए और अपने-अपने समूह के साथ उपस्थित, हषोल्लास पूर्वक कीड़ा करने में तत्पर, संगीत-नृत्य-नाटक-हासपरिहासप्रिय किन्नरों, किपुरुषों, महोरणों आथवा गंधवों के गद्यमय-पद्यमय, कथनीय, गेय, पद-बद्ध, पादबद्ध, उत्क्षिप्त, पादान्त, मन्द-मन्द घोलनात्मक, रोचिता-वसान-सुखान्त, मनमोहक सप्त स्वरों से समन्वित, षड्दोषों से रहित, यारह अलंकारों और आठ गुणों से युक्त गुजारव से दूर-दूर के कोनों—क्षेत्रों को व्याप्त करने वाले राग-रागिनी से युक्त त्रि-स्थान-करण शुद्ध गीतों के मधुर बोल होते हैं ?

विवेचन- भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार देवनिकायों में से किन्नर, किपुरुष, महोरण और गंधर्व व्यन्तरनिकाय के देव हैं। ये सभी प्रशस्त गीत, संगीत, नृत्य एवं नाट्य-कलाओं के प्रेमी होते हैं। बालसुलभ कीड़ा और हास-परिहास, कोलाहल करने में इन्हें आनन्दा-नुभूति होती है। पुरुषों से बनाये हुए मुकुट, कुंडल आदि इनके प्रिय आभूषण हैं। सर्वं ऋतुओं के सुन्दर सुगम्भित पुष्पों द्वारा निर्मित वनमालाओं से इनके वक्षस्थल शोभित रहते हैं। ये अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रंग-बिरंगे पंचरंगे परिधान—वस्त्र पहनते हैं। ये सभी प्रायः सुमेरु पर्वत और हिमवंत आदि पर्वतों के रमणीय प्रदेशों में निवास करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में संगीत के स्वर, दोष और गुणों की संख्या का संकेत करने के लिये सत्तसर-समत्तागय, छहोसविष्पमुक्त, अद्वगुणोवदेयं पद दिये हैं। स्वरों आदि के नाम इस प्रकार हैं—

सप्तस्वर— १. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गाधार, ४. मध्यम, ५. पञ्चम, ६. धैवत और ७. निषाद ।

षड्दोष— १. भीत, २. द्रुत, ३. उपित्थ, ४. उत्ताल, ५. काकस्वर, ६. अनुनास ।

अष्टगुण— १. पूर्ण, २. रक्त ३. अलंकृत ४. व्यक्त ५. अविद्युष्ट, ६. मधुर ७. सम ८. सुलिलित ।

१४२—हृता सिया ।

१४२—हे गीतम ! हाँ, ऐसी ही मधुरातिमधुर इच्छनि उन मणियों और तृणों से निकलती है ।

वनखंडवतीं वापिकाओं आदि का वर्णन

१४३— तेसि णं वणसंडाणं तत्य-तत्य तहि तहि देसे देसे बहूद्दिशो खुद्दा खुद्दियातो वावीयाओ, पुक्षरिषीओ, शीहियाओ, गुंजालियाओ, सरपंलियाओ, सरसरपंलियाओ, विलपंतिओ, अङ्गाओ सण्हाओ रथयामयकूलाओ, समतोराओ वयरामयपासाणाओ तवणिज्जतसाओ, सुवण्ण-सुज्ञशरथयवालुयाओ देखलियमणिकालियपद्मपद्मोद्दाओ, सुहोयारसुचत्ताराओ, णाणामणितित्थसुद्धाओ, चउक्कोणाओ, आणुपुद्वसुजासवप्पगंभीरसीयलज्जाओ, संछन्नपसभि-समुणालाओ, बहुउपलक्ष्मयनलिणसुभगसोर्गद्वियपोडरोपसयवत्तसहसपत्तकेसरफुल्लोषचियाओ अप्पथपरिभुजज्ञाणकमलाओ, अङ्गाशिमलसलिलपुण्णाओ, पडिहृत्यभमंतमच्छकच्छम-अणेगसद्ग-मिहृषगपविचरिताओ ।

पत्तेयं-पत्तेयं पउमवरवेदियापरिविष्टाओ, पत्तेयं-पत्तेयं वणसंडपरिविष्टाओ ।

अप्येगइयाओ आसबोयगामो, अप्येगइयाओ बारुणोयगाओ, अप्येगइयाओ खीरोयगाओ, अप्येगइयाओ घओयगाओ, अप्येगइयाओ खोबोयगामो^१ अप्येगसियाओ पगतीए उवगरसेण वण्णतामो, पासादीयाओ दरिसणिजलामो अभिरुचामो पडिरुचाओ ।

१४३—उन वनखंडों में जहाँ-तहाँ स्थान-स्थान पर अनेक छोटी-छोटी चौरस वापिकायें-बावड़ियां, गोल पुष्करिणियां, दीविकायें (सीधी बहती नदियाँ), गुंजालिकायें (टेढ़ी-तिरछी-बांकी बहती नदियाँ), झूली से छंकी हुई तरोयरों की पंक्तियाँ, सर-कर पंक्तियाँ (पानी के प्रवाह के लिए नहर द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए तालाबों की पंक्तियाँ) एवं कूपपंक्तियाँ बनी हुई हैं ।

इन सभी वापिकाओं आदि का बाहरी भाग स्फटिमणिवत् अतीव निर्मल, स्विञ्च—कमनीय है । इनके तट रजतमय हैं और तटवर्ती भाग अत्यन्त सम-चौरस हैं । ये सभी जलाशय वज्ररत्न रूपी पाषाणों से बने हुए हैं । इनके तलभाग तपनीय स्वर्ण से निर्मित हैं तथा उन पर शुद्ध स्वर्ण और चांदी की बालू बिछी है । तटों के समीपवर्ती ऊँचे प्रदेश (मुंडेर) बैड़र्य और स्फटिक मणि-पट्टों के बने हैं । इनमें उतरने और निकलने के स्थान सुखकारी हैं । चाटों पर अनेक प्रकार की मणियाँ जड़ी हुई हैं । चार कोने वाली वापिकाओं और कुश्रों में अनुक्रम से नीचे-नीचे पानी अगाध एवं शीतल है तथा कमलपत्र, बिस (कमलकंद) और मृणालों से ढंका हुआ है । ये सभी जलाशय विकसित—खिले हुए उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सीर्गधिक, पुण्डरीक, शतपथ तथा सहस्र-पत्र कमलों से सुशोभित हैं और उन पर पराग-पान के लिए अमरसमूह गूंज रहे हैं । स्वच्छ-निर्मल जल से भरे हुए हैं । कल्लोल करते हुए मगर-मच्छ कछुआ आदि बेरोक-टोक इधर-उधर घूम फिर रहे हैं और अनेक प्रकार के पक्षिसमूहों के गमनागमन से सदा व्याप्त रहते हैं ।

ये सभी जलाशय एक-एक पद्मवरवेदिका और एक एक वनखंड से परिवेष्टि-घिरे हुए हैं ।

इन जलाशयों में से किसी में आसव जैसा, किसी में बारुणोदक (बारुण समुद्र के जल) जैसा, किसी में खीरोदक जैसा, किसी में धी जैसा, किसी में इक्षुरस जैसा और किसी-किसी में प्राकृतिक—स्वाभाविक पानी जैसा पानी भरा है ।

ये सभी जलाशय मन को प्रसन्न करने वाले, दर्जनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं ।

१४४—तासि णं वादीणं जाव खिलपंतीणं पत्तेयं पत्तेयं चउह्विसि चत्तारि तिसोपाणपडिरुचगा पण्णता, तेसि णं तिसोपाणपडिरुचगाणं अयमेयारुवे वण्णावासे पण्णते, तं जहा—वहरामया नेमा—
तोरणाणं छत्ताइछत्ता य णेयच्चा ।

१४४—उन प्रत्येक वापिकाओं यावत् कूपपंक्तियों की चारों दिशाओं में तीन-तीन सुन्दर सोपान बने हुए हैं । उन त्रिसोपान प्रतिरूपकों का वर्णन इस प्रकार है, जैसे—उनकी नेमे वज्ररत्नों की हैं इत्यादि तोरणों, ध्वजाओं और छत्रातिष्ठत्रों पर्यन्त इनका वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए ।

१. पाठान्तर—अप्येगइयामो खारोयगामो ।

१४५—कासि णं खुद्भाषुङ्गयाणं वाषीणं जाव बिलपतियाणं उत्थ-तथ तहि-तहि बहवे उष्णायपव्ययगा, निष्टुपव्ययगा, जगईपव्ययगा। दारुडजपव्ययगा, वगमेडया, वगमंचया, वगमत्तलया, वगपासायगा, उसहुा खुद्खुदुगा अंदोलगा पवर्खंदोलगा सव्वरथणामया अच्छा जाव पडिल्लवा ।

१४६—उन छोटी-छोटी वाषिकाओं यावत् कूपपत्तियों के भृथवर्ती प्रदेशों में बहुत से उत्पात पर्वत, नियतिपर्वत, जगतीपर्वत दारुपर्वत तथा कितने ही ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े दक्षमंडप, दक्षमंच, दक्षमालक, दक्षप्रासाद बने हुए हैं तथा कहीं-कहीं पर मनुष्यों और पक्षियों को झूलने के लिये झूले-हिँड़ोले पड़े हैं । ये सभी पर्वत आदि सर्वरत्नमय अत्यन्त निर्मल यावत् असाधारण रूप से सम्पन्न हैं ।

विवेचन—सूत्र में वाषिकाओं आदि के अन्तरालवर्ती स्थानों में आये हुए जिन पर्वतों आदि का वर्णन किया है, उनका स्पष्टाकरण इस प्रकार है—

उत्पातपर्वत—ऐसे पर्वत जहाँ सूर्यभि-विमानवासी देव-देवियाँ विविध प्रकार की चित्र-विचित्र कीङ्गाओं के निमित्त अपने-अपने उत्तर में वैकिय शरीरों की रचना करते हैं ।

नियतिपर्वत—इन पर्वतों पर सूर्यभि-विमानवासी देव-देवियाँ अपने-अपने भवधारणीय (मूल) वैकिय शरीरों से क्रीड़ारत रहते हैं ।

जगतीपर्वत—इन पर्वतों का आकार कोट-परकोटे जैसा होता है ।

दारुपर्वत—दारु अर्थात् काष्ठ-लकड़ी । लकड़ी से बने पर्वत जैसे आकार वाले कृत्रिम पर्वत ।

दक्षमंडप—स्फटिक मणियों से निमित्त मंडप अथवा ऐसे मंडप जिनमें फल्बारों द्वारा कृत्रिम वर्षी की रिमभिम-रिमभिम फुहारें बरसती रहती हैं ।

दक्षमालक—स्फटिक मणियों से बने हुए घर के ऊपरी भाग में बने हुए कमरे—मालिये ।

उत्पात पर्वतों आदि की शोभा

१४७—तेसु णं उष्णाय-पव्यएसु पवर्खंदोलएसु बहूइ हंसासणाइं गरुदासणाइं उष्णयासणाइं, पण्यासणाइं, दीहासणाइं, भद्रासणाइं पवर्खासणाइं, मगरासणाइं उसभासणाइं, सीहासणाइं, पञ्चासणाइं, दिलासोत्थियाइं^१ सव्वरथणामयाइं अच्छाइं जाव पडिल्लवाइं ।

१४८—उन उत्पात पर्वतों, पक्षिहिँड़ोलों आदि पर सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव मनोहर अनेक हंसासन (हंस जैसी आकृति वाले आसन) कोंचासन, गरुदासन, उष्ट्रासन (ऊपर की ओर उठे हुए आसन), प्रणतासन (नीचे की ओर झुके हुए आसन), दीघसिन (शैया जैसे लम्बे आसन) भद्रासन, पञ्चासन, मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन और दिशास्वस्तिक आसन (पक्षी, मगर, वृषभ, सिंह, कमल और स्वस्तिक के चित्रामों से सुशोभित अथवा तदनुरूप आकृति वाले आसन रखे हुए हैं ।

१. यथाक्रम से इन आसनों की नामबोधक संश्लेषणी इस प्रकार है—-

“हंसे कोंचे गरुडे उष्णय पणए य दीह भद्रे य ।

पञ्चे मञ्चे पञ्चे सीह दिशासोत्थि वारसमे ।”

वनखंडवतीं गृहों का वर्णन

१४७—तेसु णं वणसंडेसु तत्थ-तत्थ तहि-तहि देसे-देसे बहुते आलियधरगा, मालियधरगा, कथलियधरगा, लयाधरगा, अच्छणधरगा, पिच्छणधरगा, मज्जणधरगा, पसाहृणधरगा, गब्बधरगा, मोहृणधरगा, लालधरगा, जालधरगा, कुसुमधरगा, चित्तधरगा, गंधब्बधरगा, आपंसधरगा सब्बरयणामया अच्छा जाव पढ़िरुवा ।

१४७—उन वनखंडों में यथायोग्य स्थानों पर बहुत से आलिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह जैसे मंडप) मालिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह) कदलीगृह, लतागृह, आसनगृह, (विश्राम करने के लिये बंठने योग्य आसनों से युक्त घर) प्रेक्षागृह (प्राकृतिक शोभा के अवलोकन हेतु बने विश्रामगृह अथवा नाट्यगृह) मञ्जनगृह (स्नानघर) प्रसाद्वनगृह (शृंगार-साधनों से मुसजिजत स्थान), गर्भगृह (भीतर का घर), मोहनगृह (रतिश्रीड़ा करने योग्य स्थान). शालागृह, जाली वाले गृह, कुसुमगृह, चित्रगृह (चित्रों से सजिजत स्थान), गंधबंगृह (संगीत-नृत्य शाला), आदर्शगृह (दर्शणों से बने हुए भवन) सुशोभित हो रहे हैं। ये सभी गृह रत्नों से बने हुए अधिकाधिक निर्मल यावत् असाधारण मनोहर हैं ।

१४८—तेसु णं आलियधरगेसु जाव^१ आपंसधरगेसु तहि तहि घरएसु हंसासणाइं जाव^२ दिशा-सोबतिथासणाइं सब्बरयणामयाइं जाव पढ़िरुवाइं ।

१४९—उन आलिगृहों यावत् आदर्शगृहों में सर्वरत्नमय यावत् अतीव मनोहर हंसासन यावत् दिशा-स्वस्तिक आसन रखे हैं ।

वनखंडवतीं मंडपों का वर्णन

१४९—तेसु णं वणसंडेसु तत्थ-तत्थ ऐसे तहि तहि बहुते आलिमंडवगा, जूहियामंडवगा मलियामंडवगा, णवमालियामंडवगा, वासंतिमंडवगा, बहिद्वासुयमंडवगा, सूरिलियमंडवगा^३ तंबोलिमंडवगा, मुहियामंडवगा, णागलयामंडवगा, अतिमुत्तवलयामंडवगा, अफोयामंडवगा, मालुया-मंडवगा, अच्छा सब्बरयणामया जाव पढ़िरुवा ।

१५०—उन वनखंडों में विभिन्न स्थानों पर बहुत से जातिमंडप (जाई के कुंज), यूथिकामंडप (जूही की बेल के मंडप), मलिकामंडप, नवमलिकामंडप, वासंतीमंडप, दधिवासुका (वनस्पतिविशेष) मंडप, सूरिलिल (सूरजमुखी) मंडप, नागरबेलमंडप, मृद्दोकामंडप (अंगूर की बेल के मंडप), नागलता-मंडप, अतिमुक्तक (माघबीलता मंडप, अफोया मंडप और मालुकामंडप बने हुए हैं। ये सभी मंडप अत्यन्त निर्मल, सर्वरत्नमय यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर हैं ।

विवेचन—लता और बेलों से बने इन मंडपों में बहुत सी सुगंधित पुष्पों वाली लताएँ और बेलें तो प्रसिद्ध हैं, परन्तु कुछ एक नामों के बारे में जानकारी नहीं मिलती है। जैसे दधिवासुका

१. देखें सूत्र संख्या १४७

२. देखें सूत्र संख्या १४६

३. पाठान्तर—सूरलिल, मूरमलि ।

अप्पोया मालुका । लेकिन प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी लतायें प्रायः सुगंधित पुष्पों वाली हीनों चाहिये ।

१५०— तेसु णं जातिमंडवएसु जाव मालुयामंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा हंसासणसंठिया जाव दिसासोवत्थियासणसंठिया, अप्णे य बहवे वरसयणासणविसिलुसंठाणसंठिया^१ पुढविसिलापट्टगा पण्णता समाणाउसो । आईणग-रुय-झूर-णवर्णीय-तूलफासा, सञ्चरयणाभया अच्छा जाव पाडिरुवा ।

१५०— हैं आयुष्मन् अमणो ! उन जातिमंडपों यावत् मालुकामंडपों में कितने ही हंसासन सदृश आकार वाले यावत् कितने ही क्रोंचासन, कितने ही गरुडासन, कितने ही उम्रतासन, कितने ही प्रणतासन, कितने ही दीघासन, कितने ही भद्रासन, कितने ही पद्मासन, कितने ही मकारासन, कितने ही वृषभासन, कितने ही सिंहासन, कितने ही पद्मासन, कितने ही दिशा स्वस्तिकासन जैसे आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक तथा दूसरे भी बहुत से श्रेष्ठ शयनासन (शेया, पलंग) सदृश विशिष्ट आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक रखे हुए हैं । ये सभी पृथ्वीशिलापट्टक चर्मनिमित वस्त्र अथवा मृगछाला, रुई, बूर, नवनीत, तूल, सेमल या आक की रुई के स्पर्श जैसे सुकोमल, कमनीय, सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव रमणीय हैं ।

१५१— तस्थ णं बहवे वेभाणिया देवा य देवीओ य आसर्वति, सर्वति, चिट्ठति, निसीर्वति, तुयट्ठति, रमति, ललंति, क्लोलंति, किट्टति, मोहेंति, पुरा पोराणाणं सुच्चिरणाणं सुपरिवक्ताणं सुभाण कडाण कम्माण कल्लाणं फलविवागं पच्चणुद्भवमाणा विहरति ।

१५१— उन हंसासनों आदि पर बहुत से सूर्याभिमानवासी देव और देवियाँ सुखपूर्वक बैठते हैं, सोते हैं, शरीर को लम्बा कर लेटते हैं, विश्राम करते हैं, ठहरते हैं, करबट लेते हैं, रमण करते हैं, केलिकीड़ा करते हैं, इच्छानुसार भोग-विलास भोगते हैं, मनोविनोद करते हैं, रासलीला करते हैं और रतिकीड़ा करते हैं । इस प्रकार वे अपने-अपने सुपुरुषाथं से पुर्वोपाजित शुभ, कल्याणमय शुभफलप्रद, मंगलरूप पुण्य कर्मों के कल्याणरूप फलविवाक का अनुभव करते हुए समय बिताते हैं ।

वनखण्डवतीं प्रासादवतंसकं

१५२— तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्जदेसभाए पत्तेयं-पत्तेयं पासायबडेसगा पण्णता, तेण पासायबडेसगा पंच जोयणसयाइं उड्डं उच्चत्तेण, अड्डाइजाइं जोयणसयाइं विक्खंभेण, अबभुग्य-मूसियपहसिया इव तहेव बहुसमरमणिञ्जभूमिमागो, उल्लोशो, सीहासणं सपरिवारं । तस्थ णं चत्तारि देवा महिद्विया जाव (महजुङ्गया, महाब्ला, महासुखा महाणुभावा) पत्तिओदमट्टिया परिवसंति, तं जहा असोए सत्तपणे चंपए चूए ।

१५२— उन वनखण्डों के मध्यातिमध्य भाग में (बीचोबीच) एक-एक प्रासादावतंसक (प्रासादों के शिरोभूषण रूप श्रेष्ठ प्रासाद) कहे हैं ।

ये प्रासादावतंसक पौच सौ योजन ऊचे और अद्वाई सौ योजन चौड़े हैं और अपनी उज्ज्वल प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं । इनका भूमिभाग अतिसम एवं रमणीय है । इनके चंदेवा, सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित सिंहासन आदि का वर्णन पूर्ववत् कर लेना चाहिए ।

१. पाठान्तर—मांसलसुत्रहुविसिलुसंठाणसंठिया ।

इन प्रासादावतंसकों में महान् ऋद्धिशाली यावत् (महाद्युतिसम्पन्न, महाबलिष्ठ, अतीव सुखसम्पन्न और महाप्रभावशाली) एक पल्योपम की स्थिति वाले चार देव निवास करते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अशोकदेव, सप्तपण्डेव, चंपकदेव और आञ्ज देव।

विवेचन—सूत्र में मात्र सूर्यभिविमान के चतुर्दिग्बर्तीं बनखंडों में निवास करने वाले देवों के नाम और उनकी आयु का उल्लेख किया है। इस विषय में ज्ञातव्य यह है—

ये चारी देव अपने-अपने नाम वाले बनखंड के स्वामी हैं तथा सूर्यभिदेव के सदृश महान् ऋद्धिपम्पन हैं एवं अपने-प्रपने सामानिक देवों, सपरिवार अग्रमहिषियों, तीन परिषदाओं, सप्त अनीकों, सेनाओं और सेनापतियों, आत्मरक्षक देवों का आधिपत्य, स्वामित्व आदि करते हुए नृत्य, गीत, नाटक और वाद्यघोषों के साथ विपुल भोगोपभोगों का भोग करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं।

इन बनखंडाधिपति देवों की आयु का कालप्रमाण बतलाने के लिए 'पल्योपम' शब्द का प्रयोग किया है। जो अतीदीर्घ काल का बोधक है।

काल अनन्त है और इसमें से जिस समय-अवधिकी दिन, मास, और वर्षों के रूप में गणना की जा सकती है, उसके लिए तो जैन वाङ्मय में बड़ी, चंटा, पूर्वीं पूर्व, आदि शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त संज्ञायें निश्चित की हैं। परन्तु इसके बाद जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि उसकी गणना वर्षों में न की जा सके, वहाँ उपमाप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् उसका बोध उपमाप्रमाण द्वारा कराया जाता है। उस उपमाकाल के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। प्रस्तुत में पल्योपम का उल्लेख होने से उसका आशय स्पष्ट करते हैं।

पल्य या पल्ल का अर्थ है कुआ अथवा धान्य को मापने का पात्र-विशेष। उसके आधार या उसकी उपमा से की जाने वाली कालगणना की अवधि पल्योपम कहलाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धारपल्योपम, २. अद्वापल्योपम और ३. क्षेत्रपल्योपम। ये तीनों भी प्रत्येक बादर^१ और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

उद्धारपल्योपम—उत्सेधांगुल^२ द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-बनाकर उसमें एक दिन से लेकर साल दिन तक की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्यों के बालाओं को इतना ठसाठस भरें कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। इस प्रकार से भरे हुए उस कुए में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र-बालखंड निकाला जाये तो निकालते निकालते जितने समय में वह कुआ खाली हो जाये उस काल-परिमाण को उद्धारपल्योपम कहते हैं। उद्धार का अर्थ है निकालना। अतएव बालों के उद्धार या निकाले जाने के कारण इसका उद्धारपल्योपम नामकरण किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन बादर उद्धार-पल्योपम का है। अब सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम का स्वरूप बतलाते हैं—

१. अनुयोग द्वार में सूक्ष्म और व्यवहारिक ये दो भेद किये हैं।

२. शाठ यवमध्य का उत्सेधांगुल होता है।

ऊपर बादर उद्धार-पल्योपम को समझाने के लिए कुए में जिन बालाओं का संकेत किया है। उनमें से प्रत्येक बालाश्र के बुद्धि के द्वारा असंख्यात खंड-खंड करके उन सूक्ष्म खंडों को पूर्ववर्णित कुए में ठसाठस भरा जाये और फिर प्रतिसमय एक-एक खंड को उस कुए से निकाला जाये। ऐसा करने पर जितने काल में वह कुआ निःशेष रूप से खाली हो जाये, उस समयावधि को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। इसका कालप्रमाण संख्यात करोड़ वर्ष है। इस सूक्ष्म उद्धारपल्योपम से द्वीप और समुद्रों की गणना की जाती है।

अद्वापल्योपम- अद्वा शब्द का अर्थ है काल या समय। प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित पल्योपम या अद्वापल्योपम है है। इसका उपर्योग चतुर्गति के जीवों की आयु और कर्मों की स्थिति बर्गरह को जानने में किया जाता है।

इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—पूर्वोक्त प्रमाण बाले कुए की बालाओं से ठसाठस भरने के बाद सौ-सौ वर्ष के अनन्तर एक-एक बालाश्र को निकाला जाये और इस प्रकार से निकालते-निकालते जितना काल लगे, निकालने पर कुआ खाली हो जाये, उतने काल प्रमाण को बादर अद्वा पल्योपम कहते हैं।

ऊपर कहे गये बादर अद्वापल्योपम के लिए जो बालाश्र लिए गये हैं, उनके बुद्धि द्वारा असंख्यात अदृश्य खंड करके कुए को ठसाठस भरा जाये और फिर प्रति सौ वर्ष बाद एक खंड को निकाला जाये एवं इस प्रकार से निकालते-निकालते जब कुआ खाली हो जाये और उसमें जितना समय लगे, उतने कालप्रमाण को सूक्ष्म अद्वापल्योपम कहते हैं।

क्षेत्रपल्योपम—उद्धार पल्योपम के प्रसंग में जिस एक योजन लम्बे-चौड़े और गहरे कुए का उल्लेख है उसको पूर्व की तरह एक से सात दिन तक के भोगभूमिज के बालाओं से ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करें, उनमें से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट दोनों प्रकार के सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके उतने समय के प्रमाण को सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपमकाल कहते हैं। इसका काल भी असंख्यात उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी प्रमाण है। जो बादरक्षेत्र पल्योपम की अपेक्षा असंख्यात गुना अधिक जानना चाहिए। इसके द्वारा दृष्टिबाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र और प्रबन्धनसारोद्वार में पल्योपम का विस्तार से विवेचन किया गया है।

दिगम्बर साहित्य में पल्योपम का जो वर्णन किया गया है, वह उक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्रपल्योपम नाम का कोई भेद नहीं है, और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद ही किये हैं। वहीं पल्योपम के तीन प्रकारों के नाम इस प्रकार हैं—१. व्यवहारपल्य, २. उद्धारपल्य

उपकारिकालयन का वर्णन]

और ३. अद्वापल्य । इनमें से व्यवहार पल्य का इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्वारपल्य और अद्वापल्य की निष्पत्ति होती है । उद्वारपल्य के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या और अद्वापल्य के द्वारा जीवों की आयु आदि का विचार किया जाता है ।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार में इनका विशद रूप में विवेचन किया गया है ।

उपकारिकालयन का वर्णन

१५३—सूरियाभस्स एं देवविमाणस्स अंतो बहुसमरभणिङ्गे भूमिभागे पण्णते, तंजहा—वणसंड-
विहृणे लाख गहने वेसाणिया देना देवीओ य आस्यन्ति जाव विहरंति ।

तस्स एं बहुसमरभणिङ्गस्स भूमिभागस्स बहुमज्जहदेसे एस्थ एं महेगे उवगारियालयणे पण्णते, एगं जोयणसप्तसहस्रं आयामविक्षंभेण, तिण्णि जोयणसयसहस्राइं सोलस सहस्राइं बोण्णि य सत्ताखीसं जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्टाखोसं च धणुलयं सेरस य अंगुलाइं अद्वंगुलं च किञ्चिविसेसूणं परिवलेषेण, जोयणं वाहुल्लेणं सध्वजं बूणयामए अच्छें जाव पड़िल्लवे ।

१५३—सूर्यभि नामक देवविमान के अंदर अत्यन्त समतल एवं अतीव रमणीय भूमिभाग है । शेष बहुत से वैमानिक देव और देवियों के बैठने से लेकर विचरण करने तक का वर्णन पूर्ववत् कर लेना चाहिए । किन्तु यहाँ वनखंड का वर्णन छोड़ देना चाहिए ।

उस अतीव सम रमणीय भूमिभाग के बीचों-बीच एक उपकारिकालयन बना हुआ है । जो एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है और उसको परिधि (कुल क्षेत्र का घेराव) तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस एक सौ अट्टाइस धनुष और कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल है । एक योजन मोटाई है । यह विशाल लथन सर्वात्मना (पूरा का पूरा) स्वर्ण का बना हुआ, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव रमणीय है ।

विवेचन—उपकारिकालयन—प्रशासनिक कार्यों की व्यवस्था के लिए निर्धारित सचिवालय सरीखे स्थान विशेष को कहना चाहिये—‘सौधोऽस्त्री राजसदनम् उपकार्योपकारिका’ (अमरकोश द्वि. का. पुरवर्ग श्लोक १०, हैम अभिधान का. ४ श्लोक ५९) । किन्तु ‘पाह्वासदमहण्णवो’ में उवगारिय-लयण (लेण) इस प्रकार समाप्त पद मानकर उवगारिया का अर्थ प्रासाद आदि की पीठिका और लयण (लेण) का अर्थ गिरिवर्ती पाषाण-गृह बताया है । यहाँ के वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रासाद आदि की पीठिका अर्थ गहण किया है ।

१५४—से एं एगाए पउमवरवेहयाए एगेण य वणसंडेण य सध्वलो समंता संपरिषिखते ।

१५४—वह उपकारिकालयन सभी दिवां-विदिशाओं में—सब और से एक पद्मवरवेदिका और एक वनखंड (रथान) से विरा हुआ है ।

पद्मवरवेदिका का वर्णन

१५५—सा एं पउमवरवेहया अद्वजीयण उतु उच्चत्तेण, पञ्च धणुसयाइं विक्षंभेण उवकारिय-लेणसमा वस्त्रिक्षेषेण । तीसे एं पउमवरवेहयाए इमेयारुवे वण्णावासे पण्णते, तंजहा वयरामथा णिम्मा-

रिद्वामया पतिद्वाणा वेहलियामया . खंभा सुवर्ण-रूपमया फलया, नाणामणिमया कलेवरसंघाडगा णाणामणिमया रूदा णाणामणिमया रूदसंघाडगा अंकामया पवखा, पवखबाहाओ, जोहरसामया बंसा बंसकवेललुयाओ, रथयामईओ पट्टियाओ जायरुदमईओ ओहाडणीओ बहरामईओ उवरियुच्छणी, सब्बरयणामए अच्छायणे ।

साणं पउमवरवेहया एगमेगेण हेमजालेण, ए०^१ गवकुञ्जालेण, ए० खिद्धिणीजालेण, ए० धंटाजालेण, ए० मुत्ताजालेण, ए० मणिजालेण, ए० कण्मजालेण, ए० पउमजालेण सरबतो समंता संपरिखिता, तेण जाला तवणिज्जलंबूसगा जाव^२ चिद्वृति । तीसे णं पउमवरवेहयाए तत्थ-तत्थ-देसे तर्हि तर्हि बहवे हृथसंघाडा जाव^३ उसभसंघाडा सब्बरयणामया अच्छा जाव पड़िरुद्वा पासादीया जाव बीहीओ पंतोयो मिहुणाणि लयाओ ।

१५५.—वह पद्मवरवेदिका ऊचाई में आधे योजन ऊची, पांच सौ धनुष चौड़ी और उपकारिकालयन जितनी इसकी परिधि है ।

उस पद्मवरवेदिका का वर्णन इस प्रकार का किया गया है, जैसे कि वज्ररत्नमय (इसकी नेम है) रिष्टरत्नमय इसके प्रतिष्ठान—मूल पाद हैं। वैद्यरत्नमय इसके स्तम्भ हैं)। स्वर्ण और रजत-मय इसके फलक—पाटिये हैं। लोहिताक्ष रत्नों से बनी इसकी सूचियाँ—कीले हैं। विविध मणिरत्नमय इसका कलेवर—दाँचा है तथा डस्का कलेवर संघात—जीतरी-बाहरी ढाँचा विविध प्रकार की मणियों से बना हुआ है। अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से इस पर चित्र बने हैं। नानामणि-रत्नों से इसमें रूपक संघात—बैल-बूटों, चित्रों आदि के समूह बने हैं। अंक रत्नमय इसके पक्ष—सभी हिस्से हैं और अंक रत्नमय ही इसके पक्षबाहा—प्रत्येक भाग हैं। ज्योतिरस रत्नमय इसके वंश—बांस, बला और बंशाकवेललुक (सीधे रखे बांसों के दोनों ओर रखे तिरछे बांस एवं कबेलू) हैं। रजतमय इनकी पट्टियाँ (बांसों को लपेटने के लिये ऊपर नीचे लगी पट्टियाँ—लागें) हैं। स्वर्णमयी अवधाटनियाँ (दैनकनी) और वज्ररत्नमयी उपरिप्रोच्छनी (नरियाँ) हैं। सर्वरत्नमय आच्छादन (तिरपाल) हैं।

वह पद्मवरवेदिका सभी दिशा-विदिशाओं में चारों ओर से एक-एक हेमजाल (स्वर्णमय माल्यसमूह) से जाल (गवाक्ष की आकृति के रत्नविशेष के माल्यसमूह) से, किकणी (धूवरु) धंटिका, भोती, मणि, कनक (स्वर्ण-विशेष) रत्न और पद्म (कमल) की लंबी-लंबी मालाओं से परिवेष्टित है अर्थात् उस पर लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं।

ये सभी मालायें सोने के लंबूसकों (गोंद की आकृति जैसे ग्राभूषणविशेषों, मनकों) आदि से अलकृत हैं।

उस पद्मवरवेदिका के यथायोग्य उन-उन स्थानों पर अवधारणा (समान आकृति—संस्थान वाले अश्वयुगल) यावत् वृषभयुगल सुशोभित हो रहे हैं। ये सभी सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् प्रतिरूप, प्रासादिक—भन को प्रफुल्लित करने वाले हैं यावत् इसी प्रकार इनकी वीथियाँ, पंक्तियाँ, मिथुन एवं लतायें हैं।

१. 'ए.' अक्षर 'एगमेगेण' पद का दर्शक है।

२. देखें सूत्र संख्या ४९ ।

३. देखें सूत्र संख्या १३० ।

१५६—से केणदुण्णं भंते ! एवं वुच्चति पउमवरवेइया पउमवरवेइया ?

१५६—गीतम् स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—हे भद्रन्त ! किस कारण कहा जाता है कि यह पद्मवरवेदिका है, पद्मवरवेदिका है ? अर्थात् इस वेदिका को पद्मवरवेदिका कहने का क्या कारण है ?

१५७—गोयमा ! पउमवरवेइयाए णं तत्थ-तत्थ देसे तहि-तहि वेइयाहासु य वेइयफलतेसु य वेइयपुडंतरेसु य खंभेसु, खंभवाहासु खंभसीसेसु, खंभपुडंतरेसु, सूईसु, सूईमुखेसु, सूईफलएसु, सूईपुडंतरेसु, पक्खेसु, पक्खवाहामु, पक्खपेरतेसु, पक्खपुडंतरेसु, बहुयाइं उपलाइं-पउमाइं-कुमुयाइं णलिणाति-सुभगाइं-सोगंधियाइं-पुडरीयाइं-महापुडरीयाणि-सयवत्ताइं-सहस्रवत्ताइं सब्दरयणासयाइं श्रच्छाइं पडिलवाइं महया वासिक्कछत्तसमाणाइं पण्णत्ताइं समणाउसो ! से एषणं अदुण्णं गोयमा ! एवं वुच्चइ पउमवरवेइया 'पउमवरवेइया' ।

१५७—भगवान् ने उत्तर दिया—हे गीतम् ! पद्मवर-वेदिका के आस-पास की (समीपवर्ती) भूमि में, वेदिका के फलकों—पाटियों में, वेदिकायुगल के अन्तरालों में, स्तम्भों, स्तम्भों की बाजुओं, स्तम्भों के शिखरों, स्तम्भयुगल के अन्तरालों, कीलियों, कीलियों के ऊपरीभागों, कीलियों से जुड़े हुए फलकों, कीलियों के अन्तरालों, पक्षों (स्थान विशेषों), पक्षों के प्रान्त भागों और उनके अन्तरालों आदि-आदि में वधकाल के बरसते मेघों से बचाव करने के लिए छत्राकार—जैसे अनेक प्रकार के बड़े-बड़े विकसित, सर्व रहनमय स्वच्छ, निर्मल अतीव सुन्दर, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक पुडरीक महापुडरीक, शतपथ और सहस्रपत्र कमल शोभित हो रहे हैं ।

इसीलिये हे आयुष्मन् श्रमण गीतम् ! इस पद्मवरवेदिका को पद्मवरवेदिका कहते हैं ।

१५८—पउमवरवेइया णं भंते । कि सासया, असासया ?

गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया ।

से केणदुण्णं भंते ! एवं वुच्चइ सिय सासया, सिय असासया ?

गोयमा ! द्वचदुथाए सासया, वशपञ्जवेहि, गंधपञ्जवेहि, रसपञ्जवेहि, फासपञ्जवेहि असासया, से एषणदुण्णं गोयमा ! एवं वुच्चति सिय सासया, सिय असासया ।

पउमवरवेइया णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! ण कयावि णासि, ण कयावि णत्थि, ण कयावि न मविससइ, भूर्वि च हवह य, भविससइ य, ध्रुवा णियया सासया अक्खया अवद्विया णिच्छा पउमवर वेइया ।

१५९—हे भद्रन्त ! वह पद्मवरवेदिका शाश्वत है अथवा अशाश्वत है ।

हे गीतम् ! (किम् अपेक्षा) शाश्वत नित्य भी है और (किसी अपेक्षा) अशाश्वत भी है ।

भगवन् ! किसी कारण आप ऐसा कहते हैं कि (किसी अपेक्षा) वह शाश्वत भी है और (किसी अपेक्षा) अशाश्वत भी है ?

हे गौतम ! द्रव्याधिकनय की अपेक्षा वह शाश्वत है परन्तु वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा अशाश्वत है। इसी कारण हे गौतम ! यह कहा है कि वह पद्मवरवेदिका शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।

हे भद्रन् ! काल की अपेक्षा वह पद्मवरवेदिका कितने काल पर्यन्त—कब तक रहेगी ?

हे गौतम ? वह पद्मवरवेदिका पहले (भूतकाल में) कभी नहीं थी, ऐसा नहीं है, अभी (वर्तमान में) नहीं है, ऐसा भी नहीं है और आगे (भविष्य में) नहीं रहेगी ऐसा भी नहीं है, किन्तु पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। इस प्रकार त्रिकालावस्थायी होने से वह पद्मवरवेदिका ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पद्मवरवेदिका की शाश्वतता विषयक गौतम स्वामी की जिज्ञासा का समाधान द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन दो दृष्टियों (नयों से) किया गया है।

भगवान् ने पद्मवरवेदिका को द्रव्याधिक दृष्टि से शाश्वत बताने के साथ वर्णादि पर्यायों के परिवर्तनशील होने से अशाश्वत बताया है क्योंकि द्रव्य... इव का यही स्मारक है। नित्य शाश्वत ध्रुव होते हुए भी द्रव्य में भावात्मक-पर्यायात्मक परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है। इन्हीं परिवर्तनों को पर्याय कहते हैं और पर्याये अशाश्वत होते हैं।

पर्याये अवश्य ही प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती हैं परन्तु प्रदेशों के लिए यह नियम नहीं है। किन्तु द्रव्यों के प्रदेश नियत भी होते हैं और किन्हीं के अनियत भी। जैसे कि जीव के प्रदेश सभी देश और काल में नियत हैं, वे कभी घटते-बढ़ते नहीं हैं। किन्तु पुद्गलद्रव्य के प्रदेशों का नियम नहीं है, उनमें न्यूनाविकता होती रहती है।

पद्मवरवेदिका पौद्गलिक है और पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील-अशाश्वत है किन्तु पुद्गल द्रव्य होते हुए भी अनियत प्रदेशी नहीं है।

इन सब विशेषताओं को सूत्र में ध्रुवा, ज्ञिया, सासया, अक्षया, अव्यया, अवट्टिया—ध्रुव नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित पदों से स्पष्ट किया है।

१५९—सा णं पञ्चवरवेद्या एगेण वर्णसंडेणं सब्दओ संपरिविखता ।

से णं वर्णसंडे वेसूणाऽहं दो जोयणाऽहं चक्रवालविक्षिंभेण उवयारियालेणलमे परिक्लेवेण, वर्णसंडवण्णश्चो भाणितव्यो जाव विहरंति ।

१५९—वह पद्मवरवेदिका चारों ओर—सभी दिशा-विदिशाओं में—एक वनखण्ड से परिवृष्टि—चिरी हुई है।

उस वनखण्ड का चक्रवालविक्षिभ (गोलाकार-चौड़ाई) कुछ कम दो योजन प्रमाण है तथा उपकारिकालयन की परिधि जितनी उसकी परिधि है। वहाँ देव-देवियाँ विचरण करती हैं, यहाँ तक वनखण्ड का वर्णन पूर्ववत् यहाँ कर लेना चाहिए।

विवेचन—सूत्र संख्या १३६-१५१ में वनखण्ड का विस्तार से वर्णन किया है। उसी वर्णन को यहाँ करने का संकेत ‘वर्णसंडवण्णश्चो भाणितव्यो जाव विहरंति’ पद से किया है। संक्षेप में उक्त वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

यह बनखंड चारों ओर से एक परकोटे से घिरा हुआ है तथा वृक्षों की सघनता से हरा-भरा अत्यन्त शीतल और दर्शकों के मन को सुखप्रद है। बनखंड का भूभाग अत्यन्त सम तथा अनेक प्रकार की मणियों और तृणों से उपशोभित है।

इस बनखंड में स्थान-स्थान पर अनेक छोटी बड़ी बाबड़ियाँ, पुष्करणियाँ, गुँजालिकायें आदि बनी हैं। इन सबके तट रजतमय हैं और तल भाग में स्वर्ण-रजतमय बालुका विक्षी हुई है। कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुँडरीक आदि विविध जाति के कमलों से इनका जल आच्छादित है।

इन वापिकाओं आदि के अन्तरालवर्ती स्थानों में मनुष्यों और पक्षियों के झूलने के लिये झूले—हिंडोले पड़े हैं और बहुत से उत्पातपर्वत, नियतिपर्वत, दारुपर्वत, दक्मंडप, दक्मालक दक्मंच बने हुए हैं।

इन बनखण्डों में कहीं-कहीं शालिगृह, मालिगृह, कदलीगृह, लतागृह, मंडप आदि बने हैं और विश्राम करने के लिये जिनमें हँसासन आदि अनेक प्रकार के आसन तथा शिलापटक रखे हैं और जहाँ बहुत से देव-देवियाँ आ-आकाश विविध शक्ति की शिलाओं करते हुए पुरोपार्जित पुण्यकर्मों के कलविपाक को भोगते हुए आनन्दपूर्वक विचरण करते हैं।

१६०—तस्य एवं उवयारियालयणस्य चत्तारि त्रिसोपाणपद्मिलवगा पण्डता, बण्णमो, तोरणा, शया, छत्ताइच्छता ।

तस्य एवं उवयारियालयणस्य उधरि, बहुसमरमणिज्ञे भूमिभावे पण्डते जाब मणीणं फासो ।

१६०—उस, उपकारिकालयन की चारों दिशाओं में चार त्रिसोपानप्रतिरूपक (तीन-तीन सीढ़ियों की पंक्ति) बने हैं। यान विमान के सोपानों के समान इन त्रिसोपान-प्रतिरूपों का वर्णन भी तोरणों, छवियों, छत्रातिक्रमों आदि पर्यन्त यहाँ करना चाहिये।

उन उपकारिकालयन के ऊपर अतिसम, रमणीय भूमिभाग है। यानविमानवत् मणियों के स्पर्शपर्यन्त इस भूमिभाग का वर्णन यहाँ करना चाहिये।

विवेचन -उपकारिकालयन की त्रिसोपान-पंक्तियों और भूमिभाग का वर्णन यानविमानवत् करने की सूचना प्रस्तुत सूत्र में दी गयी है। संक्षेप में उक्त वर्णन इस प्रकार है—

इत त्रिसोपानों की नेम वज्ररत्नों से बनी हुई हैं। रिष्टरत्नमय इनके प्रतिष्ठान (पैर रखने के स्थान) हैं। वैद्यर्यरत्नों से बने इनके स्तम्भ हैं और फलक—पाटिये स्वर्णरजतमय हैं। नाना मणिमय इनके अवलंबन और कटकड़ा हैं। मन को प्रसन्न करने वाले अतीव मनोहर हैं।

इन प्रत्येक त्रिसोपान-पंक्तियों के आगे अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से बने हुए बेलबूटों “आदि से सुशोभित तोरण बन्धे हैं और तोरणों के ऊपरी भाग स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगलों एवं वज्र-रत्नों से निर्मित और कमलों जैसी मुरभिगंध से सुगंधित, रमणीय चामरों से शोभित हो रहे हैं। इसके साथ ही अत्यन्त शोभनीक रत्नों से बने हुए छत्रातिक्रम, पताकायें, घंटा-युगल एवं उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक पुँडरीक, महापुँडरीक आदि कमलों के भूमके भी उन तोरणों पर लटक रहे हैं आदि।

उस उपकारिकालयन का भूमिभाग आलिंग-पुष्कर, मृदंगपुष्कर, सरोवर, करतल, चन्द्र-मंडल, सूर्यमंडल आदि के समान अत्यन्त सम और रमणीय है।

उस भूभाग में अंजन, खंजन, सघन मेघ- घटाश्चों आदि के कृष्ण वर्ण से, भृगकीट, भृगपञ्च, नीलकमल, नील-शशोकवृक्ष आदि के नील वर्ण से, प्रातःकालीन सूर्य, पारिजात पुष्प, हिंगलुक, प्रबाल आदि के रक्त वर्ण से, स्वर्णचंपा, हरताल, चिकुर, चंपाकुसुम आदि के पीत वर्ण से, और शंख, चन्द्रमा, कुमुद आदि के श्वेत वर्ण से भी अधिक श्रेष्ठ कृष्ण आदि वर्ण वाली मणियाँ जड़ी हुई हैं।

वे सभी मणियाँ इलायची, चंदन, अगर, लवंग आदि सुमधुरित पदार्थों से भी अधिक सुरभि गंध वाली हैं और बूर-रुई, मक्खन, हंसगर्भ नामक रुई विशेष से भी अधिक सुकोमल उनका स्पर्श है।

मुख्य प्रासादावतंसक का वर्णन

१६१—तस्त्वं षण्डुभरमणिज्जस्त्वं भूमिभागस्त्वं बहुमज्जदेसभाए एत्थं णं महेऽगे मूलपासाय-
वडेसए पण्डते ।

से णं मूलपासायवडिसए पंच जोयणसयाइं उद्धुं उच्चत्तेण, अङ्गाहज्जाइं जोयणसयाइं
विक्खंभेण, अङ्गभुग्यमूसिय-वण्णओ, भूमिभागो उल्लोओ सोहासणं सपरिवारं भाणियच्चं, अङ्गुमंगलगा
जया छत्ताहिच्छत्ता ।

१६१—इस अतिसम रमणीय भूमिभाग के अतिमध्यदेश में एक विशाल मूल-मुख्य प्रासादावतंसक (उत्तम महल) है।

वह प्रासादावतंसक पांच सौ योजन ऊँचा और अढाई सौ योजन चौड़ा है तथा अपनी फैल रही प्रभा से हँसता हुआ प्रतीत होता है, आदि वर्णन करते हुए उस प्रासाद के भीतर के भूमिभाग, उल्लोक—वंदेवा, परिवार रूप अन्य भद्रासनों आदि से सहित सिहासन, आठ मंगल, ध्वजाओं और छत्रातिछ्वजों का यहाँ कथन करना चाहिए।

१६२—से णं मूलपासायवडेसगे अण्णेहि चउहि पासायवडेसएहि तयद्धु उच्चत्तप्यमाणमेत्तेहि
सव्वतो समंता संपरिखिते, ते णं पासायवडेसगा अङ्गाहज्जाइं जोयणसयाइं उद्धुं उच्चत्तेण, पण्डीस
जोयणसयं विक्खंभेण जाव वण्णओ ।

ते णं पासायवडिसया अण्णेहि चउहि पासायवडिसएहि तयद्धु उच्चत्तप्यमाणमेत्तेहि सव्वत्रे
समंला संपरिखिता । ते णं पासायवडेसया पण्डीसं जोयणसयं उद्धुं उच्चत्तेण बासट्टु जोयणाइं
अङ्गजोयणं च विक्खंभेण अङ्गभुग्यमूसिय वण्णओ, भूमिभागो उल्लोओ सोहासणं सपरिवारं भाणियच्चं
अङ्गुमंगलगा जया छत्तातिच्छत्ता ।

ते णं पासायवडेसगा अण्णेहि चउहि पासायवडेसएहि तद्धु उच्चत्तप्यमाणमेत्तेहि सव्वतो समंता
संपरिखिता, ते णं पासायवडेसगा बासट्टु जोयणाइं अङ्गजोयणं च उद्धुं उच्चत्तेण एकत्रीसं जोयणाइं
कोसं च विक्खंभेण, वण्णओ, उल्लोओ सोहासणं सपरिवारं पासाय ० उबरि अङ्गुमंगलगा जया
छत्तातिच्छत्ता ।

१६२—वह प्रधान प्रासादावतंसक सभी चारों दिशाओं में ऊँचाई से अपने से आधे ऊँचे अन्य चार प्रासादावतंसकों से परिवेष्टित है। अर्थात् उसकी चारों दिशाओं में और दूसरे प्रासाद बने हुए हैं। ये चारों प्रासादावतंसक ढाई सौ योजन ऊँचे और चौड़ाई में सबा सौ योजन चौड़े हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

ये चारों प्रासादावतंसक भी पुनः चारों दिशाओं में अपनी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से घिरे हैं। ये प्रासादावतंसक एक सौ पच्चीस योजन ऊँचे और साढ़े बासठ योजन चौड़े हैं तथा ये चारों और फैल रही प्रभा से हँसते हुए-से दिखते हैं, यहाँ से लेकर भूमिभाग, चंदेवा, सपरिवार सिंहासन, आठ-आठ मंगल, छवजाओं, छात्रातिथ्यों से सुशोभित हैं, पर्यन्त इनका वर्णन करना चाहिए।

ये प्रासादावतंसक भी चारों दिशाओं में अपनी ऊँचाई से आधी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से परिवेष्टित हैं। ये प्रासादावतंसक साढ़े बासठ योजन एँचे और इकतीस योजन एक कोस चौड़े हैं। इन प्रासादों के भूमिभाग, चंदेवा, सपरिवार सिंहासन, ऊपर आठ मंगल, छवजाओं छात्रातिथ्यों आदि का वर्णन भी पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रधान प्रासादावतंसक के आस-पास की चारों दिशाओं सम्बन्धी रचना का वर्णन किया है। वह प्रधान प्रासाद अपनी आस-पास की रचना के बीचों-बीच है और चारों दिशाओं में बने अन्य चार प्रासादों को अपेक्षा सबसे अधिक ऊँचा और लम्बा-चौड़ा है तथा शेष पार्श्ववर्ती प्रासाद अपने-अपने से पूर्व के प्रासादों की अपेक्षा ऊँचाई और चौड़ाई में उत्तरोत्तर आधे-आधे हैं। अर्थात् सूल प्रासादावतंसक जी जोयणाइं विकल्पभेण, बावत्तरि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण, अपेक्षमभ...जाव' अच्छरगण॑... पासादीया।

सुधर्मी सभा का वर्णन—

१६३—तस्य एं मूलपासायवडेसयस्स उत्तरपुरत्थिमेण एस्य एं सभा सुहस्मा पण्णता, एगं जोयणसयं आयामेण, पण्णासं जोयणाइं विकल्पभेण, बावत्तरि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण, अपेक्षमभ...जाव' अच्छरगण॑... पासादीया।

१६३—उस प्रधान प्रासाद के इशान कोण में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और बहुतर योजन ऊँची सुधर्मी नामक सभा है। यह सभा अनेक सैकड़ों खंभों पर सन्निविष्ट यावत् अप्सराओं से व्याप्त अतीव मनोहर है।

१६४—सभाएं सुहस्माएं तिदिसि तबो दारा पण्णता तंजहा—पुरत्थिमेण दाहिणेण, उत्तरेण।

ते एं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण, अटु जोयणाइं विकल्पभेण, तावत्तियं चेब पवेसेण, सेया वरकणगयूभियागा जाव॑ वणमालाओ। तेसि एं दाराणं उबरि अटुहु मञ्जलगा स्या ध्यसाइछुता।

तेसि एं दाराणं पुरओ पत्तयं पत्तयं मुहमण्डवे पण्णते, ते एं मुहमण्डवा एगं जोयणसयं आयामेण, पण्णासं जोयणाइं विकल्पभेण, साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण, वण्मओ सभाएं सरिसो।

तेसि एं मुहमण्डवाणं तिदिसि ततो दारा पण्णता, तंजहा पुरत्थिमेण, दाहिणेण, उत्तरेण। ते एं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेण, अटु जोयणाइं विकल्पभेण, तावइयं चेब पवेसेण, सेया

वरकणमधुभियाओ जाव^१ बणमात्साओ । तेसि णं मुहमंडवाणं भूमिभागा, उल्लोया तेसि णं मुहमंडवाणं उवारि अदुट्ट मङ्गलगा, शया, छत्ताइच्छत्ता ।

तेसि णं मुहमंडवाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं पेच्छाघरमंडवे पण्णते, मुहमंडववत्तव्या जाव, दारा, भूमिभागा, उल्लोया ।

१६४—इस सुधर्मा सभा की तीन दिशाओं में तीन द्वार हैं । वे इस प्रकार हैं—पूर्व दिशा में एक, दक्षिण दिशा में एक और उत्तर दिशा में एक ।

वे द्वार ऊँचाई में सोलह योजन ऊँचे, आठ योजन चौड़े और उतने ही प्रवेश मार्ग वाले हैं । वे द्वार श्वेत वर्ण के हैं । श्रेष्ठ स्वर्ण से निमित शिखरों एवं वनमालाओं से अलंकृत हैं, आदि वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये ।

(उन द्वारों के ऊपर स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगल, धवजायें और छत्रातिष्ठत्र विराजित हैं—शोभायमान हो रहे हैं ।)

उन द्वारों के आगे सामने एक-एक मुखमंडप हैं । ये मंडप सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और ऊँचाई में कुछ अधिक सोलह योजन ऊँचे हैं । सुधर्मा सभा के समान इनका शेष वर्णन कर लेना चाहिये ।

इन मंडपों की तीन दिशाओं में तीन द्वार हैं, यथा—एक पूर्व दिशा में, एक दक्षिण दिशा में और एक उत्तर दिशा में । ये द्वार ऊँचाई में सोलह योजन ऊँचे हैं, आठ योजन चौड़े और उतने ही प्रवेशमार्ग वाले हैं । ये द्वार श्वेत ध्वलवर्ण और श्रेष्ठ स्वर्ण से बनी शिखरों, वनमालाओं से अलंकृत हैं, पर्यन्त का वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये ।

(उन मंडपों के भूमिभाग, चंदेवा और ऊपर आठ-आठ मंगल, धवजाओं, छत्रातिष्ठत्र आदि का भी वर्णन करना चाहिए ।)

उन मुखमंडपों में से प्रत्येक के आगे प्रेक्षागृहमंडप बने हैं । इन मंडपों के द्वार, भूमिभाग, चांदनी आदि का वर्णन भुखमंडपों की बक्तव्यता के समान जानना चाहिये ।

१६५—तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्जदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वद्वरामए अक्खाडए पण्णते ।

तेसि णं वद्वरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्ज-देसभागे पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेदिया पण्णता, ताओ णं मणिपेदियाओ अदु जोयणइं आयाम-विक्खंभेण, चत्तारि जोयणइं बाहुल्लेण, सध्यमणिमईओ अच्छाओ जाव^२ पडिरुखाओ ।

तासि णं मणिपेदियाणं उवारि पत्तेयं-पत्तेयं सोहासणे पण्णते, सीहासणवणओ सपरिवारो ।

तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उवारि अदुट्ट मंगलगा शया छत्रातिष्ठता ।

१. देखें सूत्र संख्या १२१ से १२९

२. देखें सूत्र संख्या ४७

१६५—उन प्रेक्षागृह मंडपों के अतीव रमणीय समचौरस भूमिभाग के मध्यातिमध्य देश में एक-एक वज्जरत्नमय अक्षापाटक-मंच कहा गया है।

उन वज्जरत्नमय अक्षापाटकों के भी बीचों-बीच आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और विविध प्रकार के मणिरत्नों से निर्मित निर्मल यावत् प्रतिरूप—असाधारण सुन्दर एक-एक मणि-पीठिकायें बनी हुई हैं।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक सिहासन रखा है। भद्रासनों आदि आसनों रूपी परिवार महित उन सिहासनों का वर्णन करना चाहिए।

उन प्रेक्षागृह मंडपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, श्वजायें, छत्रातिष्ठत्र सुशोभित हो रहे हैं।

स्तूप-वर्णन

१६६—तेसि ण पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेहियाओ पण्णत्ताओ। ताओ ण मणिपेहियातो सोलस-सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेण, अटु जोयणाइं बाहुल्लेण, सब्बमणिईओ अच्छाओ पडिरुवाओ।

तासि ण उवरि पत्तेयं-पत्तेयं थूभे पण्णते। ते ण थूभा सोलस-सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेण, साइरेगाइं सोलस-सोलस जोयणाइं उडु उच्चत्तेण, सेया संखेक (कुंद-वगरथ-शमय-महिय-फेणपुंजस्त्रिगासातो) सब्बरयणामया अच्छा जाव (सण्हा-सण्हा-घटा-मटा-जीरया-निम्मला-निपंक्ता-निकंकडच्छाया-सप्पभा-समिरीया-सउडजोया पासादीया-वरिसणिज्जा अभिरुवा) पडिरुवा।

तेसि ण थूभाण उवरि अटुहु थंगलगा, शया छतातिष्ठता जाव^३ सहस्रपत्तहत्यया।

तेसि ण यूभाणं पत्तेयं-पत्तेयं चउहींस मणि-पेहियातो पण्णत्ताओ। ताओ ण मणिपेहियातो अटु जोयणाइं आयामविक्खंभेण, चत्तारि जोयणाइं बाहुल्लेण, सब्बमणि-मईओ अच्छाओ जाव पडिरुवातो।

तासि ण मणिपेहियाण उवरि चत्तारि जिणपडिमातो जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकनि-सन्नाओ, यूभाभिमुहोओ सन्निकिखत्ताओ चिटुंति, तंजहा उसभा, बढुमाणा, चंदाणणा वारिसेण।

१६७—उन प्रेक्षागृह मंडपों के आगे एक-एक मणिपीठिका है। ये मणिपीठिकायें सोलह-सोलह योजन लम्बी-चौड़ी आठ योजन मोटी हैं। ये सभी सर्वात्मना मणिरत्नमय, स्फटिक मणि के समान निर्मल और प्रतिरूप हैं।

उन प्रत्येक मणिपीठों के ऊपर सोलह-सोलह योजन लम्बे-चौड़े समचौरस और ऊंचाई में कुछ अधिक सोलह योजन ऊचे, शंख, अंक रत्न, कुन्दपुष्प, जलकण, मंथन किये हुए अमृत के फेनपुंज सदृश प्रभा वाले) श्वेत, सर्वात्मना रत्नों से बने हुए स्वच्छ यावत् (चिकने, सलौने घुटे हुए, मृष्ट, शुद्ध, निर्भल पंक (कीचड़) रहित, आवरण रहित परच्छाया वाले, प्रभा, चमक और उद्दीप वाले, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर) असाधारण रमणीय स्तूप बने हैं।

उन स्तूपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, द्वजायें छत्रातिश्चत्र यावत् सहस्रपत्र कमलों के भूमके सुशोभित हो रहे हैं।

उन स्तूपों की चारों दिशाओं में एक-एक मणिपीठिका है। ये प्रत्येक मणिपीठिकायें आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और अनेक प्रकार के मणि रत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् प्रतिरूप हैं।

प्रत्येक मणिपीठिका के ऊपर, जिनका मुख स्तूपों के सामने है ऐसी जिनोत्सेष प्रमाण वाली आर जिन-प्रतिमायें पर्यकासन से विराजमान हैं, यथा—(१) कृषभ, (२) वर्धमान (३) चन्द्रानन (४) वारिष्ठेण की।

विवेचन—‘जिणुस्सेहपमाणमेत्ताश्चो’ अर्थात् ऊँचाई में जिन-भगवान् के शरीर प्रमाण वाली। जिन भगवान् के शरीर की अधिकतम ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्यतम सात हाथ की बताई है। वर्णन को देखते हुए यहाँ स्थापित जिन-प्रतिमायें पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँची होनी चाहिये, ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है।

चैत्य बृक्ष

१६७—तेसि णं थूभाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताश्चो। ताओ णं मणि-पेढियाओ सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेण, अदृ जोयणाइं बाह्लेण, सङ्खमणिमईओ जाव पढिरुवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उवर्ति पत्तेयं-पत्तेयं चेहयरुक्खे पण्णत्ते, ते णं चेहयरुक्खा अदृ जोयणाइं उद्धृं उच्चतरेण अदृजोयणं उव्वेहेण, दो जोयणाइं खंधा, अदृजोयणं विक्खंभेण, छ जोयणाइं विडिमा, बहुमज्जदेसभाए अदृ जोयणाइं आयामविक्खंभेण, साहरेगाइं अदृ जोयणाइं सङ्खगोणं पण्णत्ता।

तेसि णं चेहयरुक्खाणं इमेयारुवे वण्णाव्यासे पण्णत्ते, तं जहा—

वयरामयमूल-रययसुपइट्टियविडिमा, रिट्टामयविचलकंदवेरुलियरुइलखंधा, सुजायवरजाय-रुवपद्मगविसालसाला, नाणामणिमयरयणविधिहसाहृपसाहृ-वेरुलियपत्त-सवणिजजपसविटा, जंबूणय-रसमउयसुकुमारुपवालपल्लववरंकुरधरा, विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरनमियसाला, सच्छया, सध्यभा, सस्सरीया, सउज्जोया, अहियं नयणमणिद्वुइकरा, अमयरससमरसफला, पासाईया……।

तेसि णं चेहयरुक्खाणं उवर्ति अदृहु मंगलगा जया छत्ताइछत्ता।

१६८—उन प्रत्येक स्तूपों के आगे-सामने मणिमयी पीठिकायें बनी हुई हैं। ये मणिपीठिकाय सोलह योजन लम्बी-चौड़ी, आठ योजन मोटी और सवातिमना मणिरत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् अतीव मनोहर हैं।

उन मणिपीठिकायों के ऊपर एक-एक चैत्यबृक्ष है। ये सभी चैत्यबृक्ष ऊँचाई में आठ योजन ऊचे, जमीन के भोतर आधे योजन गहरे हैं। इनका स्कन्ध भाग दो योजन का और आधा योजन चौड़ा है। स्कन्ध से निकलकर ऊपर की ओर फैली हुई शाखायें छह योजन ऊँची और लम्बाई-चौड़ाई में आठ योजन की हैं। कुल मिलाकर इनका सर्वपरिमाण कुछ अधिक आठ योजन है।

इन चैत्य वृक्षों का वर्णन इस प्रकार किया गया है,—

इन वृक्षों के मूल (जड़े) वज्जरत्नों के हैं, विडिमायें-शाखायें रजत की, कंद रिष्टरत्नों के, मनोरम स्कन्ध बैंडूर्यमणि के, मूलभूत प्रथम विशाल शाखायें शोभनीक श्रेष्ठ स्वर्ण की, विविध शाखा-प्रशाखायें नाना प्रकार के मणि-रत्नों की, पत्ते बैंडूर्यरत्न के, पत्तों के वृन्त (डंडियाँ) स्वर्ण के, अरुण-मृदु-सुकोमल-श्रेष्ठ प्रबाल, पल्लव एवं अंकुर जाम्बूनद (स्वर्णविशेष) के हैं और विचित्र मणिरत्नों एवं सुरभिगंध-युक्त पुष्प-फलों के भार से नमित शाखाओं एवं अमृत के समान मधुररस युक्त फल वाले ये वृक्ष सुंदर मनोरम छाया, प्रभा, कांति, शोभा, उद्घोत से संपन्न नद्यन-मनको शांतिदायक एवं प्रासादिक हैं।

उन चैत्यवृक्षों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिष्ठत्र सुशोभित हो रहे हैं।

१६८—तेसि णं चेद्यरुक्खाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं भणिषेद्वियाओ पण्णत्ताओ । ताओ णं मणि-पेहियाओ अद्व जोयणाइ आयामविक्खभेण चत्तारि जोयणाइ बाहल्लेण सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पदिरुवाओ ।

१६९—उन प्रत्येक चैत्यवृक्षों के आगे एक-एक मणिपीठिका है। ये मणिपीठिकायें आठ योजन लंबी-चौड़ी, चार योजन मोटी, सर्वात्मना मणिमय निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतिशय मनोरम हैं।

माहेन्द्र-ध्वज

१७०—तासि णं मणिपेहियाणं उवरि पत्तेयं-पत्तेयं महिदज्ञस्ते पण्णत्ते ।

ते णं महिदज्ञस्या सर्द्धि जोयणाइ उद्धं उच्चत्तेण, अद्वकोसं उव्वेहेण, उद्वकोसं विक्खभेण वहरामय-वद्व-लद्व-संठिय-सुसिलिद्व-परिघद्व-मद्व-सुपतिद्विए-विसिद्वे-अणेगवर-पंचवण्णकुडभी-सहस्रसुसिसए-परिमंडियाभिरामे-वाउद्धुयविजयवेजयंतोपडागच्छत्तातिच्छत्तकलिते, तु गे, गगणतल-मणुलिहंतसिहरा वासादोया ।

तेसि णं महिदज्ञस्याणं उवरि अद्वद्व मंगलया जया छत्तातिछत्ता ।

१७१—उन मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक माहेन्द्रध्वज (इन्द्र के ध्वज सदूश अति विशाल ध्वज) फहरा रहा है। वे माहेन्द्रध्वज साठ योजन ऊंचे, आधा कोस जमीन के भीतर ऊंडे—गहरे, आधा कोस चौड़े, वज्जरत्नों से निर्मित, दीप्तिमान, चिकने, कमनीय, मनोज वर्तुलाकार—गोल ढंडे वाले शेष ध्वजाओं से विशिष्ट, अन्यान्य हजारों छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की मनोरम रंग-बिरंगी-पंचरंगी पताकाओं से परिमंडित, वायुवेग से फहराती हुई विजय-वैजयन्ती पताका, छत्रातिष्ठत्र से युक्त आकाशमंडल की स्पर्श करने वाले ऐसे ऊंचे उपरिभागों से ग्रलंकृत, मन को प्रसन्न करने वाले हैं।

इन माहेन्द्र-ध्वजों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिष्ठत्र सुशोभित हो रहे हैं।

१७०—तेसि णं महिदज्ञस्याणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं नंदा पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ ।

ताओ णं पुक्खरिणीओ एं जोयणसयं आयामेण, पण्णासं जोयणाइ विक्खभेण, वस जोयणाइ उव्वेहेण, अच्छाओ जाव वर्णओ, एगद्याओ उवगरसेण पण्णत्ताओ ।

पत्तेयं-पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्षित्ताओ, पत्तेयं-पत्तेयं धणसंडपरिक्षित्ताओ ।

तासि णं णंदाणं पुष्करिणीण तिविसि तिसोवाणपडिलुबगा पण्णत्ता । तिसोवाणपडिलुबगाणं चण्णओ, तोरणा, खया, छत्तातिछत्ता ।

१७०—उन माहेन्द्रधबजाओं के आगे एक-एक नन्दा नामक पुष्करिणी बनी हुई है ।

ये पुष्करिणियाँ सो योजन लंबी, पचास योजन चौड़ी, दस योजन ऊँड़ी-गहरी हैं और स्वच्छ-निर्मल हैं आदि वर्णन पूर्ववत् यहाँ जानना चाहिए । इनमें से कितनेक का पानी स्वाभाविक पानी जैसा मधुर रस वाला है ।

ये प्रत्येक नन्दा पुष्करिणियाँ एक-एक पद्मवर-वेदिका और वनखांडों से घिरी हुई हैं ।

इन नन्दा पुष्करिणियों की तीन दिशाओं में अतीव मनोहर शिसोपान-पञ्चियाँ हैं । इन शिसोपान-पञ्चियों के ऊपर तीरण, ध्यजाये, छत्तातिछत्त्र सुशोभित हैं आदि वर्णन पूर्ववत् करना चाहिए ।

सुधमसिभावतीं मनोगुलिकाये गोमानसिकाये

१७१—सभाए णं सुहृष्ट्याए अड्यालीसं मणोगुलियासाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरस्थितेण सोलससाहस्सीओ, पञ्चस्थितेण सोलससाहस्सीओ, वाहिणेण अटूसाहस्सीओ, उत्तरेण अटू-साहस्सीओ ।

तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवर्णरूपमया फलगा पण्णत्ता । तेसु णं सुवर्णरूपमएसु फलगेसु बहवे बहरामया णागदंता पण्णत्ता । तेसु णं बहरामएसु णागदंतएसु किञ्छसुत्तवदृवधारियमल्लदाम-कलावा चिह्निति ।

१७२—सुधर्मा सभा में अड़तालीस हजार मनोगुलिकायें (छोटे-छोटे चबूतरे) हैं, वे इस प्रकार हैं—पूर्व दिशा में सोलह हजार, पश्चिम दिशा में सोलह हजार, दक्षिण दिशा में आठ हजार और उत्तर दिशा में आठ हजार ।

उन मनोगुलिकाओं के ऊपर अनेक स्वर्ण एवं रजतमय फलक—पाटिये और उन स्वर्ण रजतमय पाटियों पर अनेक वज्ररत्नमय नागदंत लगे हैं । उन वज्रमय नागदंतों पर काले सूत से बनी हुई गोल लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं ।

१७३—सभाए णं सुहृष्ट्याए अड्यालीसं गोमानसियासाहस्सीओ पञ्चसाओ । जहु मणोगुलिया जाव णागदंतगा ।

तेसु णं णागदंतएसु बहवे रथयामया सिक्कगा पण्णत्ता । तेसु णं रथयामएसु सिक्कगेसु बहवे वेशलियामहओ धूबधियाओ पण्णसाओ । ताओ णं धूबधियाओ कालागुरुपवर जाव चिह्निति ।

१७४—सुधर्मा सभा में अड़तालीस हजार गोमानसिकायें (शय्या रूप स्थानविशेष) रखी हुई हैं । नागदंतों पर्यन्त इनका वर्णन मनोगुलिकाओं के समान समझ लेना चाहिए ।

उन नागदंतों के ऊपर बहुत से रजतमय सीके लटके हैं। उन रजतमय सीकों में बहुत-सी बैड़ीयं रत्नों से बनी हुई धूपघटिकायें रखी हैं। वे धूपघटिकायें काले अगर, थ्रेठ कुन्दुरुष्क आदि की सुगंध से मन को मोहित कर रही हैं।

माणवक चैत्यस्तम्भ

१७३—सभाए णं सुहम्माए अंतो बहुसमरमणिजे भूमिभागे पण्ठते जाव यणीहि उवसोभिद्
मणिफासो य उल्लोयो य ।

तस्स णं बहुसमरमणिजस्स भूमिभागस्स शुभुन्नप्रदेलवाण् उत्त णं महेगा मणिपेदिया
पण्ठता, सोलस जोयणाइ आपामविक्खंभेण अटु जोयणाइ बाहुल्लेण सञ्चयणिमयी जाव पडिल्लवा ।

१७४—उस सुधमी सभा के भीतर अत्यन्त रमणीय सम भूमाग है। वह भूमिभाग यावत्
मणियों से उपशोभित है आदि मणियों के स्पर्शी एवं चंदेवा पर्यन्त का सब वर्णन यहाँ पूर्ववत् कर
लेना चाहिये ।

उन अति सम रमणीय भूमिभाग के अति मध्यदेश में एक विशाल मणिपीठिका बनी हुई है।
जो आयाम-विकास को अपेक्षा सोलह योजन लंबी-चौड़ी और आठ योजन मोटी तथा सर्वतिमना
रत्नों से बनी हुई यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोरम है ।

१७५—तोसे णं मणिपेदियाए उवरि एत्थ णं माणवए चेहरेखंभे पण्ठते, सट्टु जोयणाइ उड्ड
उच्चत्तेण, जोयणं उच्चेहेण, जोयणं विक्खंभेण, अड्यालीसंसिए, अड्यालीसइ कोडीए, अड्यालीसइ
विगगहिए सेसं जहा महिदज्जयस्स ।

माणवगस्स णं चेहरेखंभस्स उवरि बारस जोयणाइ ओगाहेता, हेट्टाषि बारस जोयणाइ
बज्जेता मज्जे छत्तीसाए जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवर्णरूपभया फलगा पण्ठता । तेसु णं सुवर्ण-
रूपाएसु फलएसु बहवे बहरामया नागदंता पण्ठता । तेसु णं बहरामएसु नागवंतेसु बहवे रययामया
सिक्कगा पण्ठता । तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे बहरामया गोलवट्टसमुन्नया पण्ठता । तेसु णं
बयरामएसु सोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकाहातो संनिक्षिताओ चिद्वृति ।

ताओ णं सूरियामस्स देवस्स अन्नेसि च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिजाओ जाव पञ्जु-
वासणिजाओ ।

माणवगस्स चेहरेखंभस्स उवरि अटुटु मंगलगा, शया, छत्ताइच्छता ।

१७६—उन मणिपीठिका के ऊपर एक माणवक नामक चैत्यस्तम्भ है। वह ऊँचाई में साठ
योजन ऊँचा, एक योजन जमीन के अंदर गहरा, एक योजन चौड़ा और अड़तालीस कोनों, अड़तालीस
धारों और अड़तालीम आयामों—पहलुओं बाला है। इसके अतिरिक्त शेष वर्णन माहेन्द्रदध्वज जैसा
जानना चाहिए ।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ के ऊपरी भाग में बारह योजन और नीचे बारह योजन छोड़कर
मध्य के शेष छत्तीस योजन प्रमाण भाग—स्थान में अनेक स्वर्ण और रजतमय फलक—पाठिये लगे हुए
हैं। उन स्वर्ण-रजतमय फलकों पर अनेक ब्रजमय नागदंत—छूटिया हैं। उन ब्रजमय नागदंतों पर

बहुत से रजतमय सीके लटक रहे हैं। उन रजतमय सीकों में बज्रमय गोल गोल सभुदगक (डिब्बे) रखे हैं। उन गोल-गोल बज्ररत्नमय सभुदगकों में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ सुरक्षित रखी हुई हैं।

वे अस्थियाँ सूर्यभिदेव एवं अन्य देव-देवियों के लिए अर्चनीय यावत् (वंदनीय, पूजनीय, संभाननीय, सत्कारणीय तथा कल्पाण, मंगल देव एवं चैत्य रूप में) पशुं पासनीय हैं।

उस माणवक चैत्य के ऊपर आठ आठ मंगल, छवजाये और छत्रातिच्छ्रुत सुशोभित हो रहे हैं।

देव-शश्या

१७५—तस्स माणवगस्स चेहयखंभस्स पुरस्थिमेण एत्थ नं महेगा मणिपेदिया पण्णता, अद्व जोयणाइं आयाम-विक्खंभेण, अत्तारि जोअणाइं बाहुल्लेण सबवमणिमई ग्रच्छा जाव पडिलुवा। तीसे नं मणिपेहियाए उवरि एत्थ नं महेगे सीहासणे पण्णते, सीहासणवण्णओ सपरिवारो।

तस्स नं माणवगस्स चेहयखंभस्स पुरस्थिमेण एत्थ नं महेगा मणिपेदिया पण्णता, अद्व जोयणाइं आयाम-विक्खंभेण, अत्तारि जोयणाइं बाहुल्लेण, सबवमणिमया ग्रच्छा जाव पडिलुवा।

तीसे नं मणिपेदियाए उवरि एत्थ नं महेगे देवसयणिज्जे पण्णते।

तस्स नं देवसयणिज्जस्स इमेयारुवे वण्णावासे पण्णते, तं जहा—णाणमणिमया पडिपाया, सोबश्चिया पाया, णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं, जंबूणयामयाइं गतगाइं, बहरामया संघी, णाणामणिमए विच्चे, रययामई तूली, लोहियक्खमया बिल्लोयणा, तवणिज्जमया गंडोवट्टाणया।

से नं सयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उभओ बिहवोयणं दुहओ उण्णते, मज्जे णयगंभीरै गंगापुलिण-वालुया-उद्वालसालिसए, सुविरहयरयत्तरणे, उवच्चियखोमदुगुल्लपट्ट-पडिल्लायणे आईणग-रुय-मूर-बदणीय-तूलफासमउए, रत्तंसुयसंदुए सूरम्मे पासादीए पडिलुवे।

१७५—उस माणवक चैत्यस्तम्भ के पूर्व दिम्भाग में विशाल मणिपीठिका बनी हुई है। जो आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और सर्वात्मना मणिमय निर्मल यावत् प्रतिरूप है।

उस मणिपीठिका के ऊपर एक विशाल सिहासन रखा है। भद्रासन आदि ग्रासनों रूप परिवार सहित उस सिहासन का वर्णन करना चाहिए।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ की पश्चिम दिशा में एक बड़ी मणिपीठिका है। वह मणिपीठिका आठ योजन लम्बी चौड़ी, चार योजन मोटी, सर्वं मणिमय, स्वच्छ-निर्मल यावत् असाधारण सुन्दर है।

उस मणिपीठिका के ऊपर एक श्रेष्ठ रमणीय देव-शश्या रखी हुई है।

उस देवशश्या का वर्णन इस प्रकार है, यथा—इसके प्रतिपाद अनेक प्रकार की मणियों से बने हुए हैं। स्वर्ण के पाद—पाये हैं। पादशीर्षक (पायों के ऊपरी भाग) अनेक प्रकार की मणियों के हैं। गाते (ईषायें, पाटियाँ) सोने की हैं। सांधे बज्ररत्नों से भरी हुई हैं। बाण (निवार) विविध रत्नमयी हैं। तूली (विच्छीना—गादला) रजतमय है। ओसीसा लोहिताक्षरत्न का है। गंडोपधानिका (तकिया) सोने की है।

उस शश्या पर शरीर प्रमाण उपधान—गदा बिछा है। उसके शिरोभाग और चरणभाग (सिरहाने और पायते) दोनों और तकिये लगे हैं। वह दोनों और से कँची और मध्य में नत—भुकी

हुई, गम्भीर गहरी है। जैसे गंगा किनारे की बालू में पाँव रखने से पांव धंस जाता है, उसी प्रकार बैठते हो नीचे की ओर धौंस जाते हैं। उस पर रजस्त्राण पड़ा रहता है—मसहरी लगी हुई है। कसोदा वाला झौमदुकूल (रुई का बना चहर) बिछा है। उसका स्पर्श आजिनक (मृगछाला, चर्म-निमित वस्त्र) रुई, बूर नामक बनस्पति, भक्खन और आक की रुई के समान सुकोमल है। रक्ताशुक—लाल तूस से ढका रहता है। अत्यन्त रमणीय, मनमोटक यावत् असाधारण सुन्दर है।

आयुधगृह—शस्त्रागार

१७६— तस्य एं देवस्यणिङ्गजस्स उत्तरपुरतिथमेण महेगा मणिषेद्या पण्णता—अदु जोयणाइ आयाम-विक्खंभेण, चत्तारि जोयणाइ बाहुल्लेण, सञ्चयणिष्यी जाव पडिरुवा।

तीसे एं मणिषेद्याए उवारि एत्य एं महेगे खुद्दुए महिंदज्जसए पण्णते, सट्टि जोयणाइ चड्डं उहत्तेण, जोयण विक्खंभेण वहरामया बहुलदुसंठियसुसिल्लु जाव पडिरुवा। उवारि अदुदु मंगलगा, मया, छुत्रातिछ्वता।

तस्य एं खुद्दागमहिंदज्जस्यस्स पक्षतिथमेण एत्य एं सूरियाभस्स देवस्स चोप्याले नाम पहरणकोसे पञ्चते, सञ्चयवहरामय अच्छें जाव पडिरुवे।

तत्थ एं सूरियाभस्स देवस्स फलिहरयण-खगा-गया-धणुष्पमुहा बहवे पहरणरयणा संनिविष्टता चिट्ठंति, उज्जला निसिया सुतिक्खधारा पासादीया……

सभाए एं सुहम्माए उवारि अदुदु मंगलगा, मया, छुत्रातिछ्वता।

१७६— उस देव-शश्या के उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान-कोण) में आठ योजन लम्बी-बौद्धी, चार योजन मोटी सर्वमणिमय यावत् प्रतिरूप एक बड़ी मणिपीठिका बनी है।

उस मणिपीठिका के ऊपर साठ योजन ऊँचा, एक योजन चौड़ा, बज्ररत्नमय सुन्दर गोल आकार वाला यावत् प्रतिरूप एक क्षुल्लक—छोटा माहेन्द्रधबज लगा हुआ है—फहरा रहा है। जो स्वस्तिक आदि आठ मंगलों, द्वजाओं और छुत्रातिछ्वओं से उपशोभित है।

उस क्षुल्लक माहेन्द्रधबज की पश्चिम दिशा में सूर्याभिदेव का 'चोप्याल' नामक प्रहरणकोश (आयुधगृह—शस्त्रागार) बना हुआ है। यह आयुधगृह रावत्मना रजतमय, निर्मल यावत् प्रतिरूप है।

उस प्रहरणकोश में सूर्याभि देव के परिवरत्न, (मूसल, लोहे का मुद्गर जैसा शस्त्रविशेष तलवार, गदा, धनुष आदि बहुत से श्रेष्ठ प्रहरण (शस्त्र-शस्त्र) सुरक्षित रखे हैं। वे सभी शस्त्र अत्यन्त उज्ज्वल, चमकीले, तीक्ष्ण धार वाले और मन को प्रसन्न करने वाले आदि हैं।

सुधर्मी सभा का ऊपरी भाग आठ-आठ मंगलों, द्वजाओं और छुत्रातिछ्वओं से सुशोभित हो रहा है।

सिद्धायतन

१७७—सभाए एं सुहम्माए उत्तरपुरतिथमेण एत्य एं महेगे सिद्धायतणे पण्णते, एवं जोयण-

सर्वं आयामेण, पञ्चासं जोयणाइं विकल्पभेण, बावत्तरि जोयणाइं उडुं उक्षत्तेण, सभागमएण जावं गोमाणसियाओ, भूमिभागा, उल्लोया तहेव ।

१७३—उस सुधर्मा सभा के उत्तर-पूर्व दिभाग (ईशान कोण) में एक विशाल सिद्धायतन है । वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और बहतर योजन ऊँचा है । तथा इस सिद्धायतन का गोमानसिकाओं पर्वत एवं भूमिभाग तथा चंदेवा का वर्णन सुधर्मा सभा के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—‘सभागमएण जाव गोमाणसियाओ’ पाठ से सिद्धायतन का वर्णन सुधर्मा सभा के समान करने का जो संकेत किया है, संक्षेप में वह वर्णन इस प्रकार है—

सुधर्मा सभा के समान ही इस सिद्धायतन की पूर्व, दक्षिण और उत्तर इन तीन दिशाओं में तीन द्वार हैं । उन प्रत्येक द्वारों के आगे एक-एक मुखमण्डप बना है । मुखमण्डपों के आगे प्रेक्षागृह मण्डप हैं । प्रेक्षागृह मण्डपों के आगे प्रतिमाओं सहित चार चैत्यस्तूप हैं तथा उन चैत्य स्तूपों के आगे चैत्यबृक्ष हैं । चैत्य बृक्षों के आगे एक-एक माहेन्द्रध्वज फहरा रहा है । माहेन्द्रध्वजों के आगे नन्दा पुष्करिणियाँ हैं और उनके अनन्तर मनोगुलिकायें एवं गोमानसिकायें हैं ।

१७४—तस्य एं सिद्धायतणस्स बहुमज्ज्ञवेसभाए एत्थ एं महेगा मणिपेदिया पण्णत्ता— सोलस जोयणाइं आयामविकल्पभेण अदु जोयणाइं बाहल्लेण । तीसे एं मणिपेदियाए उवरि एत्थ एं महेगे देवचल्लदए पण्णते सोलस जोयणाइं आयामविकल्पभेण, साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उडुं उच्चत्तेण, सध्वरयणामए जाव पढिरुवे । एत्थ एं अदुसयं जिणपडिभाओं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिकिष्टत्वं संचिद्गुति ।

तात्त्वि एं जिणपडिमाणं इमेयारुवे वण्णावासे पण्णत्वे, सं जहा—

तवणिज्जमया हृस्थतलपायतला, अंकामयाइं नव्वाइं अंतोलोहियक्षपडिसेगाइं कणगामईओ जंघाओ, कणगामया जाणू, कणगामया उरु, कणगामईओ गायलटुओ, तवणिज्जमयाओ नाभोओ, रिट्टामईओ रोमराईओ, तवणिज्जमया चुच्चुया, तवणिज्जमया सिरिवच्छा सिलप्पवालमया ओट्टा, फालियामया दंता, तवणिज्जमईओ जीहाओ, तवणिज्जमया तालुया, कणगामईओ नासिगाओ अंको-लोहियक्षपडिसेगाओ, अंकामयाणि अच्छोणि अंतोलोहियक्षपडिसेगाणि [रिट्टामईओ ताराओ] रिट्टामयाणि अच्छपत्ताणि, रिट्टामईओ भमुहाओ, कणगामया कबोला, कणगामया सबणा, कणगामईओ णिडालपट्टियाओ, बइरामईओ सोसध्वाओ, तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ, रिट्टामया उवरि मुद्रया ।

१७५—उस सिद्धायतन के ठीक मध्यप्रदेश में सोलह योजन लम्बी-चौड़ी, आठ योजन मोटी एक विशाल मणिपीठिका बनी हुई है । उस मणिपीठिका के ऊपर सोलह योजन लम्बा-चौड़ा और कुछ अधिक सोलह योजन ऊँचा, सर्वांतमना मणियों से बना हुआ यावत् प्रतिरूप एक विशाल देवच्छन्दक (आसनविशेष) स्थापित है और उस पर जिनोत्सेध तीर्थकरों को ऊँचाई के बराबर बाली एक सौ आठ जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं ।

उन जिन प्रतिमाओं का वर्णन इस प्रकार है, जैसे कि—

उन प्रतिमाओं की हथेलियाँ और पगधलियाँ तपनीय स्वर्णमय हैं। मध्य में खचित लोहिताक्ष रत्न से युक्त अंकरत्न के नस्ख हैं। जंघायें—जानुयें—घुटने,—पिंडलियाँ और देहलता—शरीर कनकमय हैं। नाभियाँ तपनीयमय हैं। रोमराजि रिष्ट रत्नमय हैं। चूचक (स्तन का अग्र भाग) और श्रीबत्स (वक्षस्थल पर बना हुआ चिह्न-विशेष) तपनीयमय हैं। होठ प्रवाल (मूँगा) के बने हुए हैं, दंतपंक्ति स्फटिकभणियों और जिह्वा एवं तालु तपनीय-स्वर्ण (लालिमायुक्त स्वर्ण) के हैं। नासिकायें बीच में लोहिताक्ष रत्न खचित कनकमय हैं (नेत्र लोहिताक्ष रत्न से खचित मध्य-भाग युक्त अंकरत्न के हैं और नेत्रों की तारिकायें (कनीनिकायें—आँख के बीच का काला भाग) अक्षिपत्र-पलकें तथा भीहें रिष्टरत्नमय हैं। कपोल, कान और ललाट कनकमय हैं। शीर्षघटी (खोपड़ी) वज्ज रत्नमय है। केशान्त एवं केशभूमि (चाँद) तपनीय स्वर्णमय हैं और केश रिष्टरत्नमय हैं।

१७९—तासि णं जिणपडिमाणं पिदुतो पत्तेयं-पत्तेयं छत्तधारगपडिमाओ पण्णसाओ। ताओ णं छत्तधारगपडिमाओ हिघ-रयय-कुंदुप्पगासाइ, सकोरटमल्लवामधवलाइ आयवसाइ सलीलं धारे-माणीओ धारेमाणीओ चिट्ठंति ।

तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासे पत्तेयंपत्तेयं चामरधार (ग) पडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं चामर-धारपडिमातो चंदप्पहृव्यरवेहलियनानामणिरयणछचियचिस्वंडाओ सुहुमरयत-वीहृवालाओ संखंककुंद-दगरय-अमसमहियफेणपुंजसशिकासाओ धवलाओ चामरओ सलीलं धारे-माणीओ चिट्ठंति ।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो दो-दो नागपडिमाओ जक्खपडिमाओ, शूयपडिमाओ, कुंदधार-पडिमाओ सञ्चरयणामईओ अच्छाओ जाव चिट्ठंति ।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो अटूसयं घंटाणं, अटूसयं चंदणकलसाणं, अटूसयं भिगाराणं एवं आयसाणं, शालाणं पाईणं सुपइट्टाणं, यणोगुलियाणं वायकरगाणं, चित्तगराणं रयणकर्डगाणं, हयकंठाणं जाव^१ उसभंठाणं, पुष्फचंगेरीणं जाव^२ लोमहृत्थचंगेरीणं, पुष्फपडलगाणं तेल्लसमुगाणं जाव^३ अंजणसमुगाणं अटूसयं शयाणं, अटूसयं धूवकहुच्छुयाणं संनिकिखत्तं चिट्ठुति । सिद्धायतणस्स णं उवरि अटूटु मंगलगा, शया छत्तातिछत्ता ।

१७९—उन जिन प्रतिमाओं में से प्रत्येक प्रतिमा के पीछे एक एक छत्तधारक—छत्र लिये बड़ी देवियों की प्रतिमायें हैं। वे छत्तधारक प्रतिमायें लीला करती हुई-सी भावभंगिमा पूर्वक हिम, रजत, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान प्रभा कांतिवाले कोरट पुष्पों की मालाओं से युक्त छवल-श्वेत आतपश्रों (छत्रों) को अपने-अपने हाथों में धारण किये हुए खड़ी हैं।

प्रत्येक जिन-प्रतिमा के दोनों पार्श्व भागों—बाजुओं में एक एक चामरधारक-प्रतिमायें हैं। वे चामर-धारक प्रतिमायें अपने अपने हाथों में विविध मणिरत्नों से रचित चित्रामों से युक्त चन्द्रकान्त, वज्ज और वंडूर्य मणियों की डंडियों वाले, पतले रजत जैसे श्वेत लम्बे-लम्बे बालों वाले

शंख, अंकरत्न, कुम्दपुष्प, जलकण, रजत और मन्थन किये हुए अमृत के फेनपुंज सदृश श्वेत-धबल चामरों को धारण करके लीलापूर्वक बीजती हुई-सी खड़ी हैं।

उन जिन-प्रतिमाओं के आगे दो-दो नाग-प्रतिमायें, यक्षप्रतिमायें, भूतप्रतिमायें, कुंड / प्रज-विशय/धारक प्रतिमायें छड़ी हैं। ये सभी प्रतिमायें सवत्सिना रत्नमय, स्वच्छ-निर्मल यावत् अनुपम शोभा से सम्पन्न हैं।

उन जिन-प्रतिमाओं के आगे एक सी आठ—एक सौ आठ घंटा, चन्दनकलश, भृगार, दर्पण, थाल, पात्रिया, सुप्रतिष्ठान, मनोगुलिकायें, बातकरक, चित्रकरक, रत्न करंडक, अश्वकंठ यावत् वृषभ-कंठ पुष्पचमोरिकायें यावत् मयूरपिच्छ चमोरिकायें, पुष्पषटलक, तेलसमुद्रक यावत् अंजनसमुद्रक, एक सौ आठ धूपकडुच्छुक (धूपदान) रखे हैं।

सिद्धायतन का ऊपरीभाग स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगलों, छवजाओं और छत्रातिछत्रों से शोभायमान है।

उपपात आदि सभाएँ

१८०—तत्स णं सिद्धायतणस्स उत्तरपुरस्तिमेण एत्थ णं महेना उव्वायसभा पण्णस्ता, जहा सभाएँ सुधम्भाएँ तहेव जाव॑ मणिपेदिया श्रद्ध जोयणाह॑, देवस्यणिज्ज्ञ तहेव सयणिज्ज्ञवच्छाओ, श्रद्धद्व मंगलगा, झया, छत्रातिछत्रा ।

१८०—इस सिद्धायतन के ईशान कोण में एक विशाल श्रेष्ठ उपपात-सभा बनी हुई है। सुधम्भा-सभा के समान हो इस उपपात-सभा का वर्णन समझना चाहिए। मणिपीठिका की लम्बाई-चौड़ाई आठ योजन की है और सुधम्भा-सभा में स्थित देवशैया के समान यहाँ की शैया का ऊपरी भाग आठ मंगलों, छवजाओं और छत्रातिछत्रों से शोभायमान हो रहा है।

विवेचन- सुधम्भसिभा के समान इस उपपात-सभा के वर्णन करने के संकेत का आवाय यह है कि—

सुधम्भसिभा के समान ही इस उपपात-सभा के लिये भी पूर्वादि दिग्बर्ती तीन ढारों, मुखमण्डप प्रेक्षागृहमण्डप, चैत्यस्तूप, नैत्यवृक्ष, माहेन्द्रध्वज एवं नन्दा-पुष्करिणी से लेकर उल्लोक तक का तथा मध्यभाग में स्थित—मणि-पीठिका और उस पर विद्यमान देवशैया एवं ऊपरी भाग में आठ—आठ मंगलों, छवजाओं और छत्रों का वर्णन करना चाहिए।

१८१—तीसे णं उव्वायसभाएँ उत्तरपुरस्तिमेण एत्थ णं महेने हरए पण्णसे, एर्ग जोयणसयं आयामेण, पण्णासं जोयणाह॑ विश्वांकमेण, दस जोयणाह॑ उध्वेषेण, तहेव से णं हरए एर्गाएँ पञ्चमष्वर-वेहयाएँ, एरेण दणसंडेण सब्बओ समंता संपरिकिष्वसे । तस्स णं हरयस्स तिदिसं लिसोवाषपदिरुद्वगा पञ्चस्ता ।

१८१—उस उपपातसभा के उत्तर-पूर्व दिग्भाग में एक विशाल हृद-जलाशय—सरोवर है। इस हृद का आयाम (लम्बाई) एक सौ योजन एवं विस्तार (चौड़ाई) पचास योजन है तथा गहराई

दस योजन है। यह हळद सभी दिशाओं में एक पद्मदरबेदिका एवं एक बनखण्ड से परिवेष्टित—घिरा हुआ है तथा इस हळद के तीन और अतीव मनोरम श्रिसोपान-पंक्तियाँ बनी हुई हैं।

१८२—तस्य एं हरयस्स उसरपुरत्यमेण एत्थ एं महेगा अभिसेगसभा पण्णता, सुधम्मागमएण जाव^१ गोमानसियाओ मणिपेण्डिया सीहासणं सपरिवारं जाव^२ दामा चिट्ठंति ।

ताथ एं सूर्यियामस्स देवस्स शुद्धु लक्षितेयभंडे संनिखित्ते चिट्ठ, अट्ठु मंगलगा तहेब ।

१८२—उस हळद के ईशानकोण में एक विशाल अभिषेकसभा है। सुधम्मा-सभा के अनुरूप ही यावत् गोमानसिकायें, मणिपीठिका, सपरिवार सिहासन, यावत् मुक्तादाम हैं, इत्यादि इस अभिषेक सभा का भी वर्णन जानना चाहिए।

वहाँ सूर्यभिदेव के अभिषेक योग्य साधन—सामग्री से भरे हुए बहुत-से भाष्ड (पात्र आदि सामग्री) रखे हैं तथा इस अभिषेक-सभा के ऊपरी भाग में आठ-आठ मंगल आदि सुशोभित हो रहे हैं।

१८३—तीसे एं अभिसेगसभाए॒ उसरपुरत्यमेण एत्थ एं अलंकारियसभा पण्णता, जहा सभा सुधम्मा मणिपेण्डिया अटु जोयणाइं, सीहासणं सपरिवारं । तत्थ एं सूर्यियामस्स देवस्स सुबहु अलंकारिय-भंडे संनिखित्ते चिट्ठंति, सेसं तहेब ।

१८३—उस अभिषेकसभा के ईशान कोण में एक अलंकार-सभा है। सुधम्मासभा के समान ही इस अलंकार-सभा का तथा आठ योजन की मणिपीठिका एवं सपरिवार सिहासन आदि का वर्णन समझ लेना चाहिए।

अलंकारसभा में सूर्यभिदेव के द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों से भरे हुए बहुत-से अलंकार-भांड रखे हैं। शेष सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिये।

१८४—तीसे एं अलंकारियसभाए॒ उसरपुरत्यमेण एं तत्थ एं महेगा व्यवसायसभा पण्णता, जहा उव्वायसभा जाव सीहासणं सपरिवारं मणिपेण्डिया, अट्ठु मंगलगा० ।

१८४—उस अलंकारसभा के ईशानकोण में एक विशाल व्यवसायसभा बनी है। उपपात-सभा के अनुरूप ही यहाँ पर भी सपरिवार सिहासन, मणिपीठिका आठ-आठ मंगल आदि का वर्णन कर लेना चाहिए।

पुस्तकरत्न एवं नन्दा-पुष्करिणी

१८५—तस्य एं सूर्यियामस्स देवस्स एत्थ महेगे पोत्थयरयणे संनिखित्ते चिट्ठ, तस्य एं पोत्थयरयणस्स इमेयारुदे व्यणावासे पण्णते तं जहा—

रिद्वामईबो कंविआओ, तवणिज्जमए दोरे, नाणामणिए गंठी, रयणामयाइं पसगाइं, वेहलियमए लिप्यासणे, रिद्वामए छंदणे, तवणिज्जमई संकला, रिद्वामई भसी, वहरामई लेहणी, रिद्वामयाइं अवखराइं, अम्भिए लेकले ।

१. देखें सूत्र संख्या १६३ से १७१ ।

२. देखें सूत्र संख्या ४८ से ५१

व्यवसायसभाए णं उद्वर्ति अद्गदु मंगलगा ।

तीसे णं व्यवसायसभाए उत्तरपुरुषिभेण एत्य णं नन्दा पुष्करिणी पण्णता हरयसरिसा ।

तीसे णं नन्दाए पुष्करिणीए उत्तरपुरुषिभेण अहेगे बलिषीढे पण्णते सव्यरथणामए अच्छे जाव पकिलवे ।

१८५—उस व्यवसाय-सभा में सूर्याभि देव का विशाल श्रेष्ठतम पुस्तकरत्न रखा है। उस पुस्तकरत्न का वर्णन इस प्रकार है—

इसके पूढे रिष्ठ रत्न के हैं। डोरा स्वर्णमय है, गाँठे विविध मणिमय हैं। पत्र रत्नमय हैं। लिप्यासन—दधात बैडूर्य रत्न की है, उसका ढक्कन रिष्ठरत्नमय है और सांकल तपनीय स्वर्ण की बनी हुई है। रिष्ठरत्न से बनी हुई स्थाही है, वज्ररत्न की लेखनी—कलम है। रिष्ठरत्नमय अक्षर हैं और उसमें धार्मिक लेख लिखे हैं।

व्यवसाय-सभा का ऊपरी भाग आठ-आठ मंगल आदि से सुशोभित हो रहा है।

उस व्यवसाय-सभा में उत्तरपूर्वदिग्भाग में एक नन्दा पुष्करिणी है। हृद के समान इस नन्दा पुष्करिणी का वर्णन जानना चाहिए।

उस नन्दा पुष्करिणी के ईशानकोण में सवात्मना रत्नमय, निर्मल, यावत् प्रतिरूप एक विशाल बलिषीठ (आसन-विशेष) बना है।

उपपातान्तर सूर्यभिदेव का चिन्तन

१८६—तेण कालेण तेण समएण सूरियाभे देवे अहुणोबद्धणमित्तए चेव समाणे पंचविहाए पञ्जत्तीए पञ्जत्तीभावं गच्छइ, तंजहा आहारपञ्जत्तीए, सरीरपञ्जत्तीए इन्द्रियपञ्जत्तीए, आणपाण-पञ्जत्तीए, भासा-भणपञ्जत्तीए।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पञ्जत्तीभावं गयस्स समाणस्स इमेयाल्ये अज्ञत्विथए चित्तिए पत्तिए, मणोगए संकप्ये समुप्यजिज्ञत्वा—कि मे पुर्विक करणिज्जं ? कि मे पच्छा करणिज्जं कि मे पुर्विक सेयं ? कि मे पच्छा सेयं ? कि मे पुर्विक पि पच्छा वि हियाए सुहाए खामाए णिस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ?

१८७—उस काल और उस समय में लत्काल उत्पन्न होकर वह सूर्याभि देव (१) आहारपर्याप्ति (२) शरीर-पर्याप्ति (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति और (५) भाषामनःपर्याप्ति—इन पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्त होके के अनन्तर उस सूर्यभिदेव को इस प्रकार का आन्तरिक विचार, चिन्तन, अभिलाष, मनोगत एवं संकल्प उत्पन्न हुआ कि—मुझे पहले क्या करना चाहिये ? और उसके अनन्तर क्या करना चाहिये ? मुझे पहले क्या करना उचित (शुभ, कल्याणकर) है ? और बाद में क्या करना उचित है ? तथा पहले भी और पश्चात् भी क्या करना योग्य है जो मेरे हित के लिये, सुख के लिये, क्षेम के लिए, कल्याण के लिये और अनुगामी रूप (परंपरा) से शुभानुबंध का कारण होगा ?

विवेचन—जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में परिवर्तित करने का कार्य होता है। संसारी जीव को पुद्गलों के ग्रहण करने और परिणमने की शक्ति पुद्गलों के उपचय (पोषण, वृद्धि) से प्राप्त होती है एवं इस उपचय से ग्रहण और परिणमन करता है। इस प्रकार के कार्य-कारण भाव से उपचय, ग्रहण और परिणमन इन तीनों का क्रम निरंतर चलता रहता है।

पर्याप्ति के छह भेद हैं १. आहार-पर्याप्ति २. शरीर-पर्याप्ति ३. इन्द्रिय-पर्याप्ति ४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति ५. भाषा-पर्याप्ति ६. मन-पर्याप्ति।

उक्त छह पर्याप्तियों में अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्तियों के साथ भाषा-पर्याप्ति को मिलाने से पाँच तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनपर्याप्ति छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

इहभव सम्बन्धी शरीर को छोड़ने के पश्चात् जब जीव परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिए उत्पत्तिस्थान में पहुँच कर कार्यण शरीर के द्वारा प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उनके आहार-पर्याप्ति आदि रूप छह विभाग हो जाते हैं और उनके द्वारा एक साथ आहार आदि छहों पर्याप्तियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है, लेकिन उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। अर्थात् आहार के बाद शरीर, शरीर के बाद इन्द्रिय आदि। यह क्रम मन-पर्याप्ति पर्यन्त समझना चाहिये। इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझना चाहिए।

जैसे कि छह सूत कातने वाली स्त्रियों ने रुई का कातना तो एक साथ प्रारम्भ किया, किन्तु उनमें मोटा सूत कातने वाली जल्दी कात लेती है और उत्तरोत्तर बारीक-बारीक कातने वाली अनुक्रम से विलम्ब से कातती हैं। इसी प्रकार यद्यपि पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है किन्तु उनकी पूर्णता अनुक्रम से होती है।

पर्याप्तियाँ औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में होती हैं और उनमें उनकी पूर्णता का क्रम इस प्रकार जानना चाहिए—

औदारिक शरीर वाला जीव पहली आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और इसके बाद दूसरी से लेकर छठी तक प्रत्येक अनुक्रम से एक-एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण कर लेते हैं और उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी से छठी पर्याप्ति अनुक्रम से एक-एक समय में पूरी करते हैं। लेकिन देव पाँचवीं और छठी इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

सूत्र में “भासामणपञ्जतीए” पद से सूर्याभद्रेव को पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त होने का संकेत देवों के पाँचवीं और छठी भाषा और मन-पर्याप्तियाँ एक साथ पूर्ण होने की अपेक्षा किया गया है।

सामानिक देवों द्वारा कृत्य-संकेत

१८७—तए यं तस्स सूरियाभस्त देवस्स सामाणियदरिसोववनगा देवा सूरियाभस्त देवस्स

इमेयारुवस्तुतिथियं जाव समुप्पन्नं समभिजाणिता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छति, सूरियाभं देवं करयल-परिगाहियं सिरसावसं मत्थाए अंजलि कट्टु जाएणं विजाए वद्वाविन्ति, वद्वाविता एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुपियाणं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणसि जिणवडिमाणं जिणस्सेहप्रमाण-मित्ताणं अद्वसयं संनिकिखत्तं चिद्वति, सभाए णं सुहम्माए माणवए चेष्टयबंभे वहरामएसु गोलबद्वसमुगाएसु बहुओ जिणसकहाओ संनिकिखत्ताशो चिट्ठति, ताओ णं देवाणुपियाणं अण्णेसि च बहुणं वेमाणियाणं देवाणं य देवीण य अच्चणिज्जात्ते प्राव षज्जुप्राविज्जाभो ।

तं एयं णं देवाणुपियाणं पुर्विक करणिज्जं, तं एयं णं देवाणुपियाणं पञ्चछाय करणिज्जं । तं एयं णं देवाणुपियाणं पुर्विक सेयं, तं एयं णं देवाणुपियाणं पञ्चछाय सेयं । तं एयं णं देवाणुपियाणं पुर्विक पि पञ्चछाय वि हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भविस्सति ।

? ८७—तत्पश्चात् उस सूर्यभिदेव की सामानिक परिषद् के देव सूर्यभिदेव के इस आन्तरिक विचार यावत् उत्पन्न संकल्प को अच्छी तरह से जानकर सूर्यभिदेव के पास आये और उन्होंने दोनों हाथ जोड़ आवत्तं पूर्वक मस्तक पर अंजलि करके जय-विजय शब्दों से सूर्यभिदेव को श्रभिनन्दन करके इस प्रकार कहा—

आप देवानुप्रिय के सूर्यभिविमान स्थित सिद्धायतन में जिनोत्सेघप्रमाण वाली एक सौ आठ जिन-प्रतिमायें विराजमान हैं तथा मुधर्मा सभा के माणवक—चैत्यस्तम्भ में वज्ररत्नमय गोल समुद्रगकों (डिब्बों) में बहुत-सी जिन-अस्थियां व्यवस्थित रूप से रखी हुई हैं । वे आप देवानुप्रिय तथा दूसरे भी बहुत से वैमानिक देवों एवं देवियों के लिए अचनीय यावत् पर्युपासनीय हैं ।

अतएव आप देवानुप्रिय के लिए उनकी पर्युगासना करने रूप कार्य करने योग्य है और यही कार्य पीछे करने योग्य है । आप देवानुप्रिय के लिए यह पहले भी श्रेय-रूप है और बाद में भी यही श्रेय रूप है । यही कार्य आप देवानुप्रिय के लिए पहले और पीछे भी हितकर, सुखप्रद, क्षेमकर, कल्याणकर एवं परम्परा से सुख का साधन रूप होगा ।

१८८—तए णं से सूरियाभे देवे तेसि सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्टं सोच्चा-निसम्म हट्टु-तुट्टु जाव (चित्तामाणंदिए-पीहमणे-परमसोमणस्सिए-हरिसवसक्रिसप्रमाण) हयहियए सयणिज्जाओ अबभुट्टेति, सयणिज्जाओ अबभुट्टेता उववायसभाओ पुरत्थिमिल्लेण दारेण तिगच्छइ, जेणेव हरए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छत्ता हरये अणुपयाहिणीकरेमाणे-अणुपयाहिणी-करेमाणे पुरत्थिमिल्लेण तोरणेण अणुपविसइ, अणुपविसत्ता पुरत्थिमिल्लेण तिसोवाणपद्धिरुवएणं पञ्चोरुहइ, पञ्चोरुहिता जलावगाहं जलमज्जणं करेइ, करिता जलकिह्डं करेइ, करिता जलाभिसेयं करेइ, करिता आयंते धोक्खे परमसूहभूए हरयाओ पञ्चोत्तरहइ, पञ्चोत्तरिता जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छत्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणुपयाहिणोकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेण दारेण अणुपविसइ, अणुपविसिता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता सीहासण-वरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने ।

१८९—तत्पश्चात् वह सूर्यभिदेव हृउन सामानिकपरिषदोपगत देवों से इस अर्थ—बात को सुनकर और हृदय में अवधारित-मनन कर हृषित, सन्तुष्ट यावत् (चित्त में आनन्दित, अनुरागी, परम-

प्रसन्न, हर्षातिरेक से चिकित्सित) हृदय होता हुआ शश्या से उठा और उठकर उपपात सभा के पूर्व-दिग्बर्ती द्वार से निकला, निकलकर हृदय (जल-शय—ओसाब) पर आया, आकर हृदय की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशावर्ती तोरण से होकर उसमें प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर पूर्वदिशावर्ती त्रिसोपान वंकि से नीचे उतरा, उतर कर जल में अवगाहन और जलमञ्जन (स्नान) किया, जल-मञ्जन करके जलक्रीड़ा की, जलक्रीड़ा करके जलाभिषेक किया, जलाभिषेक करके आचमन (कुल्ला आदि) द्वारा अत्यन्त स्वच्छ और शुचिभूत-शुद्ध होकर हृदय से बाहर निकला, निकल कर जहाँ अभिषेकसभा थी वहाँ आया, वहाँ आकर अभिषेकसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशावर्ती द्वार से उसमें प्रविष्ट हुआ, प्रविष्ट होकर सिंहासन के समीप आया और आकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया ।

सूर्यभिदेव का अभिषेक-महोत्सव

१८९.—तए णं सूरियाभस्त देवस्त सामाणियपरिसोबवन्नगा देवा आभिओगिए देवे सद्वावेति, सद्वावित्ता एवं व्यासो—

खिप्पामेव भो देवाणुपिया ! सूरियाभस्त [देवस्त महत्वं महाघं महरिहं विउलं इवामिसेयं उवटुवेह ।

१९०—तदनन्तर सूर्यभिदेव की सामानिक परिषद् के देवों ने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर उनसे कहा—

देवानुप्रियो ! तुम लोग शोश्र हो सूर्यभिदेव का अभिषेक करने हेतु महान् अर्थ वाले महर्षे (बहुमूल्य) एवं महापुरुषों के योग्य विपुल इन्द्राभिषेक की सामग्री उपस्थित करो—तैयार करो ।

१९०—तए णं ते आभिओगिआ देवा सामाणियपरिसोबधन्नेहि देवेहि एवं बुत्ता समाणा हट्ट जाव हिप्या करयलपरिमाहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टु 'एवं देवो ! तह' ति आणगए विणएण वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता उत्तरपुरतिथमं दिसीभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरतिथमं दिसीभागं ग्रवदक-मित्ता वेउवियसमुद्घाएणं समोहणंति ।

समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव^१ दोच्चं पि वेउवियसमुद्घाएणं समोहणित्ता अट्ट-सहस्रं सोवन्नियाणं कलसाणं, अट्टसहस्रं रूप्यमयाणं कलसाणं, अट्टसहस्रं मणिमयाणं कलसाणं, अट्ट-सहस्रं सुवन्नभणिमयाणं कलसाणं, अट्टसहस्रं रूप्यमणिमयाणं कलसाणं, अट्टसहस्रं सुवण्णरूप्यमणि-मयाणं कलसाणं अट्टसहस्रं सोमिज्जाणं कलसाणं एवं मिगाराणं, आवंसाणं थालाणं, पाईणं, सुपत्तिद्वाणं वायकरगाणं, रथणकरंडगाणं, पुण्फचंगेरीणं, जाव^२ लोमहत्थचंगेरीणं, पुण्फपडलगाणं जाव लोमहत्थ-पडलगाणं, सीहासणाणं, छत्ताणं, चामराणं, तेलसमुगाणं जाव^३ अंजणसमुगाणं, जयाणं, अट्टसहस्रं धूषकदुच्छुयाणं विउव्यंति ।

विउवित्ता ते साभाविए य वेउवियस जाव कट्टुच्छृए य गिणंति, गिणित्ता सूरिया-भाजो विमाणाओं पडिनिकखमंति, पडिनिकखमिसा ताए उविकट्टुए चबलाए जाव^४ तिरियमसंखेज्जाणं जाव^५ वीतिवयमरणे-वीतिवयमाणे जेणेव खोरोदयसमुद्दे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता खोरोयगं

१. देखें सूत्र संख्या १३ २. देखें सूत्र संख्या १३२ ३. देखें सूत्र संख्या १३२
४-५ देखें सूत्र संख्या १३

गिष्ठंति, जाइं तत्थुप्पलाइं ताइं गेण्हंति जाव (पञ्चमाइं, कुमुयाइं, नलिणाइं सुभगाइं, सोगंधियाइं, पोङ्डरियाइं, महापोङ्डरियाइं) सयसहस्रपत्ताइं गिष्ठंति ।

गिष्ठिता जेणेव पुक्खरोदए समुद्रे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता पुक्खरोदयं गेण्हंति, जाइं तत्थुप्पलाइं सयसहस्रपत्ताइं ताइं जाव गिष्ठंति । गिष्ठिता समयखेते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागहवरदाम-पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छता तित्थोदगं गेण्हंति, गेण्हेता तित्थभट्टियं गेण्हंति ।

गेण्हिता जेणेव गंगा-सिंधु-रत्ता-रसवईओ महानईओ तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हिता उभओकूलमट्टियं गेण्हंति ।

मट्टियं गेण्हिता जेणेव चुल्लहिमवंत-सिहरीवासहरपवया तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छता इगं गेण्हंति, सव्वसुयरे सव्वपुण्के, सव्वगंधे, सव्वमल्ले, सव्वोसहिसिद्धत्यए गिष्ठंति, गिष्ठिता जेणेव पञ्चपुँडरीयवहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता दहोदगं गेण्हंति, गेण्हिता जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सयसहस्रपत्ताइं ताइं गेण्हंति ।

गेण्हिता जेणेव हेभवएरवयाइं वासाइं जेणेव रोहिय-रोहियंसा-सुखणकूल-रप्पकूलाओ महाण-ईओ तेणेव उवागच्छति, सलिलोदगं गेण्हंति, गेण्हिता उभओकूलमट्टियं गिष्ठंति, गिष्ठिता जेणेव सद्वावाति-षियङ्गावातिपरियागा बटुवेयद्वृपवया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सद्वतूयरे तहेव ।

जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपवया तेणेव उवागच्छन्ति तहेव, जेणेव महापउय-सहापुँडरीय-दहा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता दहोदगं गिष्ठंति तहेव ।

जेणेव हरिवास-रम्मगवासाइं जेणेव हरिकंत-नारिकंताओ महाणईओ, तेणेव उवागच्छति तहेव, जेणेव गंधावाइमालवंतपरियाया बटुवेयद्वृपवया तेणेव तहेव ।

जेणेव णिसढणोलवंतवासधरपवया तहेव, जेणेव तिगिच्छ-केसरिद्वहाओ तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता तहेव ।

जेणेव महाविद्वेहे वासे जेणेव सीता-सीतोदाओ महाणदीओ तेणेव तहेव ।

जेणेव सव्वधकवट्टिविजया जेणेव सव्वमागह-वरदाम-पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छता तित्थोदगं गेण्हंति, गेण्हिता सव्वंतरणईओ जेणेव सव्वधकवट्टिरपवया तेणेव उवागच्छति, सद्वतूयरे तहेव ।

जेणेव मंदरे पव्वते जेणेव भद्रसालवणे तेणेव उवागच्छति सद्वतूयरे सव्वपुण्के सव्वमल्ले सव्वो-सहिसिद्धत्यए य गेण्हंति, गेण्हिता जेणेव णंदणक्षणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सद्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्यए य सरसगोसीसचंदणं गिष्ठंति, गिष्ठिता जेणेव सोमणसक्षणे तेणेव उवागच्छति सद्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्यए य सरसगोसीसचंदणं च दिव्यं च सुमणदामं गिष्ठंति, गिष्ठिता जेणेव पंडगक्षणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सद्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्यए च सरसं च गोसीसचंदणं च दिव्यं च सुमणदामं वहरमलयसुगंधियगंधे गिष्ठंति ।

गिणिहस्ता एगतो मिलायंति मिलाइत्ता ताए उक्तिकद्गुण जाव^१ जेणेव सोहम्मे कव्ये जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव अभिसेयसभा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उचागच्छत्ति, उचागच्छत्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्रहियं सिरसावसं मत्यए अंजलि कद्गु जएण विजएण वद्वाविति वद्वाविता तं महत्यं महाग्नं महरिहं विउल इंदाभिसेयं उवहृत्वेति ।

१९०—तत्पश्चात् उन आभियोगिक देवों ने सामानिक देवों की इस आज्ञा को सुनकर हृषित यावत् विकसित हृदय होते हुए दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके 'देव ! बहुत अच्छा ! ऐसा ही करेंगे' कहकर विनय पूर्वक आज्ञा-बचनों को स्वीकार किया । स्वीकार करके वे उत्तरपूर्व दिम्भाग में गये और उस उत्तरपूर्व दिम्भाग (ईशानकोण) में जाकर उन्होंने वैक्रिय समुद्रधात किया ।

वैक्रिय समुद्रधात करके संख्यात योजन का दण्ड बनाया यावत् पुनः दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्रधात करके एक हजार आठ स्वर्णकलशों की, एक हजार आठ रुप्यकलशों की, एक हजार आठ मणिमय कलशों की, एक हजार आठ स्वर्ण-रजतमय कलशों की, एक हजार आठ स्वर्ण-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ रजत-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ स्वर्ण-रुप्य-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ भौमेष (मिट्टी के) कलशों की एवं इसी प्रकार एक हजार आठ—एक हजार आठ भूंगारों, दर्पणों, थालों, पात्रियों, सुप्रतिष्ठानों वातकरकों, रत्नकरंडकों, पुष्पचंगेरिकाओं यावत् मयूरपिच्छचंगेरिकाओं, पुष्पपटलकों यावत् मयूरपिच्छपटलकों, सिंहासनों, छत्रों, चामरों, तेल-समुद्रगकों यावत् अंजनसमुद्रगकों, छवजाओं, धूपकडुच्छकों (धूपदानों) की विकुर्वणा (रचना) की ।

विकुर्वणा करके उन स्वाभाविक और विक्रियाजन्य कलशों यावत् धूपकडुच्छकों को अपने-अपने हाथों में लिया और लेकर सूर्यभविमान से बाहर निकले । निकलकर अपनी उत्कृष्ट चपल दिव्य गति से यावत् तिर्यक् लोक में असंख्यात योजनप्रमाण क्षेत्र को उलांघते हुए जहाँ क्षीरोदधि समुद्र था, वहाँ आये । वहाँ आकर कलशों में क्षीरसमुद्र के जल को भरा तथा वहाँ के उत्पल यावत् (पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सींगधिक, पुंडरीक, महापुण्डरीक) शतपत्र, सहस्रपत्र कमलों को लिया ।

कमलों आदि को लेकर जहाँ पुष्करोदक समुद्र था वहाँ आये, आकर पुष्करोदक को कलशों में भरा तथा वहाँ के उत्पल शतपत्र सहस्रपत्र शादि कमलों को लिया ।

तत्पश्चात् जहाँ मनुष्यक्षेत्र था और उसमें भी जहाँ भरत-ऐरवत क्षेत्र थे, जहाँ मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ थे वहाँ आये और आकर उन-उन तीर्थों के जल को भरा और वहाँ की मिट्टी ग्रहण की ।

इस प्रकार से तीर्थोदक और भूत्तिका को लेकर जहाँ गंगा, सिन्धु, रक्ता रक्तवती महानदियाँ थीं, वहाँ आये । आकर नदियों के जल और उनके दोनों तटों की मिट्टी को लिया ।

नदियों के जल और मिट्टी को लेकर चुल्लहिमवंत और शिखरी वर्षधर पर्वत पर आये । वहाँ आकर कलशों में जल भरा तथा सर्व ऋतुओं के श्रेष्ठ—उत्तम पुष्पों, समस्त गंधद्रव्यों, समस्त पुष्पसमूहों और सर्व प्रकार की श्रीषधियों एवं सिद्धार्थकों (सरसों) को लिया और फिर पद्मद्रह एवं पुंडरीकद्रह पर आये । यहाँ आकर भी पूर्ववत् कलशों में द्रह-जल भरा तथा सुन्दर श्रेष्ठ उत्पल यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों को लिया ।

इसके पश्चात् फिर जहाँ हैमवत् और ऐरण्यवत् क्षेत्र थे, जहाँ उन दोनों क्षेत्रों की रोहित, रोहितासा तथा स्वर्णकूला और रुप्यकला महानदियाँ थीं, वहाँ आये और कलशों में उन नदियों का जल भरा तथा नदियों के दोनों तटों की मिट्टी ली। जल मिट्टी को लेने के पश्चात् जहाँ शब्दापाति विकटापाति वृत्त वैतादृश पर्वत थे, वहाँ आये। आकर सर्वतः कृतुओं के उत्तमोत्तम पुष्पों आदि को लिया।

वहाँ से वे महाहिमवत् और रुक्मि वर्षधर पर्वत पर आये और वहाँ से जल एवं पुष्प आदि लिये, फिर जहाँ महापद्म और महापुण्डरीक द्रह थे, वहाँ आये। आकर द्रह जल एवं कमल आदि लिये।

तत्पश्चात् जहाँ हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्र थे, हरिकांता और नारिकांता महानदियाँ थीं, गंधापाति, माल्यवत् और वृत्तवैतादृश पर्वत थे, वहाँ आये और इन सभी स्थानों से जल, मिट्टी, औषधियाँ एवं पुष्प लिये।

इसके बाद जहाँ निषध, तोल नामक वर्षधर पर्वत थे, जहाँ तिर्गिष्ठ और केसरीद्रह थे, वहाँ आये, वहाँ आकर उसी प्रकार से जल आदि लिया।

तत्पश्चात् जहाँ महाविदेह क्षेत्र था जहाँ सीता, सीतोदा महानदियाँ थीं वहाँ आये और उसी प्रकार से उनका जल, मिट्टी, पुष्प आदि लिये।

फिर जहाँ सभी चक्रवर्तीं विजय थे, जहाँ मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ थे, वहाँ आये, वहाँ आकर तीर्थोदक लिया और तीर्थोदक लेकर सभी अन्तर-नदियों के जल एवं मिट्टी को लिया फिर जहाँ वधस्कार पर्वत थे वहाँ आये और वहाँ से सर्व कृतुओं के पुष्पों आदि को लिया।

तत्पश्चात् जहाँ मन्दर पर्वत के ऊपर भद्रशाल बन था वहाँ आये, वहाँ आकर सर्व कृतुओं के पुष्पों, समस्त औषधियों और सिद्धार्थकों को लिया। लेकर वहाँ से नन्दनबन में आये, आकर सर्व कृतुओं के पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थकों (सरसों) और सरस गोशीर्ष चन्दन को लिया। लेकर जहाँ सीमनस बन था, वहाँ आये। आकर वहाँ से सर्व कृतुओं के उत्तमोत्तम पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थकों, सरस गोशीर्ष चन्दन और दिव्य पुष्पमालाओं को लिया, लेकर पांडुक बन में आये और वहाँ आकर सर्व कृतुओं के सर्वोत्तम पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थकों, सरस गोशीर्ष चन्दन, दिव्य पुष्पमालाओं, दर्दरमलय चन्दन की सुरभि गंघ से सुगन्धित गंध-द्रव्यों को लिया।

इन सब उत्तमोत्तम पदार्थों को लेकर वे सब आभियोगिक देव एक स्थान पर इकट्ठे हुए और फिर उत्कृष्ट दिव्यगति से यावत् जहाँ सौधर्म कल्प था और जहाँ सूर्यभिविमान था, उसकी अभियेक सभा थी और उसमें भी जहाँ सिंहासन पर बैठा सूर्यभिदेव था, वहाँ आये। आकर दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके सूर्यभिदेव को 'जय हो विजय हो' शब्दों से बधाया और बधाई देकर उसके आगे महान् अर्थ बाली, महा मूल्यवान्, महान् पुरुषों के योग्य विपुल इन्द्राभिषेक की सामग्री उपस्थित की—रखी।

१९१—तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाण्यसाहस्रोओ, चत्तारि अगमहिस्रोओ सपरिवाराओ, तिन्नि परिसाओ, सत्त अणियाह्विइणो जाव अन्नेवि वहुवे सूरियाभविमाणवासिणो देवा य देवीओ य तेहि सामाविएहि य वेऽविष्वर्णहि य वरकमलपद्माणेहि य सुरभिवरवारियडिपुन्नेहि चंचण-

स्तुतविषयाणं कलसाणं जाव अटुसहस्रेण मोमिज्जाणं कलसाणं सब्बोदधिः सव्वजड्हियाहि सव्वसूधरेति जाव सब्बोदसहिस्त्वाएहि य सव्विवद्धोए जाव वाइएणं महया-महया इंद्राभिसेषणं अभिसिञ्चन्ति ।

१९१—तत्पश्चात्—अभिषेक की सामग्री आ जाने के बाद चार हजार सामानिक देवों, परिवार सहित चार अग्रमहिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनीकाधिपतियों यावत् अन्य दूसरे बहुत से देवों-देवियों ने उन स्वाभाविक एवं विकिया शक्ति से निष्पादित—बताये गये श्रेष्ठ कमलपुष्टों पर संस्थापित, सुगंधित शुद्ध श्रेष्ठ जल से भरे हुए, चन्दन के लेप से चचित, पंचरंगे सूत-कलावे से आविष्ट बन्धे-लिपटे हुए कंठ वाले, पदम् (सूर्यविकासी कमलों) एवं उत्पल (चन्द्रविकासी कमलों) के ढक्कनों से ढाँके हुए, सुकुमाल कोमल हाथों से लिये गये और सभी पवित्र स्थानों के जल से भरे हुए एक हजार आठ स्वर्ण कलशों यावत् एक हजार आठ मिट्टी के कलशों, सब प्रकार की मूर्तिका एवं क्रतुओं के पुष्टों, सभी काषायिक सुगंधित द्रव्यों यावत् आ॒षधियों और सिद्धार्थको—सरसों से महान् अहङ्कार यावत् वाच्यघोषों पूर्णक सूर्यभि देव को अतीव गौरवशाली उच्चकोटि के इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त किया ।

अभिषेककालीन देवोल्लास

१९२—तए णं तस्त सूरियाभस्त देवस्त सहया-महया इणाभिसेष बट्टमाणे अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं नच्चोथयं नातिमट्टयं पविरल-फुसियरेणुविणासणं विव्यं सुरभिशंधोदगं वासं वासंति, अप्येगतिया देवा हयरयं, नद्धरयं, भदुरयं, उवसंतरयं, पसंतरयं करेति, अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं याणाविहरागोसियं शयपडागाइपडागमंजियं करेति, अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं लाउल्लोइमहियं, गोसोससरस-रत्तचंदणदद्वरविण्णपंचंगुलितलं करेति, अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं उवचियचंदणकलसं चंदण-घडसुक्यतोरणपडिदुवारदेसभागं करेति, अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं आसत्तोसत्तविडलबट्ट-बग्धारियमल्लदामकलावं करेति, अप्येगतिया देवा सूरियाभं विमाणं पंचवण्णसुरभिसुक्कपुष्टपुंजो-बयारकलियं करेति, अप्येगतिया सूरियाभं विमाणं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कसुरुक्कद्युवमध्यमध्यंतगंधुदधूया-भिराम करेति, अप्येगद्वितया देवा सूरियाभं विमाणं सुगंधगंधियं गंधशट्टिभूतं करेति ।

अप्येगतिया देवा हिरण्णवासं वासंति, सुवण्णवासं वासंति, रथयवासं वासंति, वहरवासं १ पुष्टवासं० फलवासं० मल्लवासं० गंधवासं० चुणवासं० आभरणवासं० वासंति । अप्येगतिया देवा हिरण्णविहि भाएंति, एवं सुखनविहि भाएंति रथणविहि, पुष्टविहि, फलविहि, मल्लविहि चुणविहि वत्थविहि गंधविहि, तत्य अप्येगतिया देवा आभरणविहि भाएंति ।

अप्येगतिया चउविधहं वाइति-तत्त-वितत-घण-सुसिरं, अप्येगद्वया देवा चउविधहं गेयं गाथंति तं०— उविखसायं-पायसायं-भंदायं-रोइतावसाणं, अप्येगतिया देवा दुयं नद्वविहि उवर्वसिति, अप्येगतिया विलंबियणदृविहि उवदंसेति, अप्येगतिया देवा दुतविलंबियं णदृविहि उवदंसेति, एवं अप्येगतिया अंचियं नद्वविहि उवदंसेति, अप्येगतिया देवा आरभटं, भसोलं, आरभडभसोलं उप्यायनिवाय-

१. ‘वासंति’ शब्द का सूचक है तथा भाएंति शब्द का भी संकेत किया गया है । संदर्भनुसार उस उस शब्द को ग्रहण करना चाहिये ।

पथसं संकुचियपसारियं, रियारियं भंतसंभंतणाम् दिव्यं शट्टविंहृ उवदंसेति, अप्येगतिया देवा अडविवहृ अभिणयं अभिणयंति, तं जहा—विद्वं तियं-पाढ़तियं-सामंतोवणिवाइयं-स्लोगअंतोमजसावसाणियं ।

अप्येगतिया देवा शुक्कारेति, अप्येगतिया देवा पीणेति, अप्येगतिया लासेति, अप्येगतिया हृष्कारेति, अप्येगतिया विणेति, तंडवेति, अप्येगतिया वग्नेति, अप्फोडेति, अप्येगतिया अफोडेति, वग्नंति, अप्ये०^१ तिवइं छिवेति, अप्येगतिया हृष्वहेसियं करेति, अप्येगतिया हृतिशुलगुलाइयं करेति, अप्येगतिया रु-वाम्बाह्याइयं करेति, अप्येगतिया हृष्वहेसिय-हृतिशुलगुलाइय-रहृघणाघणाइयं करेति, अप्येगतिया उच्छुलेति, अप्येगतिया पोच्छुलेति, अप्येगतिया उक्किट्टियं करेति, अ०^२ उच्छुलेति, पोच्छुलेति, अप्येगतिया तिन्नि वि, अप्येगंतिया उवयंति, अप्येगतिया उप्यंति, अप्येगतिया परिवयंति, अप्येगतिया तिन्नि वि, अप्येगइया सीहनायंति अप्येगतिया दद्रयं करेति, अप्येगतिया भूमिक्षबेदं दश्यंति अप्ये० तिन्नि वि, अप्येगतिया गज्जंति, अप्येगतिया चिज्जुयायंति, अप्येगइया वासं वासंति, अप्येगतिया तिन्नवि करेति, अप्येगतिया जलंति अप्येगतिया तवंति, अप्येगतिया पतवेति, अप्येगतिया तिन्नि वि, अप्येगतिया हृष्कारेति अप्येगतिया शुक्कारेति, अप्येगतिया धृक्कारेति, अप्येगतिया साइं साइं नामाइं साहेति, अप्येगतिया चसारि वि, अप्येगइया देवा देवसन्निवायं करेति, अप्येकेतिया वेवुज्जोयं करेति, अप्येगइया देवुक्कलियं करेति, अप्येगइया देवा कहकहं करेति, अप्येगतिया देवा चुहुहुहं करेति, अप्येगतिया चेलुक्केवं करेति, अप्येगइया देवसन्निवाय-वेवुज्जोय-देवुक्कलिय-देवकहकहं-देव-चुहुहुहं-चेलुव्वेवं करेति, अप्येगतिया उप्पलहृत्यगया जाव सयसहसपत्तहृत्यगया, अप्येगतिया कलसहृत्यगया जार धूषक्कुच्छुयहृत्यगया हट्ट-तुहु जाव हियया सञ्चतो समंता आहावंति परिधावंति ।

१९२—इस प्रकार के महिमाशाली महोत्सवपूर्वक जब सूर्याभिषेक का इन्द्राभिषेक हो रहा था, तब कितने ही देवों ने सूर्यभि विमान में इस प्रकार से भरमर-भरमर विरल नन्हीं-नन्हीं बूंदों में अतिशय सुगंधित गंधोदक की वर्षा बरसाई कि जिससे वहाँ की धूलि दब गई, किन्तु जमीन में पानी नहीं फैला और न कीचड़ हुआ । कितने ही देवों ने सूर्यभि विमान को भाड़-बुहार कर हतरज, नष्टरज, ऋष्टरज, उपशांतरज और प्रशांतरज बाला बना दिया । कितने ही देवों ने सूर्यभि विमान की गलियों, बाजारों और राजमार्गों को पानी से भीचकर, कचरा वर्गीरह भाड़-बुहार कर और गोबर से लीपकर साफ किया । कितने ही देवों ने मन्त्र बनाये एवं मन्त्रों के ऊपर भी मन्त्रों की रचना कर सूर्याभि विमान को सजाया । कितने ही देवों ने विविध प्रकार की रंग-बिरंगी छवजाओं, पताकाति-पताकाओं से मंडित किया । कितने ही देवों ने सूर्याभि विमान को लीप-पोतकर स्थान-स्थान पर सरस गोरोचन और रक्त दर्दर चंदन के हाथे लगाये । कितने ही देवों ने सूर्याभि विमान के छारों को चंदन-चर्चित कलशों से बने तोरणों से सजाया । कितने ही देवों ने सूर्याभि विमान को ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लंबी-लंबी गोल मालाओं से विभूषित किया । कितने ही देवों ने पंचरगे सुगंधित पुष्पों को बिखेर कर मांडने मांडकर सुशोभित किया । कितने ही देवों ने सूर्याभि विमान को कृष्ण अमर, श्रेष्ठ कुन्दरुष्क तुरुष्क और धूप की मधमधाती सुगंध से मनमोहक बनाया । कितने ही देवों ने सूर्याभि विमान को सुरभि गंध से व्याप्त कर सुगंध की गुटिका जैसा बना दिया ।

किसी ने चाँदी की वर्षा बरसाई तो किसी ने सोने की, रत्नों की, बज्र रत्नों की, पुष्पों की,

१. अप्ये. शब्द 'अप्येगतिया' का सूचक है ।

फलों की, पुष्पमालाओं की, गंध द्रव्यों की, सुगन्धित चूर्ण की और किसी ने आभूषणों की वर्षा बरसाई।

कितने ही देवों ने एक दूसरे को भेट में चांदी दी। हसी प्रकार से किसी ने आपस में एक दूसरे को स्वर्ण, रत्न, पुष्प, फल, पुष्पमाला, सुगन्धित चूर्ण, वस्त्र, गंध द्रव्य और आभूषण भेट रूप में दिये।

कितने ही देवों ने तत, वितत, घन और शुषिर, इन चार प्रकार के वाद्यों को बजाया। कितने ही देवों ने उत्किष्ट, पादान्त, मंद एवं रोचितावसान से चार गान के शंखीन गाए। किसी ने द्रुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया तो किसी ने विलंबित नाट्यविधि का एवं द्रुतविलंबित नाट्यविधि और किसी ने अंचित नाट्यविधि दिखलाई। कितने ही देवों ने आरभट, कितने ही देवों ने भसोल, कितने ही देवों ने आरभट-भसोल, कितने ही देवों ने उत्पात-निपातप्रवृत्त, कितने ही देवों ने संकुचित-प्रसारित-रितारित और कितने ही देवों ने भ्रांत-संभ्रांत नामक दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित की। किन्हीं किन्हीं देवों ने दाष्टान्तिक, प्रात्यान्तिक, सामन्तोपनिपातिक और लोकान्तमध्यावसानिक इन चार प्रकार के अभिनयों का प्रदर्शन किया।

साथ ही कितने ही देव हृषीतिरेक से बकरे-जैसी बुकबुकाहट करने लगे। कितने ही देवों ने अपने शरीर को फुलाने का दिखावा किया। कितनेक नाचने लगे, कितनेक हृक-हृक की आवाजें लगाने लगे। कितने ही लम्बी-लम्बी दौड़ दौड़ने लगे। कितने ही गुनगुनाने लगे। कितने ही तांडव नृत्य करने लगे। कितने ही उछलने के साथ ताल ठोकने लगे और कितने ही ताली बजा-बजाकर कूदने लगे। कितने ही तीन पैर की दौड़ लगाने, कितने ही घोड़े जैसे हिनहिनाने लगे। कितने ही हाथी जैसी गुलगुलाहट करने लगे। कितने ही रथ जैसी घनघनाहट करने लगे और कितने ही कभी घोड़ों की हिनहिनाहट, कभी हाथी की गुलगुलाहट और रथों की घनघनाहट जैसी आवाजें करने लगे। कितनेक ने ऊँची छलांग लगाई, कितनेक और अधिक ऊपर उछले। कितने ही हृषीत्वनि करने लगे। हृषित हो किलकारिया करने लगे। कितने उछले और अधिक ऊपर उछले और साथ ही हृषीत्वनि करने लगे। कोई ऊपर से नीचे, कोई नीचे से ऊपर और कोई लम्बे कूदे। किसी ने नीची-ऊँची और लंबी—तीनों तरह की छलांगें मारी। कितनेक ने सिह जैसी गर्जना की, कितनेक ने एक दूसरे को रंग-गुलाल से भर दिया, कितनेक ने भूमि को थपथपाया और कितनेक ने सिहनाद किया, रंग-गुलाल उड़ाई और भूमि को भी थपथपाया। कितने ही देवों ने मेघों की गङ्गाहड़ाहट, कितने ही देवों ने बिजली की चमक जैसा दिखावा किया और किन्हीं ने वर्षा बरसाई। कितने ही देवों ने मेघों के गरजने चमकने और बरसने के दृश्य दिखाये। कुछ एक देवों ने गरमी से आकुल-व्याकुल होने का, कितने ही देवों ने तपने का, कितने ही देवों ने विशेष रूप से तपने का तो कितने ही देवों ने एक साथ इन तीनों का दिखावा किया। कितने ही हृक-हृक, कितने ही थक-थक कितने ही धक-धक जैसे शब्द और कितने ही अपने-अपने नामों का उच्चारण करने लगे। कितने ही देवों ने एक साथ इन चारों को किया। कितने ही देवों ने टोलियां (समूह, झुंड) बनाई, कितने ही देवों ने देवोद्योत किया, कितने ही देवों ने रुक-रुक कर बहने वाली वाततरंगों का प्रदर्शन किया। कितने ही देवों ने कहकहे लगाये, कितने ही देव दुहदुहाहट करने लगे, कितनेक देवों ने वस्त्रों की बरसा की और कितने ही देवों ने टोलियाँ बनाई, देवोद्योत किया देवोत्कलिका की, कहकहे लगाये, दुहदुहाहट की और वस्त्रवर्षा की। कितनेक

देव हाथों में उत्पल यावत् शतपत्र सहस्रपत्र कमलों को लेकर, कितने ही हाथों में कलश यावत् धूप दोनों को लेकर हृषित सन्तुष्ट यावत् हर्षातिरेक से विकसितहृदय होते हुए इधर-इधर चारों ओर दोड़-धूप करने लगे।

विवेचन —प्रस्तुत सूत्र में उल्लास और प्रमोद के समय होने वाली मानसिक वृत्तियों एवं हर्षातिरेक के कारण की जाने वाली प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया है। उपर्युक्त वर्णन में प्रदर्शित चेष्टाओं के चित्र हमें तथौहारों-मेलों आदि के अवसरों पर देखने को मिलते हैं, जब बालक से लेकर बूढ़ जन तक सभी अपने-अपने पद और मर्यादा को भूलकर मस्ती में रम जाते हैं।

१९३—तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्रीओ जाव॑ सोलस आयरक्खदेव-साहस्रोप्रो अण्णे य बहुवे सूरियाभरायहाणिवस्थव्या देवा य देवीओ य महया महया इवाभिसेगेण अभिसिचंति, अभिसिचित्ता पत्तेयं-पत्तेयं करयलपरिगत्यं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टु एवं वयासी—

जय जय नंदा ! जय जय भद्रा ! जय जय नंदा ! भद्रं ते, अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि, जियमज्ज्ञे वसाहि, हृदो इव देवाणं, चंदो इव ताराणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, भरहो इव मणुयाणं बहुइं पलिओवमाइं, बहुइं सागरोवमाइं बहुइं पलिओवमसागरोवमाइं, चउहुं सामाणिय-साहस्रीणं जाव आयरक्खदेवसाहस्रीणं सूरियाभस्स विमाणस्स अन्नेति च बहुणं सूरियाभविमाण-वासीणं देवाण य देवीण य आहेवचं जाव (पोरेवडं-सामित्तं-भद्रित्तं-महत्तरगतं-आणाईसरसे-णावचं) महया महयाहयनहू० कारिमाणं पालेमाणं विहराहे तं कट्टु जय जय सहूं पञ्जंति ।

१९३—तत्पश्चात् चार हजार सामानिक देवों यावत् सपरिवार चार अग्रमहिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनीकाधिपतियों, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा दूसरे भी बहुत से सूर्यभि राजशानी में वास करने वाले देवों और देवियों ने सूर्यभिदेव को महान् महिमाशाली इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त किया। अभिषेक करके प्रत्येक ने दोनों हाथ जोड़कर आवतंगूर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—

हे नन्द ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! हे भद्र ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! तुम्हारा भद्र—कल्याण हो ! हे जगदानन्दकारक ! तुम्हारी बारंबार जय हो ! तुम न जीते हुओं को जीतो और विजितों (जीते हुओं) का पालन करो, जितों—शिष्ट आचार वालों के भृत्य में निवास करो। देवों में इन्द्र के समान, ताराओं में चन्द्र के समान, अमुरों से चमरेन्द्र के समान, नागों में धरणेन्द्र के समान, मनुष्यों में भरत घक्कवर्ती के समान, अनेक पल्योपमों तक, अनेक सागरोपमों तक, अनेक-अनेक पल्योपमों-सागरोपमों तक, चार हजार सामानिक देवों यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा सूर्यभि विमान और सूर्यभि विमानवासी अन्य बहुत से देवों और देवियों का बहुत-बहुत अतिशय रूप से आश्रिपत्य (शासन) यावत् (पुरोवर्तित्व), (प्रमुखत्व) भर्तृत्व, (पोषकत्व) महत्तरकत्व, एवं अशेषवरत्व, सेनापतित्व) करते हुए, पालन करते हुए विचरण करो।

इस प्रकार कहकर पुनः जय जयकार किया ।

अभिषेकानंतर सूर्योभिदेव का अलंकरण

१९४—तए ण से सूरियामे देवे महया महया इदाभिसेगेण अभिसित्ते समाणे अभिसेयसभाओ चुरत्यमिलेण वारेण निगच्छति, निगच्छता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता अलंकारियसभे अणुप्याहिणीकरेमाणे करेमाणे अलंकारियसभे पुरत्यमिलेण वारेण अणुपविलति, अणुपविलता जेणेव साहासणे तेणेव उवागच्छति साहासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सश्रितन्ते ।

१९४—अतिशय महिमाशाली इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त होने के पश्चात् सूर्योभिदेव अभिषेक सभा के पूर्व-दिशावर्ती द्वार से बाहर निकला, निकलकर जहाँ अलंकार-सभा थी वहाँ आया । आकर अलंकार-सभा की अनुप्रदक्षिणा करके पूर्व दिशा के द्वार से अलंकार-सभा में प्रविष्ट हुआ । प्रविष्ट होकर जहाँ सिहासन था, वहाँ आया और आकर पूर्व की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिहासन पर आरूढ़ हुआ ।

१९५—तए ण तस्त सूरियाभस्त देवस्त सामाणियपरिसोबवन्नगा अलंकारियभंडे उबटुबैति ।

तए ण से सूरियामे देवे तप्यद्वमयाए पम्हसल्लमालाए सुरभीए गंधकासाईए गायाइ लूहेति लूहिता सरसेण गोसीसचंदणेण गायाइ अणुलिपति, अणुलिपिता नासानीसासवायबोज्जनं चक्षुहरं वश्वकरिसजुलं हयलालापेसवातिरेण ध्वलं कणगच्छियन्तकम्मं आगासफालियसमप्यभं दिव्वं देवदूस-जुयलं नियंतेति, नियंतेता हारं पिणद्वेति, पिणद्वता अद्वहारं पिणद्वेइ, एगावलि पिणद्वेति, पिणद्विता भुतावलि पिणद्वेति पिणद्विता, रथणावलि पिणद्वेइ, पिणद्विता एवं अंगयाइ केयूराइ कडगाइ तुडियाइ कडिसुतगं दसमुदाणंतगं वज्ज्वलुतगं मुरव्वि कंठमुरवि पालंबं कुंडलाइ चूडामणि भउइ पिणद्वेइ, गंथिम-वेण्डिम-पूरिम-संघाइमेण चउडिवहेण महलेण कष्यस्वक्षणगं पित्र अप्याणं अलंकियविभूसियं करेइ, करित्ता दहर-मलय-सुगंधगंधिएहि गायाइ भुखंडेइ दिव्वं च सुमणदामं पिणद्वेइ ।

१९५—तदनन्तर उस सूर्योभि देव की सामानिक परिषद् के दंवों ने उसके सामने अलंकार—भांड उपस्थित किया ।

इसके बाद सूर्योभिदेव ने सर्वप्रथम रोमयुक्त सुकोमल काषायिक सुरभि गंध से सुवासित वस्त्र से शरीर को पोछा । पोछकर शरीर पर सरस गोशीर्ष चंदन का लेप किया, लेप करके नाक की निःश्वास से भी उड़ जाये, ऐसा अति बारीक नेत्राकषेक, सुदर वर्ण और स्पर्ण वाले, घोड़े के थूक (लार) से भी अधिक सुकोमल, ध्वल जिनके पल्लों और किनारों पर सुनहरी बेलजूटे बने हैं, आकाश एवं स्फटिक मणि जैसी प्रभा वाले दिव्य देवदूष्य (वस्त्र) युगल को धारण किया । देवदूष्य युगल धारण करने के पश्चात् गले में हार पहना, अर्धहार पहना, एकावली पहनी, मुक्ताहार पहना, रत्नावली पहनी, एकावली पहन कर भुजाओं में अगद, केयूर (बाजूबंद) कड़ा, वुटित, करधनी, हाथों की दशों अंगुलियों में दस अंगूठियाँ, वक्षसूत्र, मुरवि (मादलिया), कंठमुरवि (कंठी), प्रालंब (झूमके), कानों में कुंडल पहने तथा मस्तक पर चूडामणि (कलगी) और मुकुट पहना । इन आशूषणों को पहनने के पश्चात् ग्रंथिम (मूँथी हुई), वेण्डिम (लयेटी हुई), पूरिम (पूरी हुई) और संघातिम (संघकर बनाई हुई), इन चार प्रकार की मालाओं से अपने को कल्पवृक्ष के समान अलंकृत—विभूषित किया । विभूषित कर दहर मलय चंदन की सुगन्ध से सुगन्धित चूर्ण को शरीर पर भुरका—छिड़का और फिर दिव्य पुष्पमालाओं को धारण किया ।

विवेचन—उपर्युक्त वस्त्र परिष्ठान एवं आभूषणों को पहनने से यह ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समकालीन भारतीय जन दो वस्त्र पहनने के साथ-साथ यथायोग्य आभूषणों को धारण करते थे। शारंगारप्तसामाणों में शत्रियसुरभिसंघ वाले पदार्थों का उपयोग किया जाता था। वस्त्र-वर्णन तो तत्कालीन वस्त्र-कला को परम प्रकर्षण की प्रतीति कराता है। उस समय 'पाउडर' चूर्ण का भी प्रयोग किया जाता था।

सूर्यभिदेव द्वारा कार्य-निश्चय

१९६—तए ण से सूरियाभे देवे केशालंकारेण, भल्लालंकारेण आभरणालंकारेण वत्थालंकारेण अउच्छिहेण अलंकारेण अलंकिय-विभूसिए समाणे पद्धिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुद्देति, अब्भुद्दित्ता अलंकारियसभाओ पुरत्थिमिल्लेण वारेण पद्धिणिकखमइ, पद्धिणिकखमिसा जेणेव व्यवसायसभा तेणेव उवागच्छति, ववसायसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणुपयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेण वारेण अणुप-विसति जेणेव सीहासणवरगए (?) जाव सज्जिसन्ने।

तए ण तस्स सूरियाभस्त देवस्स सामाणियपरिसीववन्नगा देवा पोत्थयरयणं उणवेति, तते ण से सूरियाभे देवे पोत्थयरयणं गिण्हति, गिण्हित्ता पोत्थयरयणं शुयड मुइत्ता पोत्थयरयणं विहुडेइ, विहुडित्ता पोत्थयरयणं वाएति, पोत्थयरयणं वाएता धम्मियं ववसायं ववसइ, ववसइत्ता पोत्थयरयणं पद्धिनिकखबइ, सीहासणाओ अब्भुद्देति, अब्भुद्देत्ता ववसायभातो पुरत्थिमिल्लेण वारेण पद्धिनिकख-मित्ता जेणेव नंदा पुकखरिणी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता णंदापुकखरिणि पुरत्थिमिल्लेण तोरणेण तिसोबाणपद्धिरुवएणं पच्चोरहइ, पच्चोरहित्ता हृत्थपाइं पकखालेति, पकखलित्ता आयंते चोक्खे परम-सुइभए एगं महं सेयं रययामयं विमलं सलिलपुण्णं मत्तगथमुहागितिकुंभसमाणं भिगारं पगेण्हित्ता आइं तत्थ उत्पलाइं जाव सतसहस्रपत्ताइं ताइं गेण्हति गेण्हिल्ला णंदातो पुकखरिणीतो पच्चुत्तरति, पच्छुत्तरित्ता जेणेव सिद्धायत्तणे तेणेव पहारेत्य गमणाए।

१९६—तत्पश्चात् केशालंकारों (केशों को सजाने वाले (अलंकार), पुण्ण-मालादि रूप माल्यालंकारों, हार आदि आभूषणालंकारों एवं देवदूष्यादि वस्त्रालंकारों—इन चारों प्रकार के अलंकारों से द्वार (अलंकृत-विभूषित होकर वह सूर्यभिदेव सिहासन से उठकर) अलंकारसभा के पूर्वदिग्बतीं से बाहर निकला। निकलकर व्यवसाय सभा में आया एवं बारंबार व्यवसायसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ सिहासन था वहाँ आकर यावत् सिहासन पर आसीन हुआ।

तत्पश्चात् सूर्यभिदेव की सामानिक परिषद् के देवों ने व्यवसायसभा में रखे पुस्तक-रत्न को उसके समक्ष रखा। सूर्यभिदेव ने उस उपस्थित पुस्तक-रत्न को हाथ में लिया, हाथ में लेकर पुस्तक-रत्न खोला, खोलकर उसे बांचा। पुस्तकरत्न को बांचकर धर्मनिगत-धार्मिक कार्य करने का निश्चय किया। निश्चय करके बापस यथास्थान पुस्तकरत्न को रखकर सिहासन से उठा एवं व्यवसाय सभा के पूर्व-दिग्बतीं द्वार से बाहर निकलकर जहाँ नन्दापुकरिणी थी, वहाँ आया। आकर पूर्व-दिग्बतीं तीरण और त्रिसोपान पंक्ति से नंदा पुकरिणी में प्रविष्ट हुआ—उत्तरा। प्रविष्ट होकर हाथ पैर धोये। हाथ-पैर धोकर और आचमन-कुल्ला कर पूर्ण रूप से स्वच्छ और परम शुचिभूत—शुद्ध होकर मत्त गजराज की मुखाकृति जैसी एक विशाल ईवेतधवल रजतमय जल से भरी हुई भृंगार

(भारी) एवं वहाँ के उत्पल यावत् शतपथ-सहस्रपत्र कमलों को लिया। फिर नंदा पुष्करिणी से बाहर निकला। बाहर निकलकर सिद्धायतन की ओर चलने के लिये उद्यत हुआ।

सिद्धायतन का प्रमार्जन

१६७—तए ण ते सूरियाभं देवं चत्तारि य सामाणियसाहस्रीओ जाव सोलस आयरवेदेव-साहस्रीओ अन्ने य बहवे सूरियाभविष्याणवासिणो जाव देवीओ य अप्येगतिया देवा उप्पत्त्वत्यगा जाव सप्त-सहस्रपत्त-हत्यगा सूरियाभं देवं पिटृतो समणुगच्छति ।

तए ण ते सूरियाभं देवं बहवे आभिश्चोगिया देवा य देवीओ य अप्येगतिया कलसहत्यगा जाव अप्येगतिया धूवकडुच्छुयहत्यगता हट्टुतुदु जाव सूरियाभं देवं पिटृतो समणुगच्छति ।

१६८—तब उस सूर्यभिदेव के चार हजार सामानिक देव यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देव तथा कितने ही अन्य बहुत से सूर्यभिविमानवासी देव और देवी भी हाथों में उत्पल यावत् शतपथ-सहस्रपत्र कमलों को लेकर सूर्यभिदेव के पीछे-पीछे चले।

तत्पश्चात् उस सूर्यभिदेव के बहुत-से अभियोगिक देव और देवियाँ हाथों में कलश यावत् धूप-दानों को लेकर हृष्ट-तुष्ट यावत् विकासतहृदय होते हुए सूर्यभिदेव के पीछे-पीछे चले।

१६९—तए ण से सूरियाभे देवे चउहि सामाणियसाहस्रीहि जाव अन्नेहि य बहुहि य जाव वेवेहि य देवीहि य सद्दि संपरिवुडे सव्विड्हीए जाव णातियरवेण जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छता सिद्धायतणं पुरत्थमिलेण दारेण अणुपविसति, अणुपविसिता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमाओ लेणेव उवागच्छति, उवागच्छता जिणपडिमाणे आलोए पणामं करेति, करिता लोम-हत्यगं गिष्ठति, गिष्ठता जिणपडिमाणं लोमहत्यएणं पमज्जइ, पमज्जिता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं एहाणेइ, एहाणिता सरसेणं गेसीराचंदणेणं गायाइं अणुलिपइ, अणुलिपइता सुरभिगंधका-साइएणं गायाइं लूहेति, लूहिता जिणपडिमाणं अहयाइं देवदूसज्जयलाइं नियसेइ, नियसिता पुण्फारुहण-महलारुहण-गंधारुहण-चुण्णारुहण-वश्चारुहण-आभरणारुहणं करेह, करिता आसत्तोसत्तविउलघट्टवग्धा-रियमहलदामकलावं करेह, मल्लदामकलावं करेता कथगहगहियकरयलपवभट्टविष्पमुखकेणं दसवद्व-वन्नेणं कुमुमेणं मुखकपुण्फपुंजीवयारकलियं करेति, करिता जिणपडिमाणं पुरतो अच्छेहि सण्हेहि रयया-मएहि अच्छरसातंबुलेहि अट्टुदु मंगले आलिहइ, तं जहा—सोत्थियं जाव दप्पणं ।

तयाणंतरं च णं चंद्रपश्चवहुरवेललियविमलदंडं कंचणभणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपश्चरकुंबु-रुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमधंतगंधुत्तमाणुधिद्धं च धूववट्टि विणिम्भुयंतं वेललियमय कडुच्छुयं पग्महिय पवत्तेणं धूवं दाऊण जिणवराणं अट्टुसविसुद्धगंथजुत्तेहि अत्यजुत्तेहि अपुणरत्तेहि महावित्तेहि संथुणइ, संथुणिता सत्तटु पयाइं परुचोसक्कइ, पच्चोसक्किता वामं जाणुं अंचेह, अंचिता वाहिणं जाणुं धरणि-तलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो भुद्धाणं धरणितलंसि निवाडेइ निवाडिता ईसि पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमिता करयलपरिणहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजरिल कट्टु एवं व्यासी—

१७०—तत्पश्चात् सूर्यभिदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् और दूसरे बहुत से देवों और देवियों से परिवेष्टित होकर अपनी समस्त ऋद्धि, वेभव यावत् वादों की तुम्हल छवनिपूर्वक जहाँ सिद्धायतन था, वहाँ आया। पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवच्छंदक और जिनप्रतिमाएँ थीं वहाँ आया। वहाँ आकर उसने जिनप्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करके लोममधी

प्रमार्जनी (मग्नुरपिच्छ की पुंजनी) हाथ में ली और प्रमार्जनी को लेकर जिनप्रतिमाओं को प्रमार्जित किया (पूँजा)। प्रमार्जित करके सुरभि गन्धोदक से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके सरसगोशीर्ष चन्दन का लेप किया। लेप करके काषायिक (कसैली) सुरभि गन्ध से सुदासित वस्त्र से उनको पोछा। उन जिन-प्रतिमाओं को अखण्ड (अक्षत) देवदूष्य-युगल पहनाया। देवदूष्य पहना कर पुष्प, माला, गन्ध, चूर्ण, बर्ण, वस्त्र और आभूषण चढाये। इन सबको लड़ाने के अनन्तर फिर ऊपर से नीचे तक जटकती हुई लम्बी-लम्बी गोल मालायें पहनाईं। मालायें पहनाकर पंचरंगे पुण्यपुंजों को हाथ में लेकर उनकी वर्षा की ओर माँडने माँडकर उस स्थान को सुशोभित किया। फिर उन जिनप्रतिमाओं के सन्मुख शुभ्र, सलीने, रजतमय अक्षत तन्दुलों—चावलों से आठ-आठ मंगलों का ग्रालेखन किया, यथा— स्वतिक यावत् दर्पण ।

तदनन्तर उन जिनप्रतिमाओं के सन्मुख थ्रेठ काले अगर, कुम्भ, तुरुष्क और धूप की महकती सुगन्ध से व्याप्त और धूपवत्ती के समान सुरभिगन्ध को फैलाने वाले चन्द्रकांत मणि, वज्र-रत्न और वैद्युत मणि की दंडी तथा स्वर्ण-मणिरत्नों से रचित चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त वैद्युत्यमय धूपदान को लेकर धूप-क्षेप किया तथा विशुद्ध (काव्य-दोष से रहित) अपूर्व अर्थसम्पन्न अपुनरुक्त महिमाशाली एक सौ आठ छत्वारों में स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पग पीछे हटा, और फिर पीछे हटकर बायां घुटना ऊँचा किया और दायां घुटना जमीन पर टिकाकर तीन बार मस्तक को भूमितल पर नमाया। नमाकर कुछ ऊँचा उठाया, तथा मस्तक ऊँचा कर दोनों हाथ जोड़कर आवर्तपुर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—

अरिहंत-सिद्ध भगवन्तों की स्तुति

१९९—नमोऽस्य एं अरिहंताणं भगवताणं, आदिगराणं, तित्थगराणं सर्वं संबूद्धाणं, पुरिसुत्त-
माणं, युरिससीहाणं, पुरिसवरपुण्डरीआणं, पुरिसवरगंध-हृत्थीणं, लोगुसमाणं, लोगहि-
आणं, लोगपूर्वाणं, लोगपञ्जोगराणं, अभयदयाणं, चक्षुदयाणं अग्नवयाणं, सरणदयाणं, बोहिदयाणं,
धर्मदयाणं, धर्मदेसयाणं, धर्मनायगाणं, धर्मसारहीणं, धर्मवरचाउरंतस्वकवट्टीणं, अप्यडिहृदवर-
नाणवंसपदराणं, विश्वच्छउभाणं, जिणाणं, जायवाणं तिज्ञाणं, तारवाणं, बृद्धाणं, बोह्याणं, मुसाणं,
भोगाणं, सञ्चन्नूणं, सञ्चवरिसीणं सिवं, अयलं, अहं, अणंतं, अक्षयं, अर्कवादाहं, अपुणराविसिसिद्धि-
गडनामध्यं ठाणं संपत्ताणं; बंदइ नमंसह ।

२००—अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो, श्रूत-चारित्र रूप धर्मकी आदि करनेवाले, तीर्थकर—
तीर्थ की स्थापना करने वाले, स्वर्यवृद्ध-गुरुरूपदेश के बिना स्वयं ही बोध को प्राप्त, पुरुषों में उत्तम
कर्मशाश्रुओं का विनाश करने में पराक्रमी होने के कारण पुरुषों में सिंह के समान, सीम्य और लावण्य-
शाली होने से पुरुषों में थ्रेठ पुँडरीक-कमल के समान, अपने पुण्य प्रभाव से ईति-व्याधि भीति—भय
आदि को शान्त, विनाश करने के कारण पुरुषों में थ्रेठ गन्धहस्ती के समान, लोक में उत्तम, लोक के
नाथ, लोक का हित करने वाले, संसारीप्राणियों को सन्मार्ग दिखाने के कारण लोक में प्रदीप के समान
केवलज्ञान द्वारा लोका-लोक को प्रकाशित करने वाले—वस्तु स्वरूप को बताने वाले, अभय दाता,
श्रद्धा-ज्ञान रूप नेत्र के दाता, मोक्षमार्ग के दाता, शरणदाता, बोधिदाता, धर्मदाता, देशविरति
सर्वविरतिरूप धर्म के उपदेशक, धर्म के नायक, धर्म के सारथी, सम्यक् धर्म के प्रवर्तक चानुर्गतिक

संसार का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती, अप्रतिहत—श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन के धारक, कर्मविरण या कषाय रूप छद्म के नाशक, रागादि शत्रुओं को जीतने वाले तथा अन्य जीवों को भी कर्म-शत्रुओं को जीतने के लिए प्रेरित करने वाले, संसारसागर को स्वयं तिरे हुए तथा दूसरों को भी तिरने का उपदेश देने वाले, बोध को प्राप्त तथा दूसरों को भी उपदेश द्वारा बोधि प्राप्त कराने वाले, स्वयं कर्ममुक्त एवं अन्यों को भी कर्ममुक्त होने का उपदेश देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा शिव—उपद्रव रहित, अचल, नीरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध अपुनरावृत्ति रूप (जन्म-मरण रूप संसार से रहित) सिद्धगति नामक स्थान में विराजमान सिद्ध भगवन्तों की वन्दन —नमस्कार हो ।

सूर्योदयवेद द्वारा सिद्धायतन की देवचल्लंदक आदि की प्रमार्जना

२००—वंदिता नमस्त्ता जेणेव देवचल्लंदए जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्ज्ञदेसभाए तेणेव उवागच्छइ, लोभहृत्थगं परामुसइ, सिद्धायतणस्स बहुमज्ज्ञदेसभागं लोभहृत्थेणं पमज्जजति, दिव्वाए दग्धाराए अबभुव्वेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचमुलितलं मंडलगं आलिहइ क्यग्गहग्गहिय जाव^१ पुं जोवयारकलिय करेइ, करित्ता धूवं दलयइ, जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति, लोभहृत्थगं परामुसइ, बारचेडीओ य सालभंजियाओ य वासरूव्वए य लोभहृत्थएणं पमज्जजइ, दिव्वाए दग्धाराए अबभुव्वेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं चक्करे दलयइ, दलइत्ता पुष्फारुहणं मल्लाऽ जाव^२ आभरणारुहणं करेइ, करेत्ता आसत्तोसत्त जाव^३ धूवं दलयइ ।

जेणेव दाहिणिल्ले दारे मुहमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्ज्ञदेसभाए तेणेव उवागच्छइ लोभहृत्थगं परामुसइ, बहुमज्ज्ञदेसभागं लोभहृत्थेणं पमज्जजइ दिव्वाए दग्धाराए अबभुव्वेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचमुलितलं मंडलगं आलिहइ क्यग्गहग्गहिय जाव धूवं दलयइ ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ, लोभहृत्थगं परामुसइ बारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूव्वए य लोभहृत्थेणं पमज्जजइ, दिव्वाए दग्धाराए०^४ सरसेणं गोसीसचंदणेणं चक्करे दलयइ, पुष्फारुहणं जाव आभरणारुहणं करेइ आसत्तोसत्त० क्यग्गहग्गहिय० धूवं दलयइ ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स उत्तरिल्ला खंभपंती तेणेव उवागच्छइ, लोभहृत्थगं परामुसइ थंभे य सालभंजियाओ य वालरूव्वए य लोभहृत्थएणं पमज्जजइ जहा चेव पच्चत्थिमिल्लस्स दारस्स जाव धूवं दलयइ ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ, लोभहृत्थगं परामुसति बारचेडीओ तं चेव सव्वं ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ बारचेडीओ तं चेव सव्वं ।

जेणेव दाहिणिल्ले पेच्छाघरमंडवे, जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्ज्ञदेसभागे, जेणेव बहरामए ग्रव्वाडए, जेणेव मणिपेण्डिया, जेणेव सोहासणे, तेणेव उवागच्छइ, लोभहृत्थगं परामुसइ,

१. देखें सूत्र संख्या १९८

२. देखें सूत्र संख्या १९८

३. देखें सूत्र संख्या १९८

४. दग्धाराए के अनन्तर आगत० से 'अबभुव्वेइ' शब्द ग्रहण करना चाहिये ।

अक्षाङ्गं च मणिपेदियं च सोहासणं च लोमहृथएणं पमज्जइ, दिव्वाए दग्धाराए सरसेण गोसीसचंदणेणं चच्चए बलयइ, पुष्कारहृणं आसत्तोसत्त जाव धूवं बलेइ, जेणेव वाहिणिललस्स पेच्छाघरमंडवस्स पच्चतिथमिल्ले दारे उत्तरिल्ले दारे तं चेव जं चेव पुरतिथमिल्ले दारे तं चेव वाहिणे दारे तं चेव ।

जेणेव वाहिणिल्ले चेद्यथूमे तेणेव उवागच्छइ थूमं मणिपेदियं च दिव्वाए दग्धाराए सरसेण गोसीसचंदणेणं चच्चए बलेइ पुष्कार० आसत्तो० जाव धूवं बलेइ ।

जेणेव पच्चतिथमिल्ला मणिपेदिया जेणेव पच्चतिथमिल्ला जिणपडिमा तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ला जिणपडिमा तं चेव सद्वं । जेणेव पुरतिथमिल्ला मणिपेदिया जेणेव पुरतिथमिल्ला जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ तं चेव, वाहिणिल्ला मणिपेदिया वाहिणिल्ला जिणपडिमा तं चेव ।

जेणेव वाहिणिल्ले चेद्यरुक्खे तेणेव उवागच्छइ तं चेव, जेणेव महिवज्ञए, जेणेव वाहिणिल्ला नंदापुक्खरिणो तेणेव उवागच्छति, लोमहृथगं परामुसति, तोरणे य तिसोवाणपडिरुवए सालभंजियाओ य बालरुवए य लोमहृथएणं पमज्जइ, दिव्वाए दग्धाराए सरसेण गोसीसचंदणेण० पुष्कारहृणं आसत्तोसत्त० धूवं बलयति ।

सिद्धाययणं अणुपथाहिणीकरेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला नंदापुक्खरिणो तेणेव उवागच्छति तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ले चेद्यरुक्खे तेणेव उवागच्छति, जेणेव उत्तरिल्ले चेद्यथूमे सहेव, जेणेव पच्चतिथमिल्ला पेदिया जेणेव पच्चतिथमिल्ला जिणपडिमा तं चेव ।

जेणेव उत्तरिल्ले पेच्छाघरमंडवे तेणेव उवागच्छति जा चेव वाहिणिल्लबत्तवया सा चेव सद्वा पुरतिथमिल्ले दारे, वाहिणिल्ला खंभपंती तं चेव सद्वं ।

जेणेव उत्तरिल्ले मुहमंडवे जेणेव उत्तरिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्जदेसभाए तं चेव सद्वं, पच्चतिथमिल्ले दारे तेणेव उत्तरिल्ले दारे वाहिणिल्ला खंभपंती सेसं तं चेव सद्वं ।

जेणेव सिद्धायतणस्स उत्तरिल्ले दारे तं चेव, जेणेव सिद्धायतणस्स पुरतिथमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ तं चेव, जेणेव पुरतिथमिल्ले मुहमंडवे जेणेव पुरतिथमिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्जदेसभाए तेणेव उवागच्छइ तं चेव, पुरतिथमिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे पच्चतिथमिल्ला खंभपंती उत्तरिल्ले दारे तं चेव पुरतिथमिल्ले दारे तं चेव ।

जेणेव पुरतिथमिल्ले वेच्छाघरमंडवे, एवं यूमे, जिणपडिमाश्रो चेद्यरुक्खा, महिवज्ञया नंदापुक्खरिणी तं चेव धूवं दलयइ ।

जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छति, सभं सुहम्मं पुरतिथमिल्लेण दारेण अणुपविसइ, जेणेव माणवए चेद्यखंभे जेणेव वइरामए गोलवटूसमुग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइता लोमहृथगं परामुसइ, वइरामए गोलवटूसमुग्गए लोमहृथेणं पमज्जइ, वइरामए गोलवटूसमुग्गए विहाडेइ, जिणसगहाश्रो लोमहृथेणं पमज्जइ, सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, पक्खालिसा अग्नेहि वरेहि गंधेहि य मललेहि य अरुचेइ, धूणं बलयइ, जिणसकहाओ वइरामएसु गोलवटूसमुग्गएसु पडिनिवखबइ माणवगं चेद्यखंभं लोमहृथएणं पमज्जइ, दिव्वाए दग्धाराए सरसेण गोसीसचंदणेणं चच्चए बलयइ, पुष्कारहृणं जाव धूवं दलयइ, जेणेव सोहासणे तं चेव, जेणेव देवसथणिजे तं चेव, जेणेव खुद्गामर्हिवज्ञए तं चेव ।

जेणेव पहुरणकोसे चोप्पालए तेणेव उवागच्छइ, लोमहृत्यगं परामुसइ पहुरणकोसं चोप्पालं लोमहृत्यएणं पमज्जइ, दिव्याए दग्धाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं दलेइ, पुष्कारहृणं आसत्तोसत्तं० धूबं बलयइ ।

जेणेव सभाए सुहम्माए बहुमज्जदेसभाए, जेणेव मणिपेडिया जेणेव वेवसयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, लोमहृत्यगं पारमुसइ, वेवसयणिज्जं च मणिपेडियं च लोमहृत्यएणं पमज्जइ जाव धूबं दलयइ ।

जेणेव उवागयसभा ए दाहिणिल्ले दारे तहेव अभिसेयसभा सरिसं जाव पुरत्थमिल्ला णंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ, तोरणे य तिसोवाणे य सालभंजियाओ य वालरूबए य तहेव ।

जेणेव अभिसेयसभा, तेणेव उवागच्छइ तहेव सीहासणं च मणिपेडियं च, सेसं तहेव आययण-सरिसं जाव पुरत्थमिल्ला णंदा पुक्खरिणी । जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ जहा अभिसेय-सभा तहेव सध्यं ।

जेणेव उवागयसभा तेणेव उवागच्छइ तहेव लोमहृत्यएणं परामुखति, पोत्थयरथणं लोमहृत्यएणं पमज्जइ, पमज्जसा दिव्याए दग्धाराए अगेहि वरेहि य गंधेहि भलेहि य अच्चेति मणिपेडियं सीहासणं य सेसं तं चेव पुरत्थमिल्ला णंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ तोरणे य तिसोवाणे य सालभंजियाओ य वालरूबए य तहेव । जेणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छइ बलिविसज्जणं करेइ, आमिअगेगिए देवे सद्वावेइ सद्वावित्ता एवं वयासो—

२००—सिद्ध भगवन्तों को बन्दन नमस्कार करने के पश्चात् सूर्यभिदेव देवचल्लन्दक और सिद्धायतन के मध्य देशभाग में आया । वहाँ आकर मोरपीछी उठाई और मोरपीछी से सिद्धायतन के अति मध्यदेशभाग को प्रमाजित किया (पूँजा, भाङ्गा-बुहारा) फिर दिव्य जलधारा से सींचा, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करके हाथे लगाये, मांडने-मांडे यावत् हाथ में लेकर पुष्पपुंज बिलेरे । पुष्प बिलेर कर धूप प्रक्षेप किया—और फिर सिद्धायतन के दक्षिण द्वार पर आकर मोरपीछी ली और उस मोरपीछी से द्वारशाखाओं पुतलियों एवं व्यालरूपों को प्रमाजित किया, दिव्य जलधारा सींची, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया, सन्मुख धूप जलाई, पुष्प चढ़ाये, मालायें चढ़ाई, यावत् आभूषण चढ़ाये । यह सब करके फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई गोल-गोल लम्बी मालाओं से चिभूषित किया ।

धूपप्रक्षेप करने के बाद जहाँ दक्षिणद्वारवर्ती मुखमण्डप था और उसमें भी जहाँ उस दक्षिण दिशा के मुखमण्डप का अतिमध्य देशभाग था, वहाँ आया और मोरपीछी ली, मोरपीछी को लेकर उस अतिमध्य देशभाग को प्रमाजित किया—बुहारा, दिव्य जलधारा सींची, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया—हाथे लगाये, मांडने मांडे तथा ग्रहीत पुष्प पुंजों को बिलेर कर उपचरित किया यावत् धूपप्रक्षेप किया ।

इसके बाद उस दक्षिणदिव्यवर्ती मुखमण्डप के पश्चिमी द्वार पर आया, वहाँ आकर मोरपीछी ली । उस मोरपीछी से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्याल (सर्प) रूपों को पूँजा, दिव्य जलधारा से सींचा, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया । धूपप्रक्षेप किया, पुष्प चढ़ाये यावत् आभूषण चढ़ाये । लम्बी-लम्बी गोल मालायें लटकाईं । कचग्रहवत् विमुक्त पुष्पपुंजों से उपचरित किया, धूप जलाई ।

तत्पश्चात् उसी दक्षिणी मुखमण्डप की उत्तरदिशा में स्थित स्तम्भ-पंक्ति के निकट आया। वहाँ आकर लोमहस्तक—भोरपंखों से बनी प्रमार्जनी को उठाया, उससे स्तम्भों को, पुतलियों को और व्यालरूपों को प्रमार्जित किया तथा पश्चिमी द्वार के समान दिव्य जलधारा से सीचने आदि रूप सब कार्य धूप जलाने तक किये।

इसके बाद दक्षिणदिशावर्ती मुखमण्डप के पूर्वी द्वार पर आया, आकर लोमहस्तक हाथ में लिया और उससे द्वारशाखाओं, पुतलियों सर्परूपों को साफ किया, दिव्य जलधारा सीची आदि सब कार्य धूप जलाने तक के किये।

तत्पश्चात् उस दक्षिण दिशावर्ती मुखमण्डप के दक्षिण द्वार पर आया और द्वारचेटियों आदि को साफ किया, जलधारा सीची आदि धूप जलाने तक करने योग्य पूर्वोक्त सब कार्य किये।

तदनन्तर जहाँ दक्षिणात्य प्रेक्षागृहमण्डप था, एवं उस दक्षिणदिशावर्ती प्रेक्षागृहमण्डप का अतिमध्य देशभाग था और उसके मध्य में इनाहुआ वज्रमग अक्षपात्र तथा उस पर बनी मणिपीठिका एवं मणिपीठिका पर स्थापित सिंहासन था, वहाँ आया और मोरपीछी लेकर उससे अक्षपाट, मणिपीठिका और सिंहासन को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चचित किया, धूपप्रक्षेप किया, पुष्प चढ़ाये तथा ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी-लम्बी गोल-गोल मालाओं से विभूषित किया यावत् धूपक्षेप करने के बाद अनुक्रम से वहाँ उसी दक्षिणी प्रेक्षागृहमण्डप के पश्चिमी द्वार एवं उत्तरी द्वार थे वहाँ आया और वहाँ आकर पूर्ववत् प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूपदान तक करने योग्य कार्य सम्पन्न किये। उसके बाद पूर्वी द्वार पर आया। यहाँ आकर भी प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूपदान तक के सब कार्य पूर्ववत् किये। तत्पश्चात् दक्षिणी द्वार पर आया, वहाँ आकर भी उसने प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूप दान तक के सब कार्य किये।

इसके पश्चात् दक्षिणदिशावर्ती चैत्यस्तूप के सन्मुख आया। वहाँ आकर स्तूप और मणिपीठिका को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चचित किया, धूप जलाई, पुष्प चढ़ाये, लम्बी-लम्बी मालायें लटकाई आदि सब कार्य सम्पन्न किये। अनन्तर जहाँ पश्चिम दिशा की मणिपीठिका थी, जहाँ पश्चिम दिशा में विराजमान जिनप्रतिमा थी वहाँ आकर प्रमार्जनादि कृत्य से लेकर धूप दान तक सब कार्य किये। इसके बाद उत्तरदिशावर्ती मणिपीठिका और जिनप्रतिमा के पास आया। आकर प्रमार्जन करने से लेकर धूपक्षेपपर्यन्त सब कार्य किये।

इसके पश्चात् जहाँ पूर्वदिशावर्ती मणिपीठिका थी तथा पूर्वदिशा में स्थापित जिनप्रतिमा थी, वहाँ आया। वहाँ आकर पूर्ववत् प्रमार्जन करना आदि धूप जलाने पर्यन्त सब कार्य किये। इसके बाद जहाँ दक्षिण दिशा की मणिपीठिका और दक्षिणदिशावर्ती जिनप्रतिमा थी वहाँ आया और पूर्ववत् धूप जलाने तक सब कार्य किये।

इसके पश्चात् दक्षिणदिशावर्ती चैत्यवृक्ष के पास आया। वहाँ आकर भी पूर्ववत् प्रमार्जनादि कार्य किये। इसके बाद जहाँ माहेन्द्रध्वज था, दक्षिण दिशा की नंदा पुष्करिणी थी, वहाँ आया। आकर मोरपीछी को हाथ में लिया और फिर तोरणों, त्रिसोपानों काष्ठपुतलियों और सर्परूपकों को मोरपीछी से प्रमार्जित किया—पोंछा, दिव्य जलधारा सीची, सरस गोशीर्ष चन्दन से चचित किया, पुष्प चढ़ाये, लम्बी-लम्बी पुष्पमालाओं से विभूषित किया और धूपक्षेप किया।

तदनन्तर सिद्धायतन की प्रदक्षिणा करके उत्तरदिशा की नंदा पुष्करिणी पर आया और वहाँ पर भी पूर्ववत् प्रमार्जनादि धूपक्षेप पर्यन्त कार्य किये। इसके बाद उत्तरदिशावर्ती चैत्यबृक्ष और चैत्यस्तम्भ के पास आया एवं पूर्ववत् प्रमार्जन से लेकर धूपक्षेप करने तक के कार्य किये। इसके पश्चात् जहाँ पश्चिमदिशावर्ती मणिपीठिका थी, पश्चिम दिशा में स्थापित प्रतिमा थी, वहाँ आकर भी पूर्ववत् धूपक्षेपपर्यन्त करने योग्य कार्य किये।

तत्पश्चात् वह उत्तर दिशा के प्रेक्षागृह मण्डप में आया और धूपक्षेपपर्यन्त दक्षिण दिशा के प्रेक्षागृहमण्डप जैसो समस्त वक्तव्यता यहाँ जानना चाहिये तथा वही सब पूर्वदिशावर्ती द्वार के लिये और दक्षिण दिशा को स्तम्भपर्णक्ति के लिये भी पूर्ववत् वही सब कार्य किये अर्थात् स्तम्भों, काष्ठ-पुतलियों और व्यालरूपों आदि के प्रमार्जन से लेकर धूपक्षेप तक सब कार्य किये।

इसके बाद वह उत्तर दिशा के मुखमण्डप और उस उत्तरदिशा के मुखमण्डप के बहुमध्य देशभाग (स्थान) में आया। यहाँ आकर पूर्ववत् अक्षपाटक, मणिपीठिका एवं सिंहासन आदि की प्रमार्जना से धूपक्षेपपर्यन्त सब कार्य किये। इसके बाद वह पश्चिमी द्वार पर आया, वहाँ पर भी द्वार-शाखाओं आदि के प्रमार्जनादि से लेकर धूप दान तक के सब कार्य किये। तत्पश्चात् उत्तरी द्वार और उसकी दक्षिण दिशा में स्थित स्तम्भपर्णक्ति के पास आया। वहाँ भी पूर्ववत् स्तम्भ पुतलियों एवं व्याल रूपों की संमार्जना, आदि से लेकर धूपदान तक के सब कार्य किये।

तदनन्तर सिद्धायतन के उत्तरी द्वार पर आया। यहाँ भी पुतलियों आदि के प्रमार्जन आदि से लेकर धूपक्षेप तक के सब कार्य किये। इसके अनन्तर सिद्धायतन के पूर्वदिशा के द्वार पर आया और यहाँ पर भी पूर्ववत् कार्य किये। इसके बाद जहाँ पूर्वदिशा का मुखमण्डप था और उस मुखमण्डप का अतिमध्य देशभाग था, वहाँ आया और अक्षपाट, मणिपीठिका, सिंहासन की प्रमार्जना करके धूपक्षेप तक के सब कार्य किये। इससे बाद जहाँ उस पूर्व दिशा के मुखमण्डप का दक्षिणी द्वार था और उसकी पश्चिम दिशा में स्थित स्तम्भपर्णक्ति थी वहाँ आया। फिर उत्तरदिशा के द्वार पर आया और पहले के समान इन स्थानों पर स्तम्भों, पुतलियों, व्यालरूपों वर्गेरह को प्रमार्जित किया आदि धूपदान तक के सभी कार्य किये। इसी प्रकार से पूर्व दिशा के द्वार पर आकर भी पूर्ववत् सब कार्य किये।

इसके अनन्तर पूर्व दिशा के प्रेक्षागृह-मण्डप में आया। यहाँ आकर अक्षपाटक, मणिपीठिका सिंहासन का प्रमार्जन आदि किया और फिर क्रमशः उस प्रेक्षागृहमण्डप के पश्चिम, उत्तर, पूर्व, एवं दक्षिण दिशावर्ती प्रत्येक द्वार पर जाकर उन-उनकी द्वारशाखाओं, पुतलियों, व्यालरूपों की प्रमार्जना करने से लेकर धूपदान तक के सब कार्य पूर्ववत् किये। इसी प्रकार स्तूप की, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार दिशाओं में स्थित मणिपीठिकाओं की, जिनप्रतिमाओं की, चैत्यबृक्ष की, माहेन्द्र-धर्जों की, नन्दा पुष्करिणी की, त्रिसोपानपर्णक्ति की, पुतलियों की, व्यालरूपों की प्रमार्जना करने से लेकर धूपक्षेप तक के सब कार्य किये।

इसके पश्चात् जहाँ सुधर्मा सभा थी, वहाँ आया और पूर्वदिशावर्ती द्वार से उस सुधर्मा सभा में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ माणवक चैत्यस्तम्भ था और उस स्तम्भ में जहाँ बज्रमय गोल समुद्रगक रखे थे वहाँ आया। वहाँ आकर मोरपीछी उठाई और उस मोरपीछी से बज्रमय गोल समुद्रगकों को प्रमार्जित कर उन्हें खोला। उनमें रखी हुई जिन-अस्थियों को लोमहस्तक से पीछा,

सुरभि गंधोदक से उनका प्रक्षालन करके फिर सर्वोत्तम श्रेष्ठ गन्ध और मालाओं से उनकी अर्चना की, धूपक्षेप किया और उसके बाद उन जिन-अस्थियों को पुनः उन्हीं वज्रमय गोल समुद्रगकों को बन्द कर रख दिया। इसके बाद मोरपीछी से माणवक चैत्यस्तम्भ को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चचित किया, उस पर पुष्प चढ़ाये यावत् धूपक्षेप किया। इसके पश्चात् सिहासन और देवशैया के पास आया। वहाँ पर भी प्रमार्जना से लेकर धूपदान तक के सब कार्य किये। इसके बाद क्षुद्र माहेन्द्रघ्वज के पास आया और वहाँ भी पहले की तरह प्रमार्जना से लेकर धूपदान तक के सब कार्य किये।

इसके अनन्तर चौपाल नामक अपने प्रहरणकोश (आयुधशाला, शस्त्रभण्डार) में आया। आकर मोर पंखों की प्रमार्जनिका—बुहारी हाथ में ली एवं उस प्रमार्जनिका से आयुधशाला चौपाल को प्रमार्जित किया। उसका दिव्य जलधारा से प्रक्षालन किया। वहाँ सरस गोशीर्ष चन्दन के हथे लगाये, पुष्प आदि चढ़ाये और ऊपर से नीचे तक लटकती लम्बी-लम्बी मालाओं से उसे सजाया यावत् धूपदान पर्यन्त सर्व कार्य सम्पन्न किये।

इसके बाद सुधर्मा सभा के अतिमध्यदेश भाग में बनी हुई मणिपीठिका एवं देवशैया के पास आया और मोरपीछी लेकर उस देवशैया और मणिपीठिका को प्रमार्जित किया यावत् धूपक्षेप किया।

इसके पश्चात् पूर्वदिशा के द्वार से होकर उपपात सभा में प्रविष्ट हुआ। यहाँ पर भी पूर्ववत् उसके अतिमध्य भाग की प्रमार्जना आदि कार्य करके उपपात सभा के दक्षिणी द्वार पर आया। वहाँ आकर अभिषेकसभा (सुधर्मासभा) के समान यावत् पूर्ववत् पूर्वदिशा की नन्दा पुष्करिणी की अर्चना की। इसके बाद हृद पर आया और पहले की तरह तोरणों, त्रिसोपानों, काष्ठ-पुतलियों और व्याल-रूपों की मोरपीछी से प्रमार्जना की, उन्हें दिव्य जलधारा से सिचित किया आदि धूपक्षेपपर्यन्त सर्व कार्य सम्पन्न किये।

इसके अनन्तर अभिषेक सभा में आया और यहाँ पर भी पहले की तरह सिहासन मणिपीठिका को मोरपीछी से प्रमार्जित किया, जलधारा से सिचित किया आदि धूप जलाने तक के सब कार्य किये। तत्पश्चात् दक्षिणधारादि के क्रम से पूर्व दिशावर्ती—नन्दा पुष्करिणीपर्यन्त सिद्धायतन-वत् धूपप्रक्षेप तक के कार्य सम्पन्न किये।

इसके पश्चात् श्रलंकारसभा में आया और अभिषेकसभा की वक्तव्यता की तरह यहाँ धूपदान तक के सब कार्य सम्पन्न किये।

इसके बाद व्यवसाय सभा में आया और मोरपीछी को उठाया। उस मोरपीछी से पुस्तक-रत्न को पोच्छा, फिर उस पर दिव्य जल छिड़का और सर्वोत्तम श्रेष्ठ गन्ध और मालाओं से उसकी अर्चना की इसके बाद मणिपीठिका की, सिहासन की अति मध्य देशभाग की प्रमार्जना की, आदि धूपदान तक के सर्व कार्य किये। तदनन्तर दक्षिणधारादि के क्रम से पूर्व नन्दा पुष्करिणी तक सिद्धायतन की तरह प्रमार्जना आदि कार्य किये। इसके बाद वह हृद पर आया। वहाँ आकर तोरणों, त्रिसोपानों, पुतलियों और व्यालरूपों की प्रमार्जना आदि धूपक्षेपपर्यन्त कार्य सम्पन्न किये।

इन सबकी अर्चना कर लेने के बाद वह बलिष्ठीठ के पास आया और बलि-विसर्जन करके अपने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर उनको यह आज्ञा दी—

आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन

२०१—खिष्ट्यामेव मो देवाणुपिया ! सूरियाभे विमाणे सिघाङ्गएसु तिएसु चउक्केसु चच्चरेसु चउमुहेसु महापहेसु पागारेसु अद्वालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जामेसु बणेसु बणराईसु काणणेसु बणसंडेसु अच्चणियं करेह, अच्चणियं करेला एवमाणत्तियं खिष्ट्यामेव पच्चपिण्डु ।

२०१—हे देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ और शीघ्रातिशीघ्र सूर्यभि विमान के शृंगाटकों (सिंघाङ्गे की आकृति जैसे त्रिकोण स्थानों) में, त्रिकों (तिराहों) में, चतुष्कों (चौकों) में, चत्वरों में, चतुमुखों (चारों ओर द्वार वाले स्थानों) में, राजमार्गों में, प्राकारों में, अटटालिकाओं में, चरिकाओं में, द्वारों में, गोपुरों में, तोरणों, आरामों, उद्यानों, बनों, बनराजियों, काननों, बनखण्डों में जा-जा कर अर्चनिका करो और अर्चनिका करके शीघ्र ही यह आज्ञा मुझे वापस लौटाओ, अथवा आज्ञानुसार कार्य करने की मुझे सूचना दो ।

२०२—तए णं ते आभियोगिका देवा सूरियाभेण देवेण एवं बुत्ता समाणा जाव पडिसुणिता सूरियाभे विमाणे सिघाङ्गएसु-तिएसु-चउक्केसु-चच्चरेसु-चउमुहेसु-महापहेसु-पागारेसु-अद्वालएसु-चरियासु-दारेसु-गोपुरेसु-तोरणेसु-आरामेसु-उज्जामेसु-बणेसु-बणरातीसु-काणणेसु-बणसंडेसु अच्चणियं करेन्ति, जेणेव सुरियाभे देवे जाव पच्चपिण्डं ।

२०२—तदनन्तर उन आभियोगिक देवों ने सूर्यभिदेव की इस आज्ञा को सुनकर यावत् स्वीकार करके सूर्यभि विमान के शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों, चत्वरों, चतुमुखों, राजमार्गों, प्राकारों, अटटालिकाओं, चरिकाओं, द्वारों, गोपुरों, तोरणों, आरामों, उद्यानों, बनों, बनराजियों और बनखण्डों की अर्चनिका की और अर्चनिका करके सूर्यभिदेव के पास आकर आज्ञा वापस लौटाई—आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दी ।

२०३—तते णं से सूरियाभे देवे जेणेव णंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, नंदापुक्खरिणि पुरत्थिमिल्लेण तिसोपाणपङ्क्तिएण पच्चोरुहति, हृथपाए पक्खालेइ, णंदाओ पुक्खरिणीओ पच्चु-तरेइ, जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारित्थ गमणाए ।

२०३—तदनन्तर वह सूर्यभिदेव जहाँ नन्दा पुष्करिणी थी, वहाँ आया और पुर्व दिशावर्ती त्रिसोपानों से नन्दा पुष्करिणी में उतरा । हाथ पैरों को धोया और फिर नन्दा पुष्करिणी से बाहर निकला । निकल कर सुधम्मा सभा की ओर चलने के लिए उद्यत हुआ ।

२०४—तए णं सूरियाभे देवे चउहि सामाणियसाहस्रोहि जाव^१ सोलसहि आयरक्खदेव-साहस्रसीहि, अन्नेहि य बहूहि सूरियाभविमाणवासीहि वेमाणिएहि देवेहि वेदोहि य साढ़ि संपरिवर्षे सविवड्हीए जाव^२ नाइयरवेण जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छइ, सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेण वारेण

१. देखें सूत्र संख्या ७

२. देखें सूत्र संख्या १९

अग्रुपविसति, अणुपविसिता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, सीहासणवरयए पुरत्थाभिमुहे सपिष्यसणे ।

२०४—इसके बाद सूर्यभिदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् (परिवार सहित चार अश महिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनोकों-सेनाओं, सात अनिकाशिपतियों सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा और दूसरे भी बहुत से सूर्यभि विभानवासी देव-देवियों से परिवेष्टित होकर सर्वं ऋद्धि यावत् तुमुल वायष्वनि पूर्वक जहाँ सुधर्मा सभा थी वहाँ आया और पूर्वं दिशा के द्वार से सुधर्मा सभा में प्रविष्ट हुआ । प्रविष्ट होकर सिहासन के समीप आया और पूर्वं दिशा की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिहासन पर बैठ गया ।

सूर्यभिदेव का सभा-बैंधव

२०५—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स अवरुत्तरेण उत्तरपुरत्थमेण विसिभाएण चत्तारि य सामाणियसाहस्रीओ चउसु भद्रासणसाहस्रोसु निसीयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पुरत्थमिल्लेण चत्तारि अभ्यमहिस्रीओ चउसु भद्रासणोसु निसोयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणपुरत्थमेण अविभतरियपरिसाए अटु देवसाहस्रीओ अटुसु भद्रासणसाहस्रीसु निसीयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स बाहिणेण मजिष्माए परिसाए वस देवसाहस्रीओ दस्सु भद्रासणसाहस्रीसु निसीयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणपच्चत्थमेण बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्रीओ बारससु भद्रासणसाहस्रीसु निसीयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पच्चत्थमेण सत्तं अणियाहिवद्वणे सत्तहि भद्रासणेहि णिसीयंति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चउद्दीति सोलस आयरक्खदेवसाहस्रीओ सोलसहि भद्रासण-साहस्रीहि णिसीयंति, तंजहा—पुरत्थमिल्लेण चत्तारि साहस्रीओ ।

ते णं आयरक्खा सञ्चद्वद्वद्वयमियकवया, उप्पोलियसरासणपट्टिया, विणद्वगेविज्जा आविद्वविम-लवरचिधपद्मा, गहियाउपहरणा, तिणयाणि तिसंधियाइं वयरमयकोडीणि धणूइं पगिज्ञ पडियाहृय-कंडकलवा णीलपाणिणो, पोतपाणिणो, रत्तपाणिणो, चावपाणिणो-चारुपाणिणो, चम्मपाणिणो, वंड-पाणिणो, खगपाणिणो, पासपाणिणो, तीलपीयरत्तचावचारुचम्मदंडखगपासधरा, आयरक्ख रक्खोवगा, गुत्ता, गुत्तपालिया जुत्ता, जुत्तपालिया पत्तेयं-पत्तेयं समयओ विणवधो किकरभूया चिट्ठति ।

२०५—तदन्तर उस सूर्यभिदेव को पश्चिमोत्तर और उत्तरपूर्वं दिशा में स्थापित चार हजार भद्रासनों पर चार हजार सामानिक देव बैठे ।

उसके बाद सूर्यभिदेव की दिशा में चार भद्रासनों पर चार अग्रमहिषियाँ बैठीं ।

तत्पश्चात् सूर्यभि देव के दक्षिण-पूर्वदिक् कोण में अध्यन्तर परिषद् के आठ हजार देव आठ हजार भद्रासनों पर बैठे ।

सूर्यभिदेव की दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् के दस हजार देव दस हजार भद्रासनों पर बैठे ।

तदनन्तर सूर्यभि देव के दक्षिण-पश्चिम दिग् भाग में बाह्य परिषद् के बारह हजार देव बारह हजार भद्रासनों पर बैठे ।

तत्पश्चात् सूर्यभिदेव की पश्चिम दिशा में सात अनीकाधिपति सात भद्रासनों पर बैठे ।

इसके बाद सूर्यभिदेव की चारों दिशाओं में सोलह हजार आत्मरक्षक देव पूर्व दिशा में चार हजार, दक्षिण दिशा में चार हजार, पश्चिम दिशा में चार हजार और उत्तर दिशा में चार हजार, इस प्रकार सोलह हजार भद्रासनों पर बैठे ।

वे सभी आत्मरक्षक देव अंगरक्षा के लिये गाढ़बन्धन से बद्ध कवच को शरीर पर धारण करके, बाण एवं प्रत्यंचा से सञ्चुड़ धनुष को हाथों में लेकर, गले में प्रेवेयक नामक आभूषण-विशेष को पहनकर, अपने-अपने विमल और श्वेष चिह्नपट्टों को धारण करके, आयुष्म और पहरणों से सुसज्जित हो, तीन स्थानों पर नमित और जुड़े हुये वज्रमय अथ भाग वाले धनुष, दंड और बाणों को लेकर, तील-पीत-लाल प्रभा वाले बाण, धनुष चाह (शस्त्र-विशेष) चमड़े के गोफन, दंड, तलवार, पाश-जाल को लेकर एकाग्रमन से रक्षा करने में तत्पर, स्वामी-आज्ञा का पालन करने में सावधान, गुप्त-आदेश पालन करने में तत्पर, सेवकोचित गुणों से युक्त, अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये उद्यत, विनयपूर्वक अपनी आचार-मर्यादा के अनुसार किकर—सेवक जैसे होकर स्थित थे ।

सूर्यभिदेव विषयक गौतम की जिज्ञासा

२०६ प्र०—सूरियाभस्तु ण भंते । देवस्तु केवद्यं कालं छिती पण्णता ?

गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइ छिती पण्णता ।

प्र०—सूरियाभस्तु ण भंते ! देवस्तु सामाणियपरिसोववण्णगाण देवाणं केवद्यं कालं छिती पण्णता ?

उ…गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइ छिती पण्णता ।

महिद्वीए महजातीए, महज्जले, महायसे, महासोव्ये, महाणुभागे सूरियाभे देवे ।

अहो ण भंते ! सूरियाभे देवे महिद्वीए जाव महाणुभागे ।

सूरियाभेण भंते ! देवेण सा विद्वा देविद्वी, सा दिव्वा देवज्जुई, से विद्वे देवाणुभागे किण्णा लह्वे, किण्णा पत्ते, किण्णा अभिसमन्नागए ? पुद्वभवे के आसी ? किनामए वा ? को वा गुत्तेण ? कथरंसि वा शामंसि वा तगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मङ्वंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आगरंसि वा आसमंसि वा संबाहंसि वा सन्निवेसंसि वा ? कि वा दच्चा, कि वा भोच्चा किं वा किच्चा, कि वा समायरिता, कस्स वा तहारुवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मयं सुवयणं सुच्चा निसम्म जं णं सूरियाभेण वेवेण सा विद्वा देविद्वी जाव देवाणुभागे लह्वे पत्ते अभिसमन्नागए ?

२०६—सूर्यभिदेव के समस्त चरित को सुनने के पश्चात् भगवान् गौतम ने शमण भगवान् महावीर से निवेदन किया—

प्र.—भदन्त ! सूर्यभिदेव की भवस्थिति कितने काल की है ?

उ.—गौतम ! सूर्यभिदेव की भवस्थिति चार पल्योपम की है ।

प्र.—भगवन् ! सूर्यभिदेव की सामानिक परिषद् के देवों की स्थिति कितने काल की है ।

उ.—गौतम ! उनकी चार पल्योपम की स्थिति है ।

यह सूर्यम् देव महाऋद्धि, महाद्युति, महान् बल, महायश, महासौख्य और महाप्रभाव वाला है ।

भगवान् के इस कथन को सुनकर गौतम प्रभु ने आश्चर्य चकित होकर कहा—अहो भदन्त ! वह सूर्यभिदेव ऐसा महाऋद्धि, यावत् महाप्रभावशाली है । उन्होंने पुनः प्रश्न किया—

भगवन् ! सूर्यभिदेव को इस प्रकार की यह दिव्य देवज्ञानि और दिव्य देवज्ञता प्रभाव कैसे मिला है ? उसने कैसे प्राप्त किया ? किस तरह से अधिगत किया है, स्वामी बना है ? वह सूर्यभिदेव पूर्वभव में कौन था ? उसका क्या नाम और गोत्र था ? वह किस ग्राम, नगर, निगम (व्यापारप्रधान नगर) राजधानी, सेट (ऊँचे प्राकार से वेष्टित नगर), कबंट (छोटे प्राकार से घिरी वस्ती), मडंब (जिसके आसपास चारों ओर एक योजन तक कोई दूसरा गाँव न हो), पत्तन, द्रोणमुख (जल और स्थलमार्ग से जुड़ा नगर), आकर (खानों वाला स्थान, नगर), श्राव्यम् कृषि-महर्षि प्रधान स्थान), संवाह (संवाध—जहाँ यात्री पड़ाव ढालते हों, ज्वाले आदि बसते हों), संनिवेश सामान्य जनों की बस्ती का निवासी था ? इसने ऐसा क्या दान में दिया, ऐसा अन्त-प्रान्तादि विरस आहार खाया, ऐसा क्या कार्य किया, कैसा आचरण किया और तथारूप शमण अथवा माहॄण से ऐसा कौनसा धार्मिक आर्य सुवचन सुना कि जिससे सूर्यभिदेव ने यह दिव्य देवज्ञानि यावत् देवप्रभाव उपाजित किया है, प्राप्त किया है और अधिगत किया है ?

केक्य अर्ध जनपद और प्रदेशी राजा

२०७—‘गोदमाह’ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं श्रामंतेत्ता एवं ख्यासी—

एवं खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जंबुदीवे वीवे भारहे वासे केयइअद्वे नामं ज्ञानवाए होत्या, रिद्धिश्चियसमिद्वे सद्बोउयफलसमिद्वे रम्मे नंदणवणप्पगासे पासाईए जाव (वरिस-णिज्जे, अमिरुवे) पड़िरुवे ।

तत्थ जं केयइअद्वे ज्ञानवाए सेयविया णामं नगरी होत्या, रिद्धिश्चियसमिद्वा जाव¹ पड़िरुवा ।

तीसे जं सेयविद्याए नगरीए बहिया उत्तरपुररिथमे दिसीमागे एत्थं णं मिगबणे णामं उजजाणे होथा — रम्मे नंदणवणप्पगासे, सब्बोउयफलसमिठे, सुभसुरभिसीयलाए छायाए सब्बओ चेव समणुख्हे पासादीए जाव पडिल्हवे ।

तथं णं सेयविद्याए णगरीय पएसी णामं राया होथा, मह्याहिमवंत जाव^१ विहरह । अधम्मिए, अधम्मिट्ठे, अधम्मवक्षाई, अधम्माणुए, अधम्मपलोई, अधम्मपज्जणे, अधम्मसीलसमुद्यायारे, अधम्मेण चेव वित्ति कष्टेमाणे 'हण'-‘छिव’-चिव-पवत्तए, लोहियपाणी, पावे, रहे, खुहे, साहस्सीए उवकंचण-कंचण-माया-नियडि-कूड़-कष्ट-सायिसंजोगबहुले, निस्सीले, निवहए, निगुणे, निघ्मेरे, निष्प-च्चक्खाणपोसहोववासे, बहूणे बुप्य-चउप्य-मिय-पमु-पक्खी-सिरिसवाण घायाए बहाए उच्छायणयाए अधम्मकेझ, लमुट्ठिए, गुरुणं णो अब्भुट्ठेति, णो विणयं पञ्जड, सप्तस वि य णं जणवयस्स णो सम्मं करभरवित्ति पवत्तेइ ।

२०७—हे गौतम ! इस प्रकार गौतम स्वामी को सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—

हे गौतम ! उस काल और उस समय में (इस श्रवसर्पिणी काल के चौथे आरे रूप काल एवं केशीस्वामी कुमार श्रमण के विचरने के समय में) इसी जंबूद्धीप नामक ढीप के भरत क्षेत्र में केक्य-श्रष्ट (केक्यि-श्रद्ध) नामक जनपद ऐसा था । जो भगवान्दिव उंभत्त से युक्त, मितमित-स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित और समृद्ध—घनशान्यादि वैभव से सम्पन्न—परिपूर्ण था । सर्वं ऋतुओं के फल-फूलों से समृद्ध, रमणीय, नन्दनवन के समान मनोरम, प्रासादिक—मन को प्रसन्न करने वाला, यावत् (दर्शनीय, बारंबार देखने योग्य प्रतिरूप) अतीव मनोहर था ।

उस केक्य-अर्धं जनपद में सेयविद्या नाम की नगरी थी । यह नगरी भी ऋद्धि-सम्पन्न स्तमित—शत्रुभय से मुक्त एवं समृद्धिशाली यावत् प्रतिरूप थी ।

उस सेयविद्या नगरी के बाहर ईशान कोण में मृगवन नामक उद्यान था । यह उद्यान रमणीय, नन्दनवन के समान सर्वं ऋतुओं के फल-फूलों से समृद्ध, शुभ—सुखकारी, सुरभिगंध और शीतल छाया से समनुबहु (व्याप्त) प्रासादिक यावत् प्रतिरूप—असाधारण शोभा ले सम्पन्न था ।

उस सेयविद्या नगरी के राजा का नाम प्रदेशी था । प्रदेशी राजा महाहिमवान्, मलय पवंत, मन्दर एवं महेन्द्र पवंत जैसा महान् था । किन्तु वह अधार्मिक—(धर्म विरोधी), अधमिष्ठ (अधर्मप्रेमी), अधर्मस्थियायी (अधर्म का कथन और प्रचार करने वाला), अधर्मानुग (अधर्म का अनुसरण करने वाला), अधर्मप्रलोकी (सर्वं अधर्म का अवलोकन करने वाला), अधर्मप्रजनक (विशेष रूप से अधार्मिक आचार-विचारों का जनक—प्रचार करने वाला—प्रजा को अधर्मचिरण की ओर प्रवृत्त करने वाला) अधर्मशीलसमुदाचारी (अधर्ममय स्वभाव और आचारवाला) तथा अधर्म से ही आजीविका जलाने वाला था । वह सदैव 'मारो, छेदन करो, भेदन करो' इस प्रकार की आज्ञा का प्रवर्तक था । अर्थात् मारो आदि वचनों के द्वारा अपने आश्रितों को जीवों की हिसा बगैरह के कायों में लगाये रखता था । उसके हाथ सदा रक्त से भरे रहते थे । साक्षात् पाप का अवतार था ।

प्रकृति से प्रचण्ड-कोधी, रौद्र—भयानक और क्षुद्र—अधम था। वह साहसिक (बिना विचारे प्रवृत्ति करनेवाला) था। उत्कंचन—धूर्त, बदमाशों और ठगों को प्रोत्साहन देने वाला, उकसाने वाला था। लांच—रिश्वत लेनेवाला, वंचक—दूसरों को ठगने वाला, धोखा देने वाला, मायावी, कपटी—वकदृति वाला, कुट्ट-कपड़ करने में चतुर और अनेक प्रकार के भगड़ा-फिसाद रचकर दूसरों को दुःख देने वाला था। निश्शील—शील रहित था। निर्वृत--हिसादि पापों से विरत न होने से ब्रतरहित था, क्षमा आदि गुणों का अभाव होने से निर्गुण था, परस्त्राधर्जन आदि रूप अर्द्धदा से रहित होने से निर्मयदि था, कभी भी उसके भन में प्रत्याख्यान, पौष्टि, उपवास आदि करने का विचार नहीं आता था। अनेक द्विपद-मनुष्यादि, चतुष्पद, भूग, पशु, पक्षी, सरीसृप—सर्प आदि की हत्या करने, उन्हें मारने, प्राणरहित करने, विनाश करने से साक्षात् अधर्म की छवजा जैसा था, अथवा अधर्म रूपी केतुयह था। गुरुजनों—माता पिता आदि को देखकर भी उनका आदर करने के लिए आसन से खड़ा नहीं होता था, उनका विनय नहीं करना था और जनपद को प्रजाजनों से राजकर लेकर भी उनका सम्यक् प्रकार से—यथार्थ रूप में पालन और रक्षण नहीं करता था।

विवेचन—‘केकय-अर्ध’—शास्त्रों में साढ़े पच्चीस (२५॥) आर्य देशों और उन देशों की एक—एक राजधानी के नामों का उल्लेख है। पच्चीस देश तो पूर्ण रूप से आर्य थे किन्तु केकय देश का आधा भाग आर्य था। बौद्ध ग्रंथों में भी केकय देश का उल्लेख है। उस देश का वर्तमान स्थान उत्तर में पेशावर (पाकिस्तान) के आसपास होना चाहिये, ऐसा इतिहासवेताओं का मंतव्य है। परन्तु अभी भी उसके नाम और भौगोलिक स्थिति का निश्चित निर्णय नहीं हो सका है।

मूल पाठ में ‘अद्वे’ शब्द है, जिसकी टीकाकार ने ‘केकया नाम अर्धम्’ लिखकर मूल शब्द की व्याख्या की है। राजा दशरथ की एक रानी का नाम “कैकयी” था। जो इस केकय देश की थी, जिससे उसका नाम कैकयी पड़ा हो, यह संभव है।

‘सेयविद्या’—केकय देश की राजधानी के रूप में इस नगरी का उल्लेख सूत्रों में किया गया है। आवश्यक सूत्र में बताया है कि श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ-अवस्था में विहार करते हुए उत्तर बाचाल प्रदेश में गये और वहाँ से “सेयविद्या” गये। इस नगरी के श्रमणोपासक राजा प्रदेशी ने भगवान् की महिमा की ओर उसके पश्चात् भगवान् वहाँ से सुरभिपुर पधारे। परन्तु वर्तमान में यह नगरी कहीं है, एतद् विषयक कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

दीघनिकाय (बौद्ध ग्रन्थ) के ‘पायासि सुत्तंत’ में इस नगरी का नाम ‘सेतव्या’ बताया है और कीशल देश में विहार करते हुए कुमार कश्यप इस नगरी में आये थे, यह सूचित करके इसे कोसल देश का नगर बताया है—‘येन सेतव्या नाम कोसलानं नगरं तद् अवसरि’ (— दीघ-निकाय भाग २)।

जैन दृष्टि से कोशल देश अयोध्या और उसके आस-पास का प्रदेश माना गया है।

सेयविद्या का किसी किसी ने “इवेतविका” यह भी संस्कृत रूपान्तर किया है।

‘परेसी’—सूत्र में उल्लिखित इस शब्द का टीकाकार आचार्य ने ‘प्रदेशी’ संस्कृत भाषान्तर किया है और आवश्यक सूत्रों में “पदेशी” शब्द का प्रयोग किया है।

इस राजा सम्बन्धी जो वर्णन इस “रायपसेणइय” सूत्र में आगे किया जाने वाला है, उससे मिलता-जुलता वर्णन दीघनिकाय के, ‘पायासि सुत्तंत’ में भी किया गया है। इसमें मुख्य प्रश्नकार

राजा पयासी है और उसका वंश राजन्य एवं सम्बन्ध कोशल वंश के राजा 'पसेनदि' के साथ बताया है। 'रायपसेणद्वय' सूत्र में जिस प्रकार से राजा पयेसी को अत्यन्त पापिष्ठ के रूप में वर्णित किया है, वैसा तो दीर्घनिकाय में नहीं कहा है, किन्तु वहाँ इतना उल्लेख अवश्य है कि इस राजा के विचार पापमय थे और यह मानता था कि परलोक नहीं, आपपातिक सत्ता नहीं है और सुकृत-दुष्कृत का किसी प्रकार का फल-विपाक नहीं है (—दीर्घनिकाय भाग २)।

इस राजा के विषय में और कोई ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती है।

रानी सूर्यकान्ता और युवराज सूर्यकान्त

२०८—तस्य यं पएसिस्स रज्ञो सूरियकान्ता नामं देखी होत्था, सुकुमालपाणिपाथा धारिणी वण्णओ^१। पएसिणा रज्ञा सद्दि अनुरक्ता अविरक्ता इहुः सदे फरिसे रसे रुवे जाव (गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पञ्चमुभवमाणा) विहरइ।

तस्य यं पएसिस्स रण्णो जेट्ठे पुत्ते सूरियकान्ताए देवीए अत्तए सूरियकान्ते नामं कुमारे होत्था, सुकुमालपाणिपाए जाव पडिरुवे।

से यं सूरियकान्ते कुमारे जुवराया वि होत्था, पएसिस्स रज्ञो रज्ञं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्टागारं च पुरं च अंतेऽरं च सयमेव पञ्चमुवेक्षणमाणे पञ्चमुवेक्षणमाणे विहरइ।

२०९—उस प्रदेशी राजा की सूर्यकान्ता नाम की रानी थी, जो सुकुमाल हाथ पेर आदि अनोपांग वाली थी, इत्यन्दि धारिणी रानी वे समान इसका वर्णन करना चाहिए। वह प्रदेशी राजा के प्रति अनुरक्त-अतीव स्नेहशील थी, उससे कभी विरक्त नहीं होती थी और इष्ट प्रिय—शब्द, स्पर्श, रस, (यावत् गन्धमूलक) अनेक प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगती हुई रहती थी।

उस प्रदेशी राजा का ज्येष्ठ पुत्र और सूर्यकान्ता रानी का आत्मज सूर्यकान्तनामक राजकुमार था। वह सुकोमल हाथ पेर वाला, अतीव मनोहर था।

वह सूर्यकान्त कुमार युवराज भी था। वह प्रदेशी राजा के राज्य (शासन), राष्ट्र (देश), बल (सेना), वाहन (रथ, हाथी, अश्व आदि) कोश, कोठार (अन्न-भण्डार) पुर और अंतःपुर की स्वयं देख भाल किया करता था।

चित्त सारथी

२०९—तस्य यं पएसिस्स रज्ञो जेट्ठे माउयवयंसए चित्ते यामं सारही होत्था, अहुः जाव^२ बहुजणस्स अपरिभूए, साम-दंड-भेद-उवच्छयाण-अत्यसत्थ-ईहा-भइविसारए, उपस्तियाए-वेणतियाए-कम्भयाए-न्यारिणामिथाए चउञ्चिहाए बुद्धीए उवबेए, पएसिस्स रण्णो बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य कुडुवेसु य मंतेसु य गुज्जेसु य रहस्तेसु य निच्छेसु य ववहारेसु य आपुच्छिज्जे पडिपुच्छिज्जे, मेढी, पमाण, आहारे, आलंबण, चक्खू, मेढिभूए, पमाणभूए, आहारभूए, चक्खुभूए, सर्वद्वाणसब्बभूमि-यासु लद्धपञ्चए विविष्णविचारे रजजधुराचितए आवि होत्था।

१. धारिणी रानी के लिये देखिये सूत्र संख्या ५

२. देखें सूत्र संख्या ४

उस प्रदेशी राजा का उम्र में बड़ा (ज्येष्ठ) भाई एवं मित्र सरीखा चित्त नामक सारथी था । वह समुद्दिशाली यावत् (दीप्त-तेजस्वी, प्रसिद्ध, विशाल भवनों, अनेक सैकड़ोंशत्या-आसन-यान-रथ आदि तथा विपुल धन, सोने-चाँदी का स्वामी, अर्थोपार्जन के उपायों का ज्ञाता था । उसके यहाँ इतना भोजन-पान बनता था कि खाने के बाद भी बचा रहता था । दास, दासी, गायें, भैंसें, भेड़ें बहुत बड़ी संख्या में उसके यहाँ थीं) और बहुत से लोगों के द्वारा भी पराभव को प्राप्त नहीं करने वाला था । साम-दण्ड-भेद और उपप्रदान नीति, अर्थशास्त्र एवं विचार-विमर्श प्रधान बुद्धि में विशारद—कुशल था । औत्पत्तिकी, वैनियिकी, कामिकी तथा पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त था । प्रदेशी राजा के द्वारा अपने बहुत से कायों में, कार्य में सफलता मिलने के उपायों में, कौटुम्बिक कायों में, मन्त्रणा (सलाह) में, गुप्त कायों में, रहस्यमय गोपनीय प्रसंगों में, निष्चय—निर्णय करने में, राज्य सम्बन्धी व्यवहार-विधानों में पूछने योग्य था, बार-बार विशेष रूप से पूछने योग्य था । अर्थात् सभी छोटे-बड़े कायों में उससे सलाह ली जाती थी । वह सबके लिये मेढ़ी (खलिहान के केन्द्र में गाड़ा हुया स्तम्भ, जिसके चारों ओर घूमकर बैल धान्य कुचलते हैं) के समान था, प्रमाण था, पृथ्वी के समान आधार—आश्रय था, रसी के समान आल-बन था, नेत्र के समान मार्गदर्शक था, मेढ़ीभूत था, प्रमाणभूत था, आधार और अवलम्बनभूत था एवं चक्षुभूत था । सभी स्थानों—सन्धि-विग्रह आदि कायों में और सभी भूमिकाओं—मन्त्री, अमात्य आदि पदों में प्रतिष्ठा-प्राप्त था । सबको विचार देने वाला था अर्थात् सभी का विश्वासपात्र था तथा चक्र की धुरा के समान राज्य-संचालक था—सकल राज्य कायों का प्रेक्षक था ।

विवेचन—उक्त धर्णन से यह प्रतीत होता है कि चित्त सारथी अतिनिषुण राजनीतिज्ञ, राज्य-व्यवस्था करने में प्रवीण एवं अत्यन्त बुद्धिशाली था । उसे औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त बताया है । इन चार प्रकार की बुद्धियों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **औत्पत्तिकी बुद्धि—**अदृष्ट, अननुभूत और अश्रुत किसी विषय को एकदम समझ लेने, तथा विषम समस्या के समाधान का तत्क्षण उपाय खोज लेने वाली बुद्धि या अक्समात्, सहसा, तत्काल उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म ।

(२) **वैनियिकी—**गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा, विनय करने से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

(३) **कामिकी—**कार्य करते-करते अनुभव-अभ्यास से प्राप्त होने वाली दक्षता, निषुणता । इसको कर्मजा अथवा कर्मसमुत्था बुद्धि भी कहते हैं ।

(४) **पारिणामिकी—**उम्र के परिपाक से अंजित विभिन्न अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

उक्त चार बुद्धियाँ मतिज्ञान के शुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित इन दो मूल विभागों में से दूसरे विभाग के अन्तर्गत हैं । जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कार के निमित्त से उत्पन्न किन्तु वर्तमान में श्रुतनिरपेक्षा होता है, उसे श्रुतनिश्चित कहते हैं एवं जिसमें श्रुतज्ञान के संस्कार की किञ्चित्-मात्र भी अपेक्षा नहीं होती है वह प्रश्रुतनिश्चित मतिज्ञान कहलाता है ।

कुणाला जनपद, शावस्ती नगरी, जितशब्दु राजा

२१०—तेण कालेण तेण समयेण कुणाला नामं जग्वए हेत्था, रिद्धित्थमियसमिद्धे । तत्थ ए

कुणाला ए जणदए सावत्थी नामं नगरी होत्था रिद्धियमियसमिद्वा जाव^१ पड़िहवा ।

तीसे णं सावत्थीए णगरीए बहिया उत्तरपुरस्तिमेविसीभाए कोट्टुए नामं चेहए होत्था, पोराणे जाव^२ पासावीए ।

तत्थ णं सावत्थीए नगरीए पएसिस्स रणो अन्तेवासी जियसत्तू नामं राया होत्था, मह्या-हिमवन्त जाव बिहरइ ।

२१०—उस काल और उस समय में कुणाला नामक जनपद-देश था । वह देश वैभवसंपन्न, स्तम्भित-स्वपरचक (शत्रुओं) के भय से मुक्त और धन-धान्य से समृद्ध था ।

उस कुणाला जनपद में श्रावस्ती नाम की नगरी थी, जो क्रह्ण, स्तम्भित, समृद्ध मावत् (देखने योग्य, मन को प्रसन्न करने वाली, अभिरूप-मनोहर और) प्रतिरूप-अतीव मनोहर थी ।

उस श्रावस्ती नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा (ईशान दिवकोण) में कोष्ठक नाम का चेत्य था । यह चेत्य अत्यन्त प्राचीन पावत् प्रतिरूप था ।

उस श्रावस्ती नगरी में प्रदेशी राजा का अन्तेवासी जैसा अर्थात् अधीनस्थ—आज्ञापालक जितशत्रु नामक राजा था, जो महाहिमवन्त आदि पर्वतों के समान प्रख्यात था ।

बिवेचन—दीघनिकाय के ‘महासुदस्सन सुत्तंत’ में श्रावस्ती नगरी को उस समय का एक महानगर बताया है । प्राचीन भूगोलशोधकों का अभिभवत है कि वर्तमान में सेहट-मेहट के नाम से जो ग्राम जाना जाता है, वह प्राचीन श्रावस्ती नगरी है ।

चित्त सारथी का श्रावस्ती की ओर प्रयाण

२११—तए णं से पएसी राया अन्नया कथाइ महत्थं महग्यं महरिहं दिचलं रायारिहं पाहुडं सज्जावेइ, सज्जावित्ता चित्तं सार्हिं सद्वावेति, सद्वावित्ता एवं वयासी—

गच्छ णं चित्ता ! तुमं सावत्थं नगर्ि जियसत्तूस्स रणो इमं महत्थं जाव (महग्यं, महरिहं रायारिहं) पाहुडं उवणेहि, जाइं तत्थ रायकज्जाणि य रायकिच्चाणि य रायनीतिओ य रायववहारा य ताइं जियसत्तूणा सर्छि सयमेव पञ्चवेक्षभाणे बिहराहि त्ति कट्टु चिसम्भिए ।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रणा एवं बुते समाणे हटु जाव (तुट्टु-चित्तमाणंदिए-पीहमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस-विसप्पमाण-हियए करयल-परिगमहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजालि कट्टु ‘एवं देवो तहत्ति’ आणाए विणएणं वयणं) पडिसुणेता तं महत्थं जाव पाहुडं गेणहुइ, पएसिस्स रणो जाव पडिणिक्षम्भवेष्ट सेयवियं नगर्ि मज्जंमज्जेणं जेणेव सए गिहे सेणेव उवागच्छति, उवागच्छता तं महत्थं जाव पाहुडं ठवेइ, कोडु बियपुरिसे सद्वावेइ, सद्वावेत्ता एवं वयासी—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सच्छत्तं जाव चाउग्यंटं आसरहं जुत्तामेव उवटुवेह जाव पच्च-प्पिणहू । तए णं से कोडु बियपुरिसा तहेव पडिसुणिता खिप्पामेव सच्छत्तं जाव जुद्धसर्जं चाउग्यंटं आसरहं जुत्तामेव उवटुवेन्ति, तमाणत्तियं पच्चप्पिणति ।

१. देखें सूत्र संख्या १

२. देखें सूत्र संख्या २

तए ण से चित्ते सारहो कोडुं वियपुरिसाण अंतिए एयमट्ठं जाव शियए ण्हाए, कयबलिकम्मे, कयकोउयमंगलपायच्छ्वते सश्छद्वब्द्वयम्मयकवए, उप्पीलियसरासणपट्टिए, पिण्डुगेदिउअधिमलवर-चिष्पपट्टे, गहियाउहपहरणे तं महत्थं जाव पाहुडं गेण्हइ, जेणेव चाउघांटे आसरहे लेणेव उवागच्छ्वइ चाउघांटे प्रासरहं दुरुहेति ।

बहुहिं पुरिसेहि सश्छद्व जाव गहियाउहपहरणेहि सद्धि संवरिवुडे सकोरंटमल्लदामेण झुत्तेण धरेज्जमाणेण महया भड्चडगररहपहकरविवरविखते साओ गिहाओ णिगच्छ्वइ सेयवियं नगर्इ मज्जां-भज्जरेण णिगच्छ्वइ, सुहेहि बासेहि पायरासेहि नाइविकिट्ठेहि अंतरा बासेहि खतमाणे-बलमाणे केइय-अद्वस्स जणवयस्स मज्जांमज्जरेण जेणेव कुणालाजणवए जेणेव सावत्यो नयरी तेणेव उवागच्छ्वइ, सावत्यीए नयरीए मज्जांमज्जरेण अणुपचिसइ । जेणेव जियसत्तुस्स रण्णो गिहे, जेणेव बाहिरिया उवटुणसाला तेणेव उवागच्छ्वइ, तुरए निगिण्हह, रहं ठवेति, रहाओ पच्चोरुहइ ।

तं महत्थं जाव पाहुडं गिण्हइ जेणेव अकिभतरिया उवटुणसाला जेणेव जियसत्तू राया लेणेव उवागच्छ्वइ, जियसत्तू रायं करयलपरिमाहियं जाव॑ कट्टु जएणं विजएणं बद्वावेइ, तं महत्थं जाव पाहुडं उद्गणेइ ।

तए ण से जियसत्तू राया चिस्सस्स सारहिस्स तं महत्थं जाव पाहुडं पडिछ्छ्वइ, चित्तं सारहि सकारेइ सम्माणेइ पडिविसज्जेइ रायमगमोगां ख से आवासं दलयइ ।

२११—तत्पश्चात् किसी एक समय प्रदेशी राजा ने महार्थ (विशिष्ट प्रयोजनयुक्त) बहुमूल्य, महान् पुरुषों के योग्य, विषुल, राजाओं को देने योग्य प्राभृत (उपहार) लजाया—तैयार किया । लजाकर चित्त सारथी को बुलाया और बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—

हे चित्त ! तुम श्रावस्ती नगरी जाओ और वहाँ जितशत्रु राजा को यह महार्थ यावत् (महान् पुरुषों के अनुरूप और राजा के योग्य मूल्यवान्) भेंट दे आओ तथा जितशत्रु राजा के साथ रहकर स्वयं वहाँ की शासन-व्यवस्था, राजा की देनिकचर्या, राजनीति और राजव्यवहार को देखो, मुनो और अनुभव करो—ऐसा कहकर विदा किया ।

तब वह चित्त सारथी प्रदेशी राजा की इस आज्ञा को सुनकर हस्तित हुआ यावत् (संतुष्ट हुआ, चित्त में आनन्दित, मन में अनुरागी हुआ, परमसौमनस्य भाव को प्राप्त हुआ एवं हृष्टतिरेक से विकसित-हृदय होकर उसने दोनों हाथ जोड़ शिर पर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके—‘राजन् ! ऐसा ही होगा’ कहकर बिनयपूर्वक आज्ञा को स्वीकार किया ।) आज्ञा स्वीकार करके उस महार्थक यावत् उपहार को लिया और प्रदेशी राजा के पास से निकल कर बाहर आया । बाहर आकर सेयविया नगरी के बीचों-बीच से होता हुआ जहाँ अपना घर था, वहाँ आया । आकर उस महार्थक उपहार को एक तरफ रख दिया और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया । बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—

देवानुप्रियो ! शीघ्र ही छत्र सहित यावत् चार घंटों वाला अष्वरथ जोतकर तैयार कर लाओ यावत् इस आज्ञा को वापस लौटाओ ।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने चित्त सारथी की आङ्गा सुनकर आज्ञानुरूप शीघ्र ही छत्रसहित यावत् युद्ध के लिये सजाये गये चातुर्घटिक अश्वरथ को जोत कर उपस्थित कर दिया और आज्ञा वापस लौटाई, अर्थात् रथ तैयार हो जाने की सूचना दी।

कौटुम्बिक पुरुषों का यह कथन सुनकर चित्त सारथी हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् विकसितहृदय होते हुए उसने स्नान किया, बलिवर्म (कुरुदेवता की शर्वांस की, अश्ववा पक्षियों को दाना डाला), कीरुक (तिलक आदि) मंगल-प्रायशिच्छा किये और फिर अच्छी तरह से शरीर पर कवच बांधा। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई, गले में ग्रीवेयक और अपने श्रेष्ठ संकेतपटुक को धारण किया एवं आयुध तथा प्रहरणों को ग्रहण कर, वह महार्थक यावत् उपहार, लेकर वहाँ आया जहाँ चातुर्घट अश्वरथ बड़ा था। आकर उस चातुर्घट अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ।

तत्पश्चात् सबद्ध यावत् आयुध एवं प्रहरणों से सुसज्जित बहुत से पुरुषों से परिवृत्त हो, कोरंट पुष्प की मालाओं से विभूषित छत्र को धारण कर, सुभटों और रथों के समूह के साथ अपने घर से रवाना हुआ और सेयविद्या नगरी के बीचोंबीच से निकल कर सुखपूर्वक रात्रिविश्राम, प्रातः कलेवा, अति दूर नहीं किन्तु पास-पास अन्तरावास (पड़ाव) करते, और जगह-जगह ठहरते-ठहरते केक्यश्वर्म जनपद के बीचोंबीच से होता हुआ जहाँ कुणाला जनपद था, जहाँ शावस्ती नगरी थी, वहाँ आ पहुँचा। वहाँ आकर शावस्ती नगरी के मध्यभाग में प्रविष्ट हुआ। इसके बाद जहाँ जितशत्रु राजा का प्रासाद था और जहाँ राजा की बाह्य उपस्थानशाला थी, वहाँ आकर घोड़ों को दोका, रथ को खड़ा किया और फिर रथ से नीचे उत्तरा।

तदनन्तर उस महार्थक यावत् भेट को लेकर आम्यन्तर उपस्थानशाला (बैठक) में जहाँ जितशत्रु राजा बैठा था, वहाँ आया। वहाँ दोनों हाथ जोड़ यावत् जय-विजय शब्दों से जितशत्रु राजा का अभिनन्दन किया और फिर उस महार्थक यावत् उपहार को भेट किया।

तब जितशत्रु राजा ने चित्त सारथी द्वारा भेट किये गये इस महार्थक यावत् उपहार की स्वीकार किया एवं चित्त सारथी का सत्कार-सम्मान किया और विदा करके विश्राम करने के लिए राजमार्ग पर आदास स्थान दिया।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में बताया कि शावस्ती का राजा जितशत्रु सेयविद्या के राजा प्रदेशी का अतेवासी था अर्थात् अधीनस्थ राजा था। तब प्रश्न होता है कि अधीनस्थ राजा होते हुए भी राजा प्रदेशी का जितशत्रु राजा को भेट भेजने और चित्त सारथी को शावस्ती जाकर राजव्यवस्था देखने के संकेत का क्या कारण था? प्रतीत होता है, अनेक बार अधीनस्थ राजा अपने से मुख्य राजा की अपेक्षा बल, सेना, कोष और कितनी ही दूसरी बातों में बढ़ने का गुप्त प्रयास करते हैं और प्रच्छम रूप से उसे अपदस्थ करके स्वयं उसके राज्य पर अधिकार करने शादि का प्रयत्न करते हैं। इस स्थिति का पता जब उस मुख्य राजा को लगता है, तब वह राजनीति का अवलंबन लेकर उसकी खोजबीन करने का प्रयास करता है। इस प्रयास के दूसरे-दूसरे उपायों की तरह भेट भेजना भी एक उपाय है। यही बात प्रदेशी राजा द्वारा कहे गये इन शब्दों से विदित होती है—

‘तुम यह भेट दे आओ तथा जितशत्रु राजा के साथ रहकर स्वयं वहाँ की शासनव्यवस्था, राजा की दैनिक चर्चा, राजनीति और व्यवहार को देखो, सुनो और अनुभव करो।’

२१२—तए ण से चित्ते सारही विसज्जिते समाणे जियसत्तुस्स रक्षो अंतियाओ पडिनिष्कमइ, लेणेव बाहिरिगा उवलालालाला जेणेव आउरघंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउरघंटे आसरहे दुरुहइ, सावहिथ नगरि मज्जमंज्जेण जेणेव रायभरगमोगाहे आवासे तेणेव उवश्यच्छइ, तुरए निगिष्हइ, रहं ठवेइ, रहाओरोरहइ, णहाए कथबलिकमे कथकोउयमंगलपायच्छत्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वस्थाइं पवरपरहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जिमियभुत्तरागए वियणे समाणे पुष्वावरणह-कालसमयंसि गंधवेहि य णाडगेहि य उवनच्चज्जमाणे उवनच्चज्जमाणे, उवगाइज्जमाणे, उवगाइज्ज-माणे, उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे इट्ठे सह-फरिस-रस-रुद्ध-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पञ्चगुभवमाणे विहरह ।

२१२—तत्पश्चात् चित्त सारथी विदाई लेकर जितशत्रु राजा के पास से निकला और जहाँ बाह्य उपस्थानशाला थी, चार घंटों वाला अश्वरथ खड़ा किया था, वहाँ आया । आकर उस चातुर्घंट अश्वरथ पर सवार हुआ । फिर शावस्ती नगरी के बीचोंबीच से होता हुआ राजमार्ग पर अपने ठहरने के लिये निश्चित किये गये आवास-स्थान पर आया । वहाँ घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया और नीचे उतरा । इसके पश्चात् उसने स्नान किया, बलिकर्म किया और कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त करके शुद्ध और उचित—योग्य मांगलिक वस्त्र पहने एवं अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया । भोजन आदि करके तीसरे प्रहर गंध्रवों, नतंकों और नाट्यकारों के संगीत, नृत्य और नाट्याभिनयों को सुनते-देखते हुए तथा इष्ट—अभिलिप्ति शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंधमूलक पांच प्रकार के मनुष्य संबंधी कामभोगों को भोगते हुए विचरने लगा ।

शावस्ती नगरी में केशी कुमारशमण का पदार्पण

२१३—तेण कालेण तेण समएण पासावच्चिज्जे केसो नाम कुमारसमणे जातिसंपणे कुल-संपणे बलसंपणे रुद्धसंपणे विण्यसंपणे नाणसंपणे दंसणसंपणे चरित्तसंपणे लज्जासंपणे लाघव-संपणे लज्जालाघवसंपणे ओयंसी तेयंसी दच्चंसी जसंसी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोहे जियणिहे जितिदिए जियपरीसहे जीवियास-मरणभयविष्पमुक्ते तवप्पहाणे गुणप्पहाणे करणप्पहाणे चरणप्पहाणे निगहप्पहाणे निच्छयप्पहाणे अजजवप्पहाणे महवप्पहाणे लाघवप्पहाणे खंतिप्पहाणे गुत्तिप्पहाणे मुस्तिप्पहाणे विजजप्पहाणे भंतप्पहाणे वेयप्पहाणे नयप्पहाणे नियमप्पहाणे सञ्च-प्पहाणे सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दंसणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्ती घोरबंध-चेरबासी उच्छ्रूद्धसरीरे संखित्तविपुलतेउलेसे चउद्धसपुव्वी धुउणाणोवगए पंचहि अणगारसएहि सर्दि संपरिवुडे पुष्वाणुपुर्वि चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे सुहंसुहेण विहरमाणे जेणेव सावत्थी नयरी, जेणेव रोट्टुए चेहए, तेणेव उवागच्छइ, सावत्थी नयरीए बहिया कोट्टुए चेहए अहापडिरुदं उग्गहं उग्गिष्हइ, उग्गिष्हता संज्ञमेणं तवसा अप्पाणं भवेमाणं विहरह ।

२१३—उस काल और उस समय में जातिसंपन्न—उत्तम मातृपक्ष वाले, कुल संपन्न—उत्तम पितृपक्ष वाले, आत्मबल से युक्त, अनुत्तर विमानवासी देवों से भी अधिक रूपवान् (शरीर-सीन्दर्य-शाली), विनयवान्, सम्यग् जान, दर्शन, चरित्र के धारक, लज्जावान्—पाप कार्यों के प्रति भीर, लाघववान्, (द्रव्य से अल्प उपधि वाले और भाव से कृद्धि, रस और साता रूप तीन गीरबों से रहित), लज्जालाघवसंपन्न, ओजस्वी—मानसिक तेज से संपन्न, तेजस्वी—शारीरिक कांति से देवीप्यमान,

वचस्वी— सार्थक वचन बोलने वाले, यशस्वी, क्रोध को जीतने वाले, मान को जीतने वाले, माया को जीतने वाले, लोभ को जीतने वाले, जीवित रहने की आकृक्षा एवं मृत्यु के भय से विमुक्त, तपःप्रधान अर्थात् उत्कृष्ट तप करने वाले, गुणप्रधान अर्थात् उत्कृष्ट संयम गुण के धारक, करणप्रधान (पिंडविशुद्धि आदि करणसत्तरी में प्रधान), चरणप्रधान (महाब्रत आदि चरणसत्तरी में प्रधान), निश्रह-प्रधान (मन और इन्द्रियों को अनाचार में प्रवृत्ति को रोकने में सदैव सावधान), तत्त्व का निश्चय करने में प्रधान, आज्ञवप्रधान (माया का निश्रह करने वाले), मार्दवप्रधान (अभिमानरहित), लाघवप्रधान अर्थात् क्रिया करने के कौशल में दक्ष, क्षमाप्रधान अर्थात् क्रोध का निश्रह करने में प्रधान, गुप्तप्रधान (मन, वचन, काय के संयमी), भुक्ति (निर्लोभता) में प्रधान, विद्याप्रधान (देवता-अधिष्ठित प्रजपति आदि विद्याओं में प्रधान), मंत्रप्रधान (हरिणेगमेषी आदि देवों से अधिष्ठित अथवा साक्षना से प्राप्त होने वाली विद्याओं में प्रधान), ब्रह्मचर्य अथवा समस्त कुशल अनुष्ठानों में प्रधान, वैदप्रधान अर्थात् लौकिक और लोकोत्तर आगमों में निष्णात, नयप्रधान अर्थात् समस्त वाचनिक अपेक्षाओं के मर्मज, नियमप्रधान—विचित्र अभिश्रहों को धारण करने में कुशल, सत्यप्रधान, शौचप्रधान (द्रव्य और भाव से ममत्व रहित), ज्ञानप्रधान, दर्शनप्रधान, चारित्रप्रधान, उदार, धोर परीष्ठहों, इन्द्रियों और कषायों आदि आन्तरिक शत्रुओं का निश्रह करने में कठोर, धोरन्नतो—अप्रमत्त भाव से महाब्रतों का पालन करने वाले, धोरतपस्वी—महातपात्रों, धोर ब्रह्मचर्यनाशी—उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, शरीरसंस्कार के त्यागी, विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में ही समाये रखने वाले, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, मतिज्ञानादि मनःपर्याधिज्ञानपर्यन्त चार ज्ञानों के धनी पाश्वपित्य (भगवान् पाश्वनाथ की शिष्यपरम्परा के) केशी नामक कुमारश्रमण (कुमार अवस्था में दीक्षित साधु) पाँच सौ अनगारों से परिवृत्त होकर अनुक्रम से चलते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए जहाँ श्रावस्ती नगरी थी, जहाँ कोष्ठक चैत्य था, वहाँ पधारे एवं श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक चैत्य में यथोचित अवश्रह को ग्रहण किया अर्थात् स्थान की याचना की और फिर अवश्रह ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

विवेचन— मूल पाठ में आगत 'करणप्रहाणे' एवं 'चरणप्रहाणे' पद में करण और चरण शब्द करणसत्तरों और चरणसत्तरी के बोधक हैं । इन दोनों का तात्पर्य है—करण के सत्तर भेद और चरण के सत्तर भेद । प्रयोजन होने पर साधु जिन नियमों का सेवन करते हैं उन्हें करण अथवा करणगुण कहते हैं और जिन नियमों का निरंतर आचरण किया जाता है, वे चरण अथवा चरणगुण कहलाते हैं ।

करण के सत्तर भेद इस प्रकार हैं—

पिंडविसोही समिद्ध भावण पदिमा य इन्द्रियनिरोही ।
पदिलेहण गुर्तीश्चो अभिग्रहा चेव करणं तु ॥

—ओघनिर्युक्ति गा० ३

आहार, वस्त्र, पात्र और शश्या की शुद्ध गवेषणा, पाँच समिति, अनित्य आदि बारह भावनाएँ, बारह प्रतिमाएँ पंच इन्द्रियों का निश्रह, पञ्चोंस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्ति एवं चार प्रकार के अभिश्रह (ये करण गुण के सत्तर भेद हैं) ।

चरण के सत्तर भेद इस प्रकार हैं—

वथं सम्पर्कम् संजाद वेयाद्यन्तं च वल्लागुत्तीशो ।
णाणाइतियं तवं कोहनिगग्हाई चरणमेयं ॥

पांच महाव्रत, क्षमा आदि दस प्रकार का यतिधर्म, सत्रह प्रकार का संयम, आचार्य आदि का दस प्रकार का वेयावृत्त्य, तीन ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना, बारह प्रकार का तप, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह (ये चरणगुण के सत्तर भेद हैं) ।

दर्शनार्थ परिषदा का गमन और चित्त की जिज्ञासा

२१४—तए णं सावत्थीए नवरीए सिघाडग-तिथ-चउडक-बरुचर-अउमुह-महापहेसु भहया जणसद्वे इ वा जाणबूहे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणउम्भी इ वा जणउडकलिया इ वा जणसम्भिवाए इ वा जाव (बहुजणो अण्णभण्ण एवं आइकखड़ एवं भासेह एवं पण्णवेह एवं पहवेह—एवं खलु देवाणुपिया ! पासावच्चिवज्जे केसो नाम कुमारसमणे जाहसंपन्ने जाव^१ गामाणुग्रामं दूइज्जमाणे इह मागए, इह संपत्ते, इह समोसद्वे, इहेव सावत्थीए नवरीए बहिया कोटुए चेहए अहापद्धरुवं उगाहं उगिगिण्हित्ता संजमेणं तबसा अपपाणं भावेमाणे विहरह ।

तं महफलं खलु भो देवाणुपिया ! तहारुवाणं समणाणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंगपुण अभिगमण-बंदन-णमंसण-पडिगुच्छण-पज्जुवासणयाए ? एगस्स वि भायरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग ! पुण विउलस्स अटुस्स गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुपिया ! समणं भगवं बंदामो णमंसामो सवकाणोमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेहयं विणएणं पज्जुवासामो (एयं णं इहभवे पेच्चभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुग्रमियत्ताए भविस्सइ-त्ति कट्टु परिसा निगाथा, केसो नामं कुमारसमणं तिकखुत्तो आयाहिणं पथाहिणं करेति, बंदइ णमंसइ, बंदित्ता णमंसित्ता णच्चवासन्ने णाह्नदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलियउडे अभिमुहे विणएणं) परिसा पज्जुवासइ ।

२१४—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्वमण का पदार्पण होने के पश्चात्) श्रावस्ती नगरी के शूँगाटकों (त्रिकोण वाले स्थानों), त्रिकों (तिराहों), चतुष्कों (चौराहों), चत्वरों (चौकों), चतुमुखों (चारों तरफ द्वार वाले स्थान-विशेषों), राजमार्गी और मार्गी (गलियों) में लोग आपस में चर्चा करते लगे, लोगों के भुँड इकट्ठे होने लगे, लोगों के बोलने की चोंधाट सुनाई पड़ने लगी, जनकोलाहल होने लगा, भीड़ के कारण लोग आपस में टकराने लगे, एक के बाद एक लोगों के टोले आते दिखाई देने लगे, इधर-उधर से आकर लोग एक स्थान पर इकट्ठे होने लगे, यावत् (बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे से कहने लगे, बोलने लगे, प्ररूपण करने लगे—हे देवानुप्रियो ! जाति आदि से संपन्न-श्रेष्ठ पाश्वपित्य केशी कुमारश्वमण अनुक्रम से गमन करते हुए, ग्रामानुग्राम—एक गांव से दूसरे गांव में—विचरते हुए आज यहाँ आये हैं, प्राप्त हुए हैं, पदारंग गए हैं और इसी श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक चैत्य में यथारूप (साधुमर्यादा के अनुरूप) अवग्रह—आज्ञा लेकर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे हैं ।

अतएव हे देवानुप्रियो ! जब तथारूप श्रमण भगवन्तों के नाम और गोत्र के सुनने से ही महाफल प्राप्त होता है, तब उनके समीप जाने, उनकी बंदना करने, उनसे प्रश्न पूछने और उनकी

पर्युपासना—सेवा करने से प्राप्त होने वाले अनुपम फल के लिये तो कहना ही क्या है ! आर्य धर्म के एक मुवचन के सुनने से जब महाफल प्राप्त होता है, तब हे आयुष्मन् ! विषुल अर्थों को ग्रहण करने से प्राप्त होने वाले फल के विषय में तो कहना ही क्या है ? इसलिये हे देवानुप्रियो ! हम उनके पास चलें ; उनको वंदन-नमस्कार करें, उनका सत्कार करें, भक्तिपूर्वक सम्मान करें एवं कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप उनकी विमयपूर्वक पर्युपासना करें। वह वंदन-नमस्कार हरता हमें इस भव तथा परभव में हितकारी है, सुखप्रद है, क्षेम-कुशल एवं परमनिश्चयस्—कल्याण का साधन रूप होगा तथा इसी प्रकार अनुगामी रूप से जन्म-जन्मान्तर में भी सुख देने का निमित्त बनेगा—ऐसा विचार कर परिषदा (जनसमुदाय) निकली और केशी कुमारश्रमण के पास पहुँच कर दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके न तो अधिक दूर और न अधिक निकट किन्तु उनके सम्मुख यथायोग्य स्थान पर बैठकर शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए सविनय अंजलि करके) पर्युपासना—सेवा करने लगी ।

२१५—तए णं तस्य सारहिस्स तं महाजणसह्यं च जणकलकलं च सुणेत्ता य वासेत्ता य इमेया-
रुद्वे अज्ञस्तिथए जाव (चित्तिए, पत्तिए मणोगते संकाप्ये) समुद्यज्जित्या, कि णं अज्ञ सावत्थीए
ण्यरीए इंद्रमहे इ वा, खंदमहे इ वा, रहमहे इ वा, मउंदमहे इ वा, सिवमहे इ वा, वेसमणमहे इ वा,
नागमहे इ वा, जवखमहे इ वा, भूयमहे इ वा, यूममहे इ वा, चेह्यमहे इ वा, रुखमहे इ वा, गिरिमहे
इ वा, दरिमहे इ वा, अगडमहे इ वा, नईमहे इ वा, सरमहे इ वा, सागरमहे इ वा, जं णं इमे बहुवे
उग्णा उग्गपुत्ता भोगा राइश्ना इक्खागा णाया कोरव्वा जाव (खत्तिया माहणा भडा जोहा मल्लई
मल्लहपुत्ता लेख्छृङ्ग, लेच्छहपुत्ता) इडमा इक्कपुत्ता अण्णो य बहुवे राया-ईसर-तलवर-माडंबिय-कोडु'बिथ-
इडम-सेह्टु-सेणावइ-सत्यवाहप्पमितियो ष्हाया क्यबलिकम्मा क्यकोडयमंगलपायचिष्ठता सिरसाकंठे-
मालकडा आविद्धमणिसुवण्णा कृत्पियहार-अद्वार-तिसरपालंदपलंबमाण-कडिसुत्यक्यसोहाहरणा
चंदणोलितगायसरीरा पुरिसवगुरापरिखिता भह्या उविकट्टुसीहुणायबोलकलकलरवेणं एगदिसाए जहा
उववाहए जाव अप्पेगतिया हृयगया गवगया जाव (रहगया लिद्यागया संदमाणिया अप्पेगतिया)
पायचारविहरेणं भह्या मह्या वंदावंदर्द्दहि निगच्छर्ति, एवं संपेहेइ, संपेहिता कंचुइज्जपुरिसं सदावेइ,
सद्वाविता एवं वयासी—

कि णं देवाणुष्मिया ! अज्ञ सावत्थीए नगरीए इंद्रमहे इ वा जाव सागरमहे इ वा जेणं इमे
बहुवे उग्गा भोगा० पिण्णच्छर्ति ?

२१६—तब लोगों की बातचीत, जनकोलाहल सुनकर तथा जनसमूह को देखकर चित्त सारथी को इस प्रकार का यह आन्तरिक यावत् (चिन्तित, प्रार्थित—इष्ट और मणोगतसंकल्प-विचार) उत्पन्न हुआ कि क्या आज श्रावस्ती नगरी में इन्द्रमह (इन्द्र-निमित्तक उत्सव—इन्द्रमहोत्सव) है ? अथवा स्कन्द (कातिकेय) मह है ? या रुद्रमह, मुकुन्दमह, शिवमह, वैश्रमण (कुबेर) मह, नागमह (नाग सम्बन्धी उत्सव), यक्षमह, भूतमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, दरि (गुफा) मह, कूपमह, नदीमह, सर (तालाव) मह, अथवा सागरमह है ? कि जिससे ये बहुत से उग्रवंशीय, उग्रवंशीयकुमार, भोगवंशीय, राजन्यवंशीय, इक्वाकुवंशीय, ज्ञातवंशीय, कोरववंशीय यावत् (क्षत्रिय—सामान्य राजकुल के सूम्बन्धी, भाहण-ब्राह्मण, सुभट, योधा, मल्लक्ष्मिय (मल्लिक गणराज्य से संबंधित), मल्लपुत्र, लिंग्छब्दी क्षत्रिय लिंग्छब्दी पुत्र), इडम, इब्धपुत्र तथा दूसरे भी अनेक राजा (मांडलिक राजा) ईश्वर

युवराज) तलवर (जागोरदार), माडंबिक, कीटुम्बिक, इश्यथेष्ठी (भग्नाशनी—हाथी प्रमाण धन से संपन्न सेठ), सेनापति, सार्थवाह आदि सभी स्नान कर, बलिकर्म कर, कीतुक-मंगल-प्रायशिचित कर, मस्तक और गले में मालाएँ धारण कर, मणिजटित स्वर्ण के आभूषणों से शरीर को विभूषित कर, गले में हार, (अठारह लड़ का हार), अर्धहार, तिलड़ी, झूमका, और कमर में लटकते हुए कटिसूत्र (करधनी) पहनकर, शरीर पर चंदन का लेप कर, आनंदातिरेक से सिहनाद और कलकल ध्वनि से श्रावस्ती नगरी को गुजाते हुए जनसमूह के साथ एक ही दिशा में मुख करके जा रहे हैं आदि वर्णन औपचारिक सूत्र के अनुसार यहाँ जानना चाहिये । यावत् उनमें से कितने ही घोड़ों पर सवार होकर, कई हाथी पर सवार होकर, कोई रथों में बैठ कर, या पालखी में बैठ कर स्यंदमानिका में बैठ कर और कितने ही अपने अपने समुदाय बनाकर पैदल ही जा रहे हैं । ऐसा विचार किया और विचार करके कंचुकी पुरुष (द्वारपाल) को बुलाकर उससे पूछा—

देवानुप्रिय ! आज क्या श्रावस्ती नगरी में इन्द्र-महोत्सव है यावत् सागरयात्रा है कि जिससे ये बहुत से उग्रवंशीय भोगवंशीय आदि सभी लोग अपने-अपने घरों से निकलकर एक ही दिशा में जा रहे हैं ?

२१६—तए ण से कंचुद्युरिसे केसिस्स कुमारसमणस्स आगमणगहियविणिछ्छए चित्तं सारहि करयलपरिगहियं जाव बद्वावेता एवं वयासी—णो खलु वेषाणुप्तिया ! अज्ज सावत्योए नयरीए हृदमहे इ वा जाव सागरमहे इ वा जे ण इमे बहवे जाव॑ विवाविदएहि निष्पच्छंति, एवं खलु भो वेषाणुप्तिया ! पासावचिज्जे केसी नामं कुमारसमणे आइसंपन्ने जाव॑ दूड़जमाणे इहमागए जाव विहरह । तेण अज्ज सावत्योए नयरोए बहवे उग्गा जाव इवभा इवभपुत्ता अप्येगतिया वंदणवत्तियाए जाव महया वंदावंवएहि णिरगच्छंति ।

२१६—तब उस कंचुकी पुरुष ने केशी कुमारश्वमण के पदार्पण होने के निश्चित समाचार जान कर दोनों हाथ जोड़ यावत् जय-विजय शब्दों से वधाकर चित्तसारथी से निवेदन किया—देवानुप्रिय ! आज श्रावस्ती नगरी में इन्द्र-महोत्सव यावत् समुद्रयात्रा आदि नहीं है कि जिससे ये बहुत से उग्रवंशीय आदि लोग अपने-अपने समुदाय बनाकर निकल रहे हैं । परन्तु हे देवानुप्रिय ! बात यह है कि आज जाति आदि से संपन्न पाश्वपित्य वेशी नामक कुमारश्वमण यावत् एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए यहाँ पधारे हैं यावत् कोष्ठक चैत्य में विराजमान हैं । इसी कारण आज श्रावस्ती नगरी के ये अनेक उग्रवंशीय यावत् इवभा, इवभपुत्र आदि वंदना आदि करने के विचार से बड़े-बड़े समुदायों में अपने घरों से निकल रहे हैं ।

चित्त सारथी का दर्शनार्थ गमन

२१७—तए ण से चित्ते सारही कंचुद्युरिसस्स अंतिए एथमट्टं सोच्चा निसम्म हृदुन्दु-जाव-हियए कोखु वियपुरिसे सद्वावेह, सद्वावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो वेषाणुप्तिया ! ज्ञात्वं वासरहं जुत्तामेव उवद्ववेह जाव सच्छत्तं उवद्ववेति ।

२१७—तत्पश्चात् कंचुकी पुरुष से यह बात सुन-समझ कर चित्त सारथी ने हृदय-तुष्ट यावत् हर्षविभोर-हृदय होते हुए कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही चार घंटों वाले अश्वरथ को जोतकर उपस्थित करो। यावत् वे कौटुम्बिक पुरुष छत्रसहित अश्वरथ को जोतकर लाये।

२१८—तए ण से चित्ते सारही ज्हाए क्यदलिकमे क्यकोउयमंगलपायच्छते सुद्धप्पावेसाई मंगल्लाई वस्थाई पवरपरिहिते ल्लप्पमहाधायरजाल्कियसरीरे जेणेव चाउघंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता चाउघंटे आसरहे बुलहइ सकोरिटम्लदामेण छतेण धरिज्जमाणेण महया भद्रचडगरेण विदपरिखिते सावत्योनगरीय मञ्जमञ्जेण निगच्छइ। निगमच्छता जेणेव कोटुए चेइए जेणेव केसिकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छता केसिकुमारसमणस्स अहूरसामंते तुरए णिगिणहइ रहं ठवेइ य, ठविता पच्चोरहति। पच्चोरहति जेणेव केसिकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता केसिकुमारसमणं तिक्खुसो आयाहिण-पयाहिण करेइ, करिता बंदइ नमंसइ, नमंसिता षज्जासणे णाति द्वौरे सुस्तुसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएण पज्जुवासइ।

२१९—तदनन्तर चित्त सारथी ने स्नान किया, बलिकमं किया, कोतुक मंगल प्रायशिच्चत किया, शुद्ध एवं सभोचित मांगलिक वस्त्रों को पहना, अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया और उसके बाद वह चार घण्टों वाले अश्वरथ के पास आया। आकर उस चातुर्बट अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ एवं कोरंट पुष्पों की मालाओं से सुशोभित छत्रधारण करके सुभटों के विशाल समुदाय के साथ शावस्ती नगरी के बीचों-बीच होकर निकला। निकलकर जहाँ कोष्ठक नामक चेत्य था और उसमें भी जहाँ केशी कुमारश्रमण विराज रहे थे, वहाँ आया। आकर केशी कुमारश्रमण से कुछ दूर घोड़ों को रोका और रथ खड़ा किया। रथ खड़ा कर उससे नीचे उतरा। उतर कर जहाँ केशी कुमारश्रमण थे, वहाँ आया। आकर दक्षिण दिशा से प्रारंभ कर केशी कुमारश्रमण की तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके बंदन-नमस्कार किया। बंदन-नमस्कार करके न अत्यन्त समोप और न अति दूर किन्तु समुचित स्थान पर सम्मुख बैठकर धर्मोपदेश सुनने की इच्छा से नमस्कार करता हुआ विनयपूर्वक धंजलि करके पर्युपासना करने लगा।

केशी अमण की देशना

२२०—तए ण से केसिकुमारसमणे चित्तस्स सारहिस्स तोसे महत्तिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ। तं जहा—सव्वाओ पाणाइधायाओ वेरमण, सव्वाओ शुसावायाओ वेरमण, सव्वाओ अदिणादाणाओ वेरमण, सव्वाओ बहिदादाणाओ वेरमण। तए ण सा महत्तिमहालिया महच्चपरिसा केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोडचा-निसम्म जामेव विसि पाउभूया तासेव विसि पडिगया।

२२१—तत्पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी और उस अतिविशाल परिषद् को चार धाम धर्म का उपदेश दिया। उन चातुर्यमिं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) समस्त प्राणातिपात (हिसा) से विरमण (निवृत्त होना) (२) समस्त मृषावाद (श्रस्त्य) से विरत होना, (३) समस्त अदसादान से विरत होना, (४) समस्त बहिदादान (मेथुन-परिग्रह) से विरत होना।

इसके बाद वह अतिविशाल परिषद् (जनसमूह) केशी कुमारश्चमण से धर्मदेशना सुनकर एवं हृदय में धारण कर—मनन कर जिस दिशा से आई थी, उसी ओर लौट गई, अर्थात् वह आगत जनसमूह अपने-अपने घरों को वापस लौट गया ।

विवेचन—कुमारश्चमण केशी पाश्वनाथ के अनुयायी थे और भगवान् पाश्व ने चार यामों की प्रस्तुपणा की है । अतः इन्होंने चार यामों (महाव्रतों) का उपदेश दिया । लेकिन भगवान् भगवीर द्वारा प्रस्तुपित पंच महाव्रतों से संख्या-भेद के सिवाय इन चार महाव्रतों के आशय में अन्य कोई अन्तर नहीं है । स्थानांगसूत्र टीका में 'बहिद्वा' का अर्थ मैथुन और 'आदान' का अर्थ परिग्रह बताया है । अथवा स्त्री-परिग्रह एवं अन्य किसी भी प्रकार का परिग्रह बहिद्वादान में गम्भित है ।

२२०—तए णं से चित्ते सारथी केसिस्त्स कुमारसमणस्स अंतिए धर्म्यं सोऽच्चा निसम्म हटु-जाव-हियए उट्टाए उट्टेत्ता केसि कुमारसमणं तिष्ठुत्तो श्रायाहिण्यप्याश्रिणं करेह, वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासो—

सद्गम्यि णं भंते ! निगम्यं पावयणं ।

पत्तियामि णं भंते ! निगम्यं पावयणं ।

रोएमि णं भंते ! निगम्यं पावयणं ।

अब्मुट्ठेमि णं भंते ! निगम्यं पावयणं ।

एवमेयं निगम्यं पावयणं ।

लहमेयं भंते ! ०१ अवित्तहमेयं भंते ! ० असंविद्धमेयं०, इच्छ्यपडिच्छ्यमेयं भंते ! जं णं तुझ्मे वदहु स्ति कट्टु वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासो— जहा णं देवाणुपियाणं अंतिए बहवे उम्मा जाव इवमा इवमपुत्ता चिच्चा हिरण्णं, चिच्चा सुवण्णं एवं धाणं-धन्मं-बलं-बाहुणं-कोसं कोट्टागारं पुरं अतेजरं, चिच्चा विडलं धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालं सत्तसारसावएजजं विच्छिद्गुत्ता विगोवहत्ता दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता मुँडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्ययंति, णो खलु अहं ता संचाएमि चिच्चा हिरण्णं तं चेव जाव पव्यहत्तए । अहं णं देवाणुपियाणं अंतिए पंचाणुव्यहयं सत्तसिक्षावहयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवजिज्ञतए ।

अहसुहं देवाणुपिया ! सा पदिबंध करेहि ।

२२०—तदनन्तर वह चित्त सारथी केशी कुमारश्चमण से धर्म श्रवण कर एवं उसे हृदय में धारण कर हृष्ट-नुष्ट होता हुआ यावत् (चित्त में आनन्द का अनुभव करता हुआ, प्रीति-अनुराग युक्त होता हुआ, सौम्यभावी वाला होता हुआ और हर्षातिरिक्त से विकसित) हृदय होता हुआ अपने आसन से उठा । उठकर केशी कुमारश्चमण की तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—भगवन् ! भुझे निर्गम्य प्रवचन में श्रद्धा है । भगवन् ! इस पर प्रतीति (विश्वास) करता हूँ । भदन्त ! मुझे निर्गम्य प्रवचन रुचता है अर्थात् तदनुरूप आचरण करने का आकांक्षी हूँ । हे भगवन् ! मैं निर्गम्य प्रवचन को अंगीकार करना चाहता हूँ । भगवन् !

१. यहां ० 'निगम्यं पावयणं' का बोधका संकेत है ।

यह नियंत्रण प्रवचन ऐसा ही है। भगवन् ! यह तथ्य-यथार्थ है। भगवन् ! यह अवितथ-सत्य है। असंदिग्ध है—शंका-संदेह से रहित है। मुझे इच्छित है अर्थात् मैंने इसकी इच्छा की है। मुझे इच्छित, प्रतीच्छित है अर्थात् मैं इसकी पुनः पुनः इच्छा करता हूँ। भगवन् ! यह वैसा ही है जैसा आप निरूपण—कथन करते हैं। ऐसा कहकर बम्बन-नमस्कार करके पुनः बोला-

देवानुप्रिय ! जिस तरह से आपके पास अंतक उग्रवंशोथ, भोगवशीय यावत् इध्य एवं इध्य-पुत्र आदि हिरण्य—चाँदी का त्याग कर, स्वर्ण को छोड़कर तथा धन, धन्य, बल, वाहन, कोश, कोठार, पुर-नगर, अस्तःपुर का त्याग कर और विपुल धन, कत्क, रत्न, मणि, मोती, शंख, शिलाप्रबाल (मूर्गा) आदि सारभूत द्रव्यों का ममत्व छोड़कर, उन सबको दीन-दरिद्रों में वितरित कर, पुत्रादि में बैठवारा कर, मुदित होकर, गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित हुए हैं, उस प्रकार चाँदी का त्याग कर यावत् प्रव्रजित होने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ। मैं आप देवानुप्रिय के पास पंच अण्ड्रत, सात शिक्षाव्रत मूलक बारह प्रकार का गृहीधर्म (श्रावकधर्म) अंगीकार करना चाहता हूँ।

चित्त सारथी की भावना को जानकर केशी कुमारश्वर्मण ने कहा—देवानुप्रिय ! जिससे तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो, किन्तु प्रतिबंध—विलम्ब मत करो।

विवेचन—चित्त सारथी संसारभीरु था और प्रदेशी राजा के पाप कार्यों से खेदभिन्न रहता था। लेकिन अपनी मानसिक, पारिवारिक और प्रजाजनों की स्थिति को देखकर तत्काल उसे यह सम्भव प्रतीत नहीं हुआ कि अनगार-प्रव्रज्या अंगीकार कर लूँ। इसीलिए उसने नियंत्रण प्रवचन के प्रति भावपूर्ण शब्दों में अपनी आन्तरिक श्रद्धा का निवेदन किया।

केशी कुमारश्वर्मण के समक्ष जब चित्त सारथी ने अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त करते हुए अपने विचारों को प्रकट किया तो केशी कुमारश्वर्मण ने अपने मध्यस्थभाव के अनुसार कहा—अहामुहं देवाणुप्रिय ! और फिर यह जानकर कि यह भव्य आत्मा संसारसागर से पार होने की अभिलाषी है, इसे पथप्रदर्शन एवं तदनुकूल निमित्तों का बोध कराने की आवश्यकता है। त्रिना पथप्रदर्शन के अटक सकती है तो हल्का सा संकेत भी उन्होंने कर दिया कि 'मा पडिबंध करेहि।'

सारांश यह हुआ कि इच्छानुसार चित्त सारथी श्रावकधर्म ग्रहण करना चाहे तो कर ले। क्योंकि जीवनशुद्धि के लिये कम-से-कम इतना त्याग तो प्रत्येक मनुष्य को करना ही चाहिए।

२२१—तए ण से चित्ते सारहो केसिकुमारसमणस्स अंतिय पंचाणुव्वत्सियं जाव गिहिधम्मं उवसंपञ्जित्ताणं विहरति। तए ण से चित्ते सारहो केसिकुमारसमणं वंदइ नम्सइ, नम्सिता जेणेव खाउघ्वटे आसरहे तेणेव पहारेत्य गमणाए। खाउघ्वटं आसरहं दुरुहइ, जामेव दिसि पाउघ्मूए तामेव दिसि पडिगए।

२२१—तब चित्त सारथी ने केशी कुमारश्वर्मण के पास पंच अणुव्रत यावत् (सात शिक्षाव्रत-रूप) श्रावक धर्म को अंगीकार किया।

तत्पञ्चात् चित्त सारथी ने केशी कुमारश्वर्मण की बन्दना की, नमस्कार किया। नमस्कार करके जहाँ चार घंटों बाला अश्वरथ था, उस ओर चलने को तत्पर—उन्मुख हुआ। वहाँ जाकर चार घंटों बाले अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ, फिर जिस ओर से आया था, वापस उसी ओर लौट गया।

विदेशन—श्रावक धर्म पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप हैं। ये दोनों मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं। इनमें अणुव्रत श्रावक के मूलव्रत हैं और शिक्षाव्रत उनके पोषण, संवर्धन एवं रक्षण में सहायक बाहुरूप व्रत हैं। अणुव्रतों के बिना जैसे इन शिक्षाव्रतों का महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार इनके बिना अणुव्रतों का यथारूप में अध्यास, पालन नहीं किया जा सकता है। शिक्षाव्रतों के अध्यास से अणुव्रतों में उत्तरोत्तर स्थिरता आती जाती है।

पांच अणुव्रत इस प्रकार हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचीर्याणुव्रत, स्वदार-संतोषव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत। १. प्राणातिपात (शरीर, इन्द्रिय, आदि द्रव्यप्राणों और चैतन्यरूप भावप्राणों का धात करना) से विरत-निवृत्त होना। इस व्रत में निरपराधी ऋसजीवों की संकल्पपूर्वक विराघना का त्याग करके तिष्ठेयोजन स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों का भी प्राणव्यपरोपण (हनन) नहीं किया जाता है। २. मृषावाद (असत्य) से निवृत्त होना। ३. अदत्तादान (चोरी) से निवृत्त होना। ४. स्वदारसंतोष—अपनी परिणीता पत्नी से अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ मंथुनसेवन न करना। ५. परिग्रह का परिमाण करना।

सात शिक्षाव्रतों का दो प्रकारों में विभाजन है—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार हैं। गुणव्रत अणुव्रतों के गुणात्मक विकास में सहायक एवं साधक के चारित्रगुणों की वृद्धि करने वाले हैं और शिक्षाव्रत अपुव्रतों के अध्यास एवं लादना में स्थिरता लाने में उपयोगी हैं।

२२२—तए णं से चित्ते सारही समणोक्तासए जाए अहिंगयजोवाजीवे, उबलझ पुण्ण-पावे; आसव-संवर-निर्जर-किरियाहिंगरण-बंध-मोक्ष-कुसले असहिजे देवासुर-नाग-सुवर्ण-जक्ख-रक्खस-किञ्चर-किपुरिस-गरुल-गंधध्व-महोरग। ईहि वेकगणेहि निर्गंधाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निर्गंधे पावयणे णिसंकिण, णिस्कंभिए, णिभितिगिच्छे, लढट्ठे गहियट्ठे पुच्छथट्ठे अहिंगयट्ठे विणिभिञ्चयट्ठे अट्टुमिजपेम्माणुरागरत्ते—‘अयमात्सो ! निर्गंधे पावयणे अद्वे ग्रयं परभद्वे सेसे अणद्वे’, ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे चियत्तेउरघरप्पवेसे चाउद्दसद्दुमुद्दिपुण्णमासिणीसु पड़िपुण्ण पोसहं सम्म अणुपालेमाणे, समणेणिन्नंथे फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण-पीढ-फलग-सेडजा-संवारेण-कत्थ-पडिगहु-कंबल-पायपुंछणेण ओसह-भेसज्जेण पडिलाभेमाणे, अहापरिभगहेहि तबोकम्भेहि अप्पाण भावेमाणे, जाइं तत्थ रायकउजाणि थ जाव^१ रायबवहाराणि य ताइं जियसत्तुणा रणा संद्धि सथमेव पञ्चुदेवख-माणे पञ्चुदेवखमाणे विहरहि ।

२२२—तब वह चित्त सारथी अमणोपासक हो गया। उसने जीव-अजीव पदार्थों का स्वरूप समझ लिया था, पुण्ण-पाप के भेद को जान लिया था, वह आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, प्रथिकरण (क्रिया का आधार, जिसके आधार से क्रिया की जाये), बंध, मोक्ष के स्वरूप को जानने में कुशल हो गया था, दूसरे की सहायता का अनिच्छुक (आत्मनिर्भर) पा अर्थात् कुतीथिकों के कुतकों के खंडन में पर की सहायता की अपेक्षा वाला नहीं रहा। देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किञ्चर, किपुरुष, गरुह, गंधर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्गंध प्रवचन से अनतिक्रमणीय था, अर्थात् विचलित किये जा सकने योग्य नहीं था। निर्गंध-प्रवचन में निःशंक—शंकारहित था, आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकांक्षा रहित था। अथवा अन्य मतों की आकांक्षा उसके चित्त में नहीं थी, विचिकित्सा—फल

१. देखें सूत्र संख्या २११

के प्रति संशय रहित था, लब्धार्थ—(गुरुजनों से) यथार्थ तस्व का बोध प्राप्त कर लिया था, अहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए था, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप से उस अर्थ को आत्मसात् कर लिया था एवं अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्मानुराग से भरा था अर्थात् उसकी रग-रग में निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति प्रेम और अनुराग व्याप्त था। वह दूसरों को सम्बोधित करते हुए कहता था कि—आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय अन्य—अन्यतीथिक के कथन कुगतिप्राप्तक होने से अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं। असद् विचारों से रहित हो जाने के कारण उसका हृदय स्फटिक की तरह निर्मल हो गया था। निर्ग्रन्थ श्रमणों का भिक्षा के निमित्त सरलता से प्रवेश हो सकने के विचार से उसके घर का द्वार अर्गलारहित था अर्थात् सुपात्र दान के लिये उसका द्वार सदा खुला रहता था। सभी के घरों, यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश शंकारहित होने से प्रीतिजनक था। चतुर्दशी, अष्टमी, उद्दिष्ट—अमावस्या एवं पूर्णिमा को परिपूर्ण पौषधब्रत का समीचीन रूप से पालन करते हुए, श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक, एषणीय—स्वीकार करने योग्य—निर्दोष अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, पीठ, फलक, शैङ्घ्या, संस्तारक, आसन, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन (रजोहरण), श्रीषध, भैषज से प्रतिलाभित करते हुए एवं यथाविधि ग्रहण किये हुए तपःकर्म से आत्मा को भावित—शुद्ध करते हुए जितशश्वे राजा के साथ रहकर स्वयं उस श्रावस्ती नगरी के राज्यकार्यों यावत् राज्यव्यवहारों का बारम्बार अवलोकन-अनुभव करते हुए विचरने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे मनुष्य का चरित्र-चित्रण किया है, जो जीवनशुद्धि के निमित्त धार्मिक आचार-विचारों के अनुरूप प्रवृत्त करता है।

२२३—तए ण से जियसत्तुराया अण्याक्याइ महत्थं जाव पाहुडं सज्जेह, चित्तं सारहि
सदावेह, सदावित्ता एवं द्यासी—गच्छाहि णं तुमं चित्ता ! सेयविद्यं नगरि, परेसिस्स रज्ञो इसं महत्थं
जाव पाहुडं उवणेहि। भम पाडगं च णं जहाभणियं अवितहमसंविद्वयणं विज्ञवेहि ति कट्टु विसज्जिए।

२२३—तत्पश्चात् अर्थात् चित्त सारथी को श्रावस्ती नगरी में रहते-रहते पर्याप्त समय हो जाने के पश्चात् जितशश्वे राजा ने किसी समय महाप्रयोजनसाधक यावत् प्राभृत (उपहार) तैयार किया और चित्त सारथी को बुलाया। बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—हे चित्त ! तुम वापस सेयविद्या नगरी जाओ और महाप्रयोजनसाधक यावत् इस उपहार को प्रदेशी राजा के सम्मुख भेंट करना तथा मेरी ओर से विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना कि आपने मेरे लिये जो संदेश भिजवाया है, उसे उसी प्रकार अवितथ—सत्य, प्रमाणिक एवं असंदिग्ध रूप से स्वीकार करता हूँ। ऐसा कहकर चित्त सारथी को सम्मानपूर्वक विदा किया।

चित्त की केशी कुमारश्वरण से सेयविद्या पधारने की प्रार्थना

२२४—तए ण से चित्ते सारही जियसत्तुणा रज्ञा विसज्जिए समाणे तं महत्थं जाव (महग्यं, मह-
रिहं, रायरिहं पाहुडं) गिष्ठाह जाव जियसत्तुस्स रणो अंतियाओ पहिनिवस्तमह। सावत्थी तयरोए मज्जां-
मज्जोणं निगच्छाह। जेणेव रायमग्मामोगाडे आवासे तेणेव उवागच्छाह, तं महत्थं जाव ठवइ, यहाए जाव
(कयबलिकम्मे, कयलोउयमंगलपायच्छत्ते सुद्धप्पवेलाइं मंगसाइं वस्थाइंपवर परिहिए अप्पमहग्या-
मरणालंकिय) सरोरे सकोरंट०^१ यहां०^२ पायन्नारविहारेण महया पुरिसवभुरापरिविष्वसे रायमग्न-

१. यहां '०' से 'मल्लदामेण छत्तेण धरेज्जमाणेण' पदों का संग्रह किया है।

२. यहां '०' से 'भड्चहगरहपहकरविद परिक्षिते' पद का संग्रह किया है।

मोगाढाओ आवासाओ निश्चल्लह, सावर्थीनगरीए मज्जामज्जेण निश्चल्लति, जेणेव कोहुए चेहए जेणेव केसी कुमारसमणे तेषेव उवागच्छति, केसी कुमारसमणस्य अन्तिए घम्मं सोच्चा जाव (निसम्म हुहु-तुहु-चित्तमाणंदिए-पीक्काले-उद्दभसोमणास्तिए हरित्वलविसप्पमाणदिया उट्टाए उट्टेत्ता केसी कुमारसमणं लिखुत्तो आयाहिणंपया।हिणं करेह, करित्ता वंदहु णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता) एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! जियसत्तुणा रज्ञा पएसिस्स रण्णो इमं महत्वं जाव उवणेहि ति कट्ट विसज्जिए, तं गच्छामि णं अहं भंते ! सेयवियं नगरि, प्रासादीया णं भंते ! सेयविया णगरी, एवं वरिसणिज्जा णं भंते ! सेयविया णगरी, अभिरुद्वा णं भंते ! सेयविया नगरी, पडिरुद्वा णं भंते ! सेयविया नगरी, समोसरह णं भंते ! तुब्मे सेयवियं नगरि ।

२२४—तत्पश्चात् जितशत्रु राजा हारा विदा किये गये चित्त सारथी ने उस महाप्रयोजन-साधक यावत् उपहार को ग्रहण किया यावत् जितशत्रु राजा के पास से रवाना होकर शावस्ती नगरी के बीचों-बीच से निकला । निकल कर राजमार्ग पर स्थित अपने आवास में आया और उस महार्थक यावत् उपहार को एक ओर रखा । फिर स्नान किया, यावत् शरीर को विभूषित किया, कोरंट पुष्प की मालाओं से युक्त छत्र को धारण कर विशाल जनसमुदाय के साथ पैदल ही राजमार्ग स्थित आवासगृह से निकला और शावस्ती नगरी के बीचों-बीच से चलता हुआ वहाँ आया जहाँ कोष्ठक चैत्य था, उसमें भी जहाँ केशी कुमारश्रमण विराजमान थे । वहाँ आकर केशी कुमारश्रमण से धर्म सुनकर यावत् (उसका मनन कर हर्षित, परितुष्ट, चित्त में आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, सौम्य भानसिक भावों से युक्त एवं हर्षीतिरेक से विकसितहृदय होकर अपने आसन से उठा, और उठकर केशी कुमारश्रमण की तीनवार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, बन्दन-नमस्कार किया, बन्दन-नमस्कार करके) इस प्रकार निवेदन किया—

भगवन् ! ‘प्रदेशी राजा के लिए यह महार्थक यावत् उपहार ले जाओ’ कहकर जितशत्रु राजा ने आज मुझे विदा किया है । अतएव हे भदन्त ! मैं सेयविया नगरी लौट रहा हूँ । हे भदन्त ! सेयविया नगरी प्रासादीया—मन को आनन्द देने वाली है । भगवन् ! सेयविया नगरी दर्शनीय - देखने योग्य है । भदन्त ! सेयविया नगरी अभिरूपा —मनोहर है । भगवन् ! सेयविया नगरी प्रतिरूपा — अतीव मनोहर है । अतएव हे भदन्त ! आप सेयविया नगरी में पधारने की कृपा करें ।

२२५—तए ण से केसी कुमारसमणे चित्तेण सारहिणा एवं चुत्ते समाणे चित्तस्स सारहिस्स एथमट्ठं णो आढाइ, णो परिज्ञाइ, तुसिणीए संचिट्टुइ ।

तए ण से चित्ते सारही केसी कुमारसमणं दोष्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! जियसत्तुणा रज्ञा पएसिस्स रण्णो इमं महत्वं जाव विसज्जिए, तं चेव जाव समासरह णं भंते ! तुब्मे सेयवियं नगरि ।

२२६—इस प्रकार से चित्त सारथी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी के कथन का आदर नहीं किया अर्थात् उसे स्वीकार नहीं किया । वे मौन रहे ।

तब चित्त सारथी ने पुनः दूसरी और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा—हे भदन्त ! प्रदेशी राजा के लिए महाप्रयोजन साधक उपहार देकर जितशत्रु राजा ने मुझे विदा कर दिया है । अतएव मैं लौट रहा हूँ । सेयविया नगरी प्रासादिक है, आप वहाँ पधारने की ग्रवश्य कृपा करें ।

केशी कुमारश्रमण का उत्तर

२२६—तए णं केशी कुमारश्रमणे चित्तं सारहिणा द्वाहसं पि तथसं पि एवं बुत्ते सभाणे चित्तं सारहि एवं वयासी—चित्ता ! से जहानामए वणसंडे सिया — किण्हे किष्होभासे जाथ पडिरुदे, से णूणं चित्ता ! से वणसंडे बहूणं बुपय-चउपय-मिय-पसु-पक्खो-सिरीसिवाणं अभिगमणिज्जे ?

हंता अभिगमणिज्जे ।

तंसि च णं चित्ता ! वणसंडसि बहूदे भिलुंगा नाम पावसउणा परिवसंति, जे णं लेसि बहूणं बुपय-चउपय-मिय-पसु-पक्खो-सिरीसिवाण ठियाणं चेव मंससोणियं आहारेति । से णूणं चित्ता ! से वणसंडे लेसि णं बहूणं बुपय जाव सिरीसिवाणं अभिगमणिज्जे ?

णो तिणद्वे सभद्वे ।

कम्हा णं ?

भते ! सोवसग्ने ।

एषामेव चित्ता ! तुङ्मं पि सेवियाए जयरीए पएसी नामं राया परिवसइ अधम्मिए जाथ (अधम्मिद्वे-अधम्मवखार्द-अधम्माणुए-अधम्मपलोई-अधम्मपजणणे-अधम्मसोलसमुयाथारे-अधम्मेण खेव वित्त कप्पेमाणे 'हण'-'छिक'-'भिद'-पवत्तए, लोहिय-पाणी, पावे, चंडे, रुदे, खुदे, साहसीए, उक्कंचण-वंचण-माया-नियडि-कूड-कवड-सायिसंपथोग-बहुले, निस्सीले, निष्क्षए, निम्नुणे, निम्मेरे, निष्प्रक्षवखाणपोसहोववासे, बहूणं बुपय-चउपयमिय-पसु-पक्खो-सिरिसिवाण घायाए बहाए उच्छायण्याए अधम्मकेऊ, समुट्टिए गुरुण णो अबभुद्वेति, णो विणयं पउंजइ, सयस्स वियणं जणवयस्स) णो सम्मं करभरवित्ति पवत्तइ, तं कहं णं अहं चित्ता ! सेयवियाए नगरीए समोसरिस्तामि ?

२२७—चित्त सारथी द्वारा दूसरी और तीसरी बार भी इसी प्रकार से विनति किये जाने पर केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! जैसे कोई एक कृष्णवर्णं एवं कृष्णप्रभावाला अर्थात् हरा-भरा यावत् अतीव मनभोहक सघन छाया वाला वनखंड हो तो हे चित्त ! वह वनखंड अनेक द्विपद (मनुष्य आदि), चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसूपों आदि के गमन योग्य—रहने लायक है, अथवा नहीं है ?

चित्त ने उत्तर दिया—हाँ, भदन्त ! वह उनके गमन योग्य—वास करने योग्य—होता है ।

इसके पश्चात् पुनः केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से पूछा—और यदि उसी वनखण्ड में, हे चित्त ! उन बहुत-से द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सर्व प्राणियों के रक्त-माँस को खाने वाले भीलुंगा नमक पापशकुन (पशुओं का शिकार करने वाले पापिष्ठ भील) रहते हों तो क्या वह वनखंड उन अनेक द्विपदों यावत् सरीसूपों के रहने योग्य हो सकता है ?

चित्त ने उत्तर दिया—यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् ऐसी स्थिति में वह वास करने योग्य नहीं हो सकता है ।

पुनः केशी कुमारश्रमण ने पूछा—क्यों ? अर्थात् वह उनके लिये अभिगमनीय—प्रवेश करने योग्य, रहने योग्य क्यों नहीं हो सकता ?

चित्त सारथो—वयांकि भदन्त ! वह बनखंड उपसर्ग (आस, भय, दुःख) सहित होने से रहने योग्य नहीं है ।

यह सुनकर केशी कुमारश्वरण ने चित्त सारथी को समझाने के लिये कहा— इसी प्रकार हे चित्त ! तुम्हारी सेयविद्या नगरो कितनी ही अच्छी हो, परन्तु वहाँ भी प्रदेशी नामक राजा रहता है । वह अधार्मिक यावत् (अधर्म को प्रिय मानने वाला, अधर्म का कथन और प्रचार करने वाला, अधर्म का अनुसरण करने वाला, सर्वत्र अधर्म-प्रवृत्तियों को भी देखने वाला, विशेषरूप में अधार्मिक आचार-विचारों का प्रचार करने वाला अथवा अधर्ममय प्रवृत्तियों का प्रचलन—उत्पन्न करने वाला, प्रजा को अधर्माचरण की ओर प्रेरित करने वाला, अधर्ममयस्वभाव और आचार वाला, अधर्म से ही आजीविका चलाने वाला है । अपने आश्रितों को सदैव जीवों को मारने, छेदने, भेदने की आज्ञा देने वाला है । उसके हाथ सदा खून से भरे रहते हैं । वह साक्षात् पाप का अवतार है । स्वभाव से प्रचंड कोषी, भयानक, झुट्ठ—अधर्म और बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाला है । धूर्त-बदमाझों को प्रोत्साहन देने वाला, उक्साने वाला, लांच—रिश्वत लेने वाला, बंचक—धोखा देने वाला, मायावी, कपटी, बकवृत्तिवत् प्रवृत्ति करने वाला, कूटकपट करने में चतुर और किसी-न-किसी उपाय से दूसरों को दुःख देने वाला है । शील और ब्रतों से रहित है, क्षमा आदि गुणों का अभाव होने से निर्गुण है, निर्मर्यादि है, उसके मन में प्रह्याछ्यान, पौष्टि, सर्व आदि सरीसृपों की हत्या करने, उन्हें मारने, प्राणरहित करने, उनका विनाश करने से साक्षात् अधर्मरूप केतु—जैसा है । गुरुजनों का कभी विनय नहीं करता है, उनको आदर देने के लिये आसन से भी खड़ा नहीं होता और (प्रजाजनों से राज-कर लेकर भी उनका अच्छी तरह से पालन-पोषण और रक्षण नहीं करता है । अतएव हे चित्त ! मैं उस सेयाविद्या नगरी में कैसे आ सकता हूँ ?

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में साधु की विद्वारचर्या का संकेत किया है कि साधु को उन ग्राम, नगर या जनपदों में नहीं जाना चाहिये, जहाँ राज्य-व्यवस्था उचित नहीं हो, राजभय से प्रजा का जीवन संकट में हो, शासक अत्याधी वा अथवा दुर्भिक्ष महामारी का प्रकोप हो, युद्ध की आशंका हो, युद्ध हो रहा हो । क्योंकि ऐसे स्थानों में यथाकल्प साधवाचार का पालन किया जाना संभव नहीं है ।

२२७—तए ण से चित्ते सारही केसि कुमारसमणं एवं वयासी—

किं भंते ! तुहर्म पएसिणा रन्ना कायच्चं ? अस्थि णं भंते ! सेयविद्याए नगरीए घन्ने बहुवै ईसर-तलवर जाव सत्यवाहृपभिहओ जे णं देवाणुप्तियं वंविस्तंति नमसिस्तसंति जाव पञ्जुद्यासिस्तसंति वित्तुलं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभिस्तसंति, पाडिहारिएण पीढ-फलग-सेज्जा-संथारेण उष-निर्मतिस्तसंति ।

तए ण से केसी कुमारसमणे चित्तं सारहीं एवं वयासी—अथि या इं चित्ता । जाजिस्सामो ।

२२७—इस उत्तर को सुनकर चित्त सारथी ने केशी कुमारश्वरण से निवेदन किया—हे भदन्त ! आपको प्रदेशी राजा से क्या करना है—क्या लेना-देना है ? भगवन् ! सेयविद्या नगरी में दूसरे राजा, ईश्वर, तलवर यावत् साध्यवाह आदि बहुत से जन हैं, जो आप देवानुप्रिय को बंदन

करेंगे, नमस्कार करेंगे यावत् आपको पर्युपासना करेंगे। दिपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार से प्रतिलाभित करेंगे, तथा प्रातिहारिक (वापस लौटाने योग्य) पीठ, फलक, शैया, संस्तारक ग्रहण करने के लिये उपनिमंत्रित करेंगे अर्थात् प्रार्थना करेंगे।

तब केशी कुमारश्वरण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! ध्यान में रखेंगे अर्थात् तुम्हारा आर्मन्त्रण ध्यान में रहेगा।

चित्त की उद्धानपालकों को आज्ञा

२२८—तए ण से चित्ते सारही केसी कुमारसमणं बंदइ नमंसइ, केसिस्स कुमारसमणस्स अंतियाओ लोटुथाओ ऐड्याओ पडिणिष्ठमइ, जेणेव सावरथी णगरी जेणेव रायमग्गमोगाडे आवासे हेणेव उदागच्छइ कोडु खिप्पुरिसे सद्वावेद, सद्वाविसा एवं ध्यासी—

खिप्पामेव भो देवाणुपिया ! चाउधूंट आसरहं लुक्तामेव उबटुवेह, जहा सेयवियाए नगरीए निमाच्छइ तहेव आव^१ वसमाणे कुणालाजणवयस्स मज्जंमज्जेण जेणेव केइयअद्वे, जेणेव सेयविया नगरी, जेणेव मिथवणे उज्जाणे, तेणेव उदागच्छइ। उज्जाणपालए सद्वावेद एवं ध्यासी—

जया ण देवाणुपिया ! पासावक्षिष्ठउे केसी नाम कुमारसमणे पुब्बाणुपुष्टिं चरभाणे, गामाणुगामं बूहज्जमाणे इहमागच्छज्जा तया ण तुझे देवाणुपिया ! केसि कुमारसमणं बंदिज्जाहु, नमंसिज्जाहु, बंवित्ता नमंसित्ता अहापिष्ठिरुषं उग्रहं अणुजाणेज्जाहु, पडिहारिएणं पीढ़-फलग जाव उद्धनिमंतिज्जाहु, एयमाणस्तियं खिप्पामेव पच्चपिणेज्जाहु।

तए ण से उज्जाणपालगा चित्तेण सारहिणा एवं बुस्ता समाणा हुद्दु-तुहु आव हिमया करयल-परिमाहियं आव एवं ध्यासी—तहति, आणाए विषएणं वयणं पडिसुणंति ।

२२९—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्वरण से आशवासन मिलने के पश्चात्) चित्त सारथी ने केशी कुमारश्वरण को बंदना की, नमस्कार किया और केशी कुमारश्वरण के पास से एवं कोष्ठक घैत्य से आहर निकला। निकलकर जहाँ आवस्ती नगरी थी, जहाँ राजमार्ग पर स्थित अपना आवास था, वहाँ आया और कोटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर उनसे कहा—

हे देवानुप्रियो ! शोध ही चार घंटों बाला अश्वरथ जोतकर लाश्मो। इसके बाद जिस प्रकार पहले सेयविया नगरी से प्रस्थान किया था उसी प्रकार श्वावस्ती नगरी से निकल कर यावत् बीच-बीच में विश्राम करता हुआ—पड़ाव ढालता हुआ, कुणाला जनपद के भृत्य भाग में से चलता हुआ जहाँ केकय-आर्धं देश था, उसमें जहाँ सेयविया नगरी थी और जहाँ उस नगरी का मृगवन नामक उद्यान था, वहाँ आ पहुँचा। वहाँ आकर उद्धानपालकों (चौकीदारों एवं मालियों) को बुलाकर इस प्रकार कहा—

हे देवानुप्रियो ! जब पाश्वपित्य (भगवान् पाश्वनाथ की परम्परा में विचरते बाले) केशी नामक कुमारश्वरण श्रमणच्छयानुसार अनुक्रम से विनरते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहाँ पधारें तब देवानुप्रियो ! तुम केशी कुमारश्वरण को बंदना करना, नमस्कार करना। बंदना-नमस्कार करके उन्हें यथा प्रतिरूप-साधुकल्पानुसार वसतिका की आज्ञा देना तथा प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि

के लिए उपनिमंत्रित करना - प्रार्थना करना और इसके बाद मेरी इस आज्ञा को शीघ्र ही मुझे वापस लौटाना अर्थात् जब केशी कुमारशमण का यहाँ पदार्पण हो जाये तो उनके आगमन की मुझे सूचना देना ।

चित्त सारथी की इस आज्ञा को सुनकर वे उद्घानपालक हर्षित हुए, सन्तुष्ट हुए यावत् विकसितहृदय होते हुए दोनों हाथ जोड़ यावत् इस प्रकार बोले—

हे स्वामिन् ! 'आपकी आज्ञा प्रमाण' और यह कहकर उसकी आज्ञा को विनयपूर्वक स्वीकार किया ।

२२९—तए णं चित्ते सारही जेणेव सेयविया णगरी तेणेव उदागच्छइ, सेयविय नगरि मज्जसंमज्जेणं अणुपविसइ, जेणेव पएसिस्स रणो गिहे जेणेव बाहिरिया उबटुणसाला तेणेव उदागच्छइ, तुरए णिगिणहइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ, तं महत्यं जाव गेणहइ, जेणेव पएसी राया तेणेव उदागच्छइ, पएसि राये करयल जाव बढ़ावेला तं महत्यं जाव (महर्घं, महरिहं, रायरिहं पाहुडं) उबणेइ ।

तए णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स तं महत्यं जाव पछिच्छइ चित्तं सारहि सखारेइ सम्माणेइ पडिविसज्जेइ ।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा णणा विसिज्जए समाणे हटु जाव हियए पएसिस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ, जेणेव चाउर्घंडे आसरहे तेणेव उदागच्छइ, चाउर्घंडं आसरहं दुरुहइ, सेयवियं नगरि मज्जसंमज्जेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उदागच्छइ, तुरए णिगिणहइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ णहाए जाव उप्पि पासायवरगए फुट्टमाणेहि मुइंगमस्थएहि बत्तीसहबहुएहि नाडएहि वरतरणीसंपउसेहि उदण्किच्छमाणे उदगाइज्जमाणे इटुे सद्फरिस जाव विहरइ ।

२२९—तत्पश्चात् चित्त सारथी सेयविया नगरी में आ पहुँचा । सेयविया नगरी के मध्य भाग में प्रविष्ट हुआ । प्रविष्ट होकर जहाँ प्रदेशी राजा का भवन था, जहाँ भवन की बाह्य उपस्थानशाला थी, वहाँ आया । आकर घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया, रथ से नीचे उतरा और उस महार्थक यावत् भेट को लेकर जहाँ प्रदेशी राजा था, वहाँ पहुँचा । पहुँच कर दोनों हाथ जोड़ यावत् जयविजय शब्दों से बधाकर प्रदेशी राजा के सन्मुख उस महार्थक यावत् (महर्घं, महान् पुरुषों के योग्य, राजाओं के अनुरूप भेट) को उपस्थित किया ।

इसके बाद प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से वह महार्थक यावत् भेट स्वीकार की और सखार-सम्मान करके चित्त सारथी को विदा किया ।

प्रदेशी राजा से विदा लेकर चित्त सारथी हृष्ट यावत् विकसितहृदय हो प्रदेशी राजा के पास से निकला और जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ था, वहाँ आया । उस चातुर्घंट अश्वरथ पर आरुहु दुश्मा तथा सेयविया नगरी के बीचों-बीच से गुजर कर अपने घर आया । घर आकर घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया और रथ से नीचे उतरा । इसके बाद स्नान करके यावत् श्रेष्ठ प्रासाद के ऊपर जोर-जोर से बजाये जा रहे मृदंगों की ध्वनिपूर्वक उत्तम तर्फणियों द्वारा किये जा रहे बत्तीस प्रकार के नाटकों आदि के नृत्य, गान और कीड़ा (लीला) को सुनता, देखता और हर्षित होता हुआ मनोज

शब्द, स्पर्श यावत् (रस, रूप और गंध बहुल मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगता हुआ) विचरने लगा।

केशी कुमारश्वरण का सेयविद्या में पदार्पण

२३०—तए ण केशी कुमारसमणे अण्णया क्याह पाडिहारिण पीठ-फलक-सेज्जा-संथारण पच्चपिण्ड सावत्थीओ नगरीओ कोटुगाओ जेणेव केइयाओ पडिनिक्खमइ पंचहि अणणार सएहि जाव विहरमाणे जेणेव केइयमाद्वे जणवाए जेणेव सेयविद्या नगरी, जेणेव मियवणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छह, अहापडिल्लवं उगाहु उगिगण्हता संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति ।

२३०—तत्पश्चात् किसी समय प्रातिहारिक (वापिस लौटाने योग्य) पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि उन-उनके स्वामियों को सीपकर केशी कुमारश्वरण शावस्ती नगरी और कोष्ठक चैत्य से बाहर निकले। निकलकर पांच सी शालेनामी शालगारों के साथ यावत् विहार करते हुए जहाँ केक्य-अर्ध जनपद था, उसमें जहाँ सेयविद्या नगरी थी और उस नगरी का मृगवन नामक उद्यान था, वहाँ आये। यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसतिका की आज्ञा—अनुमति) लेकर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

विवेचन—पीठ आदि को लौटाने के 'उपर्युक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में साधु पीठ, फलक, संस्तारक आदि स्वयं गृहस्थ के यहाँ से गवेषणापूर्वक मांग कर लाते थे और उपयोग कर लेने के बाद स्वयं ही उनके स्वामियों को वापस लौटाते थे।

२३१—तए ण सेयविद्याए नगरीए सिघाडग महया जणसद्वे वा०^१ परिसाह णिगच्छह। तए ण ते उज्जाणपालगा इनीसे कहाए लङ्घद्वा समाणा हट्टुतुट्टु जाव हियदा जेणेव केशी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छन्ति, केसि कुमारसमणे वंदंति नमंसंति, अहापडिल्लवं उगाहु अणुजाणंति, पाडिहारिएण जाव संथारएण उवनिमंतंति, णायं गोयं पुच्छंति, ओथारेति, एगंतं अवक्कमंति, अग्नमन्तं एवं वयासी—जस्त णं देवाणुपिण्या ! चित्ते सारहो दंसणं कंखड, दंसणं पत्थेह, दंसणं पीहेह, दंसणं अभिलसह, जस्त णं णामगोयस्स वि सवणयाए हट्टुतुट्टु जाव हियए भवति, से णं एस केशी कुमारसमणे पुच्छाणुपुच्छ चरमाणे गामाणुगामं दूड़ज्जमाणे इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसदे इहेव सेयविद्याए णगरीए बहिया मियवणे उज्जाणे अहापडिल्लवं जाव विहरइ। तं गच्छामो णं देवाणुपिण्या ! चित्तस्स सारहिस्स एयमदु^२ पियं निवेएमो, पियं से भवउ। अण्णमण्णस्स अंतिए एयमदु^२ पञ्चिसुर्जेति ।

जेणेव सेयविद्या णगरी जेणेव चित्तस्स सारहिस्स गिहे, जेणेव चित्तसारही तेणेव उवागच्छन्ति, चित्तं सारहिं करथल जाव बद्धावेति एवं वयासी—जस्त णं देवाणुपिण्या ! दंसणं कंखेति जाव अभिलसंति, जस्त णं णामगोयस्स वि सवणयाए हट्टु जाव भवह, से णं ग्रयं केशी कुमारसमणे पुच्छाणुपुच्छ चरमाणे समोसदे जाव विहरइ ।

२३१—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्वरण का आगमन होने के पश्चात्) सेयविद्या नगरी के शृंगारकों आदि स्थानों पर लोगों में बातचीत होने लगी यावत् परिषद् वंदना करने निकली। वे

उद्घानपालक भी इस संवाद को सुनकर और समझ कर हर्षित, सन्तुष्ट हुए यावत् विकसित-हृदय होते हुए जहाँ केशी कुमारश्चमण थे, वहाँ आये। आकर केशी कुमारश्चमण को बन्दना की, नमस्कार किया एवं यथाप्रतिरूप अवग्रह (स्थान सम्बन्धी अनुमति) प्रदान की। प्रातिहारिक यावत् संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिये उपनिमंत्रित किया अर्थात् उनसे लेने की प्रार्थना की।

इसके बाद उन्होंने नाम एवं गोत्र पूछकर (चित्त सारथी की आज्ञा का) स्मरण किया फिर एकान्त में वे परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार बातचीत करने लगे—‘देवानुप्रियो ! चित्त सारथी जिनके दर्शन की आकांक्षा करते हैं, जिनके दर्शन की प्रार्थना करते हैं, जिनके दर्शन की स्फूहा—चाहना करते हैं, जिनके दर्शन की अभिलाषा करते हैं, जिनका नाम, गोत्र सुनते ही हर्षित, सन्तुष्ट यावत् विकसितहृदय होते हैं, ये वही केशी कुमारश्चमण पूर्वानुपूर्वी से गमन करते हुए, एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए यहाँ आये हैं, यहाँ प्राप्त हुए हैं, यहाँ पधारे हैं तथा इसी सेयविया नगरी के बाहर मृगबन उद्यान में यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके यावत् विराजते हैं। अतएव हे देवानुप्रियो ! हम चलें और चित्त सारथी के प्रिय इस श्र्वं को (केशी कुमारश्चमण के आगमन होने के समाचार को) उनसे निवेदन करें। हमारा यह निवेदन उन्हें बहुत ही प्रिय लगेगा।’ एक दूसरे ने इस विचार को स्वीकार किया।

इसके बाद वे वहाँ आये जहाँ सेयविया नगरी, चित्त सारथी का घर तथा घर में जहाँ चित्त सारथी था। वहाँ आकर दोनों हाथ जोड़ यावत् चित्त सारथी को बघाया और इस प्रकार निवेदन किया—‘देवानुप्रिय ! आपको जिनके दर्शन की इच्छा है यावत् आप अभिलाषा करते हैं और जिनके नाम एवं गोत्र को सुनकर आप हर्षित होते हैं, ऐसे केशी कुमारश्चमण पूर्वानुपूर्वी से विचरते हुए यहाँ (मृगबन उद्यान में) पधार गये हैं यावत् विचर रहे हैं।

चित्त का प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने का निवेदन

२३२—तए ण से चित्ते सारही तेसि उज्जाणपालगाणं अंतिएं एयमहुँ सोच्चा णिसम्म हट्टुठुड़ जाव आसणाओ अभभुद्देति, पायपीढाओ पच्चोरहड़, पाडयाओ ओमुयइ, एगासाडियं उत्तरासंगं करेइ, अंजलिमजलियगहृथे केसिकुमारसमणामिभुहे तत्तदु पयाइं अणुगच्छइ करयलपरिगहियं सिरसावसं मत्थए अंजलि कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्यु णं अरहृताणं जाव^१ संपत्ताणं नमोऽत्यु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मायरि-यस्स धम्मोवदेसगस्स। बंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहुगए, पासउ मे स्ति कट्टु वंवइ नमंसइ।

ते उज्जाणपालए विउलेणं बत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ विउलं जीवियारिहं पीइदाणं बलयइ, पडिविसज्जेइ।

कोडु चियपुरिसे सद्वाकेइ एवं वयासी—खिप्पामेव भो ! देवानुप्रिया चाउघंदं आसरहं जुत्तामेव उवटुवेह जाव पछ्चपिणहं।

तए ण से कोडु चियपुरिसा जाव खिप्पामेव सच्छत्तं सज्जायं जाव उवटुवित्ता-तमाणस्तिर्यं पछ्चपिणंति। तए ण से चित्ते सारही कोडु चियपुरिसरणं अंतिएं एयमहुँ सोच्चा णिसम्म हट्टुठुड़ जाव-

हियए अहाए कथबलिकम्ने जाव सरीरे जेणेब आउगंटे जाव दुरुहिता सकोरंट० महया भडचडगरेण तं चेब जाव पज्जुवासइ घम्मकहाए जाव ।

२३२—तब वह चित्त सारथी उन उद्यानपालकों से इस संवाद को सुनकर एवं हृदय में धारण कर हृषित, संतुष्ट हुआ। चित्त में आनंदित हुआ, मन में श्रीति हुई। परम सौमनस्य को प्राप्त हुया। हर्षातिरेक से विकसितहृदय होता हुया अपने आसन से उठा, पादपीठ से नीचे उतरा, पादुकाएं उतारीं, एकशाटिक उत्तरासंग किया। और भुकुलित हस्ताध्यपूदंक अंजलि करके जिस ओर केशी कुमारश्वरण विराजमान थे, उस ओर सात-आठ छग चला और फिर दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगा—

अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो यावत् सिद्धगति को प्राप्ति सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो। मेरे धर्मचार्य, मेरे धर्मोपदेशक केशी कुमारश्वरण को नमस्कार हो। उनकी में बन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान वे भगवान् यहाँ विद्यमान मुझे देखें, इस प्रकार कहकर बंदन-नमस्कार किया।

इसके पश्चात् उन उद्यानपालकों का विपुल वस्त्र, गंध, माला, अलंकारों से सत्कार-सम्मान किया तथा जीविकायोग्य विपुल प्रीतिदान (पारितोषिक) देकर उन्हें विदा किया। तदनन्तर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनको आज्ञा दी—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही तुम चार घंटों बाला अवश्वरथ जोतकर उपस्थित करो यावत् हमें इसकी सूचना दो।

तब वे कौटुम्बिक पुरुष यावत् शीघ्र ही छव्र एवं छवजा-पताकाओं से शोभित रथ को उपस्थित कर आज्ञा बापस लौटाते हैं—रथ लाने की सूचना देते हैं।

कौटुम्बिक पुरुषों से रथ लाने की बात सुनकर एवं हृदय में धारण कर हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसितहृदय होते हुए चित्त सारथी ने स्नान किया, बलिकर्म किया यावत् आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। जहाँ चार घण्टों बाला रथ था, वहाँ आया और उस पर आरूढ़ होकर कोरंट पुष्पों की मालाओं से युक्त छव्र को धारण कर विशाल सुभटों के समुदाय सहित रवाना हुआ। वहाँ पहुंच कर पर्युपासना करने लगा। केशी कुमारश्वरण ने धर्मोपदेश दिया। इत्यादि कथन पहले के समान वहाँ समझ लेना चाहिये।

२३३—तए ण से चित्ते सारहो केसिस्स कुमारसम्मणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हद्दुद्दु तहेब एवं वयासी—एवं खलु भंते! अम्हं पएसी राया अधम्मए जाव¹ सथस्स वि णं जणवयस्स नो सम्मं करभरविर्ति पवत्तेह, तं जइ णं देवाणुपिया! पएसिस्स रणो धम्ममाहवलेज्जा बहुगुणतरं खसु होज्जा पएसिस्स रणो तेसि च बहूणं बुपथवउप्यमियपसुपक्खीसिरीसवाणं, तेसि च बहूणं समण-माहणमिक्खुयाणं, तं जइ णं देवाणुपिया! पएसिस्स बहुगुणतरं होज्जा सथस्स वि थ णं जणवयस्स।

२३३—तत्पश्चात् धर्म श्रवण कर और हृदय में धारण कर हृषित, संतुष्ट, चित्त में आनंदित, अनुरागी, परम सौम्यभाव युक्त एवं हर्षातिरेक से विकसितहृदय होकर चित्त सारथी ने केशी कुमारश्वरण से निवेदन किया—

हे भद्रन्त! हमारा प्रदेशी राजा अधार्मिक है, यावत् राजकर लेकर भी सभीचीन रूप से

अपने जनपद का पालन एवं रक्षण नहीं करता है। अतएव आप देवानुप्रिय ! यदि प्रदेशी राजा को धर्म का आख्यान करेंगे—धर्मोपदेश देंगे तो प्रदेशी राजा के लिये, साथ ही अनेक द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसूपों आदि के लिये तथा बहुत से श्रमणों, माहणों एवं भिक्षुओं आदि के लिये बहुत-बहुत गुणकारी—हितावहु, लाभदायक होगा। हे देवानुप्रिय ! यदि वह धर्मोपदेश प्रदेशी के लिये हितकर हो जाता है तो उससे जनपद—देश को भी बहुत लाभ होगा।

केशी कुमारश्रमण का उत्तर

२३४—तए ण केसी कुमारसमणे चित्तं सारहि एवं व्यासी—

एवं खलु चर्हि ठाणेहि चित्ता । जीवा केवलिपन्नतं धर्मं नो लभेत्ता सबणयाए, तं जहा—

(१) आरामगायं वा उज्जाणगायं वा समणं वा माहणं वा णो अभिगच्छइ, णो वंदह, णो नमंसइ, णो सक्कारेइ, णो सम्माणेइ, णो कल्लाणं मंगलं देवयं चेहयं पञ्जुवासेइ, नो अट्टाइं हेक्हइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छइ, एएणं ठाणेणं चित्ता ! जीवा केवलिपन्नतं धर्मं नो लभति सबणयाए ।

(२) उबस्सयगायं समणं वा तं चेव जाव एतेण वि ठाणेणं चित्ता ! जीवा केवलिपन्नतं धर्मं नो लभति सबणयाए ।

(३) गोयररगगायं समणं वा माहणं वा जाव नो पञ्जुवासइ, णो विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभइ । णो अट्टाइं जाव पुच्छइ, एएणं ठाणेणं चित्ता ! केवलिपन्नतं धर्मं नो लभइ सबणयाए ।

(४) जस्य वि य णं समणेण वा माहणेण वा सद्वि अभिसमागच्छइ, तस्य वि य णं हृत्येण वा छत्तेण वा अप्पाणं आवरित्ता चिट्ठइ, नो अट्टाइं जाव पुच्छइ, एएण वि य ठाणेणं चित्ता ! जीवे केवलिपन्नतं धर्मं णो लभइ सबणयाए । एएहि च णं चित्ता ! चर्हि ठाणेहि जीवे णो लभइ केवलिपन्नतं धर्मं सबणयाए ।

चर्हि ठाणेहि चित्ता ! जीवे केवलिपन्नतं धर्मं लभइ सबणयाए तं जहा—(१) आरामगायं वा उज्जाणगायं वा समणं वा माहणं वा वंदह नमंसइ जाव (सक्कारेइ, सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेहयं) पञ्जुवासइ अट्टाइं जाव (हेक्हइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं) पुच्छइ, एएणं वि य जाव लभइ सबणयाए एवं (२) उबस्सयगायं (३) गोयररगगायं समणं वा जाव पञ्जुवासइ विउलेण जाव (असण-पाण-खाइम-साइमेण) पडिलाभइ, अट्टाइं जाव पुच्छइ एएण वि । (४) जस्य वि य णं समणेण वा माहणेण वा अभिसमागच्छइ तस्य वि य णं णो हृत्येण वा जाव (धत्येण वा, छत्तेण वा अप्पाणं) आवरेत्ताणं चिट्ठइ, एएण वि ठाणेणं चित्ता ! जीवे केवलिपन्नतं धर्मं लभइ सबणयाए ।

तुज्जमं च णं चित्ता ! पएसी राया आरामगायं वा तं चेव सब्बं भाणियवकं आइल्लएणं गमएणं जाव अप्पाणं आवरेत्ता चिट्ठइ, तं कहुं णं चित्ता ! पएसिस्स रन्तो धर्मसाहकिष्मसामो ?

२३४—चित्त सारथी की भावना को सुनने के अनन्तर केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी को समझाया—

हे चित्त ! जीव निश्चय ही इन चार कारणों से केवलि-भाषित धर्म को सुनने का लाभ प्राप्त नहीं कर पाता है। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. आराम (बाग) में अथवा उद्यान में स्थित श्रमण या माहन के अभिमुख जो नहीं जाता है, मधुर वचनों से जो उनको स्तुति नहीं करता है, मस्तक नमाकर उनको नमस्कार नहीं करता है, अभ्युत्थानादि द्वारा (आसन से उठकर) उनका सत्कार नहीं करता है, उनका सम्मान नहीं करता है तथा कल्याण स्वरूप, मंगल स्वरूप, देव स्वरूप, विशिष्ट ज्ञान स्वरूप मानकर जो उनकी पर्युपासना नहीं करता है; जो अर्थ—जीवाजीवादि प्रार्थों को, हेतुओं (मुक्ति के उपायों) को जानने की इच्छा से प्रश्नों को, कारणों (संसारबन्ध के कारणों) को, व्याख्याओं (तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान करने के लिये उनके स्वरूप) को नहीं पूछता है, तो हे चित्त ! वह जीव केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को सुन नहीं पाता है।

२. वणाश्रय में स्थित श्रमण आदि का बन्दन, नमन, सत्कार-संमान आदि करने के निमित्त जो उनके समक्ष नहीं जाता यावत् उनसे व्याकरण (तत्त्व का विवेचन) नहीं पूछता, तो इस कारण भी हे चित्त ! वह जीव केवलि-भाषित धर्म को सुन नहीं पाता है।

३. गोचरी—भिक्षा के लिये गांव में गये हुए श्रमण अथवा माहन का सत्कार आदि करने के निमित्त जो उनके समक्ष नहीं जाता यावत् उनकी पर्युपासना नहीं करता तथा विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार से उन्हें प्रतिलाभित नहीं करता, एवं शास्त्र के अर्थ यावत् व्याख्या को उनसे नहीं पूछता, तो ऐसा जीव भी हे चित्त ! केवली भगवान् द्वारा निरूपित धर्म को सुन नहीं पाता है।

४. कहीं श्रमण या माहन का सुयोग मिल जाने पर भी वहाँ अपने आप को छिपाने के लिये अथवा पहचाना न जाऊँ, इस विचार से, वस्त्र से, छत्ते से स्वयं को आवृत कर लेता है, ढाँक लेता है एवं उनसे अर्थ आदि नहीं पूछता है, तो इस कारण से भी हे चित्त ! वह जीव केवलि-प्रज्ञप्त धर्म अवण करने का अवसर प्राप्त नहीं कर सकता है।

उक्त चार कारणों से हे चित्त ! जीव केवलि-भाषित धर्म अवण करने का लाभ नहीं ले पाता है, किन्तु हे चित्त ! इन चार कारणों से जीव केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. आराम में अथवा उद्यान में पधारे हुए श्रमण या माहन को जो बन्दन करता है, नमस्कार करता है यावत् (सत्कार संमान करता है और कल्याणरूप मंगलरूप देवरूप एवं ज्ञानरूप मानकर) उनकी पर्युपासना करता है, अर्थों को यावत् (हेतुओं, प्रश्नों, कारणों, व्याख्याओं को) पूछता है तो हे चित्त ! वह जीव केवलि-प्ररूपित धर्म को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है।

२. इसी प्रकार जो जीव उपाश्रय में रहे हुए श्रमण या माहन को बन्दन-नमस्कार करता है यावत् उनकी पर्युपासना करता हुआ अर्थों आदि को पूछता है तो वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को सुन सकता है।

३. इसी प्रकार जो जीव गोचरी—भिक्षाचर्या के लिये गए हुए श्रमण या माहन को बन्दन-नमस्कार करता है यावत् उनकी पर्युपासना करता है तथा विपुल (अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप

आहार से) उन्हें प्रतिलाभित करता है, उनसे अर्थे आदि को पूछता है, वह जीव इस निमित्त से भी केवलिभाषित अर्थे को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है।

४. इसी प्रकार जो जीव जहाँ कहीं श्रमण या माहन का सुयोग मिलने पर हाथों, बस्त्रों, छाता आदि से रुचयं को छिपाता नहीं है, हे चित्त ! वह जीव केवलिप्रज्ञप्त धर्म सुनने का लाभ प्राप्त कर सकता है।

लेकिन हे चित्त ! तुम्हारा प्रदेशी राजा जब बाग में पधारे हुए श्रमण या माहन के सन्मुख ही नहीं आता है यावत् अपने को आच्छादित कर लेता है, तो फिर हे चित्त ! प्रदेशी राजा को मैं कैसे धर्म का उपदेश दे सकूँगा ? (यहाँ पूर्व के चारों कारण समझ लेना चाहिए।)

प्रदेशी राजा को लाने हेतु चित्त की युक्ति

२३५—तए ण से चित्ते सारही कोसिकुमारसमणं एवं वयस्सी—एवं खलु भते ! श्रण्णया कथाइं कंबोएहि चत्तारि आसा उवणयं उवणीया, ते मए पएसिस्स रण्णो अन्नया चेव उवणीया, तं एएणं खलु भते ! कारणेण लहुं पएति तावं देशाणुप्यदालं लंतिए हृष्वमाणेस्सायो, तं मा णं देशाणुप्यया ! तुझ्मे पएसिस्स रन्नो धम्ममाइक्षभाणा गिलाएज्जाह, अगिलाए णं भते ! तुझ्मे पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्षेज्जाह, छंदेण भते ! तुझ्मे पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्षेज्जाह ।

तए ण से केशी कुमारसमणे चित्तं सारहि एवं वयस्सी—अवि या ई चित्ता ! जाणिस्सामो ।

तए ण से चित्ते सारही कोसि कुमारसमणं घंडइ नमंसइ, जेणेव आउरघंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउरघंटं आसरहे दुरुहइ, जामेव चिसि पाउरभूए तामेव चिसि पडिगए ।

२३५—केशी कुमारश्रमण के कथन को सुनने के अनन्तर चित्त सारथी ने उन से निवेदन किया—हे भद्रन्त ! किसी समय कंबोज देशवासियों ने चार घोड़े उपहार रूप भेट किये थे । मैंने उनको प्रदेशी राजा के यहाँ भिजवा दिया था, तो भगवन् ! इन घोड़ों के बहाने मैं शीघ्र ही प्रदेशी राजा को आपके पास लाऊँगा । तब हे देवानुप्रिय ! आप प्रदेशी राजा को धर्मकथा कहते हुए लेशमात्र भी ग्लानि मत करना—खेदखिल, उदासीन न होना । हे भद्रन्त ! आप अग्लानभाव से प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश देना । हे भगवन् ! आप स्वेच्छानुसार प्रदेशी राजा को धर्म का कथन करना ।

तब केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! अवसर—प्रसंग आने पर देखा जायेगा ।

तत्पश्चात् चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण को बन्दना की, नमस्कार किया और फिर जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ खड़ा था, वहाँ आया । आकर उस चार घंटों वाले अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ । फिर जिस दिशा से आया था उसी ओर लौट गया ।

२३६—तए ण से चित्ते सारही कल्लं पाउप्यभायाए रवणीए फुल्लुप्यलकमलकोमलुम्भिलियंमि अहापंडुरे पभाए क्यनियमावस्सए सहस्रस्समिदिणयरे तेयसा जलते साथो गिहायो जिगच्छइ, जेणेव पएसिस्स रन्नो गिहे, जेणेव पएसी राया तेणेव उवागच्छइ, पएसि रायं करयल-जाव त्ति कट्टु

जएण दिजएण बद्वावेह, एवं वयासी—एवं खलु वेवाणुप्पियाणं कंबोएहि चत्तारि आसा उवण्यं उवण्यीया, ते य मए वेवाणुप्पियाणं अण्णया चेष्ट विणहया। तं एह णं सामी! ते आसे चिह्न' पासह।

तए णं से पएसी राया चित्तं सारहि एवं वयासी—गच्छाहि णं तुमं चित्ता! तेहि चेष्ट चउहि आसेहि आसरहं जुत्तामेव उवटुवेहि जाव पच्चप्पिणाहि।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रमा एवं बुत्ते समाणे हट्टुत्टु-जाव-हियए उवटुवेहि, एव्वराण-त्तियं पच्चप्पिणइ।

तए णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स अंतिए एयमटुं सोच्चा णिसम्म हट्टुत्टु जाव अप्पमहाघाभरणालंकिष्टसरोरे साजो गिहाओ निगगच्छइ। जेणामेव शाउगधंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउगधंटे आसरहं दुरुहइ, सेयवियए तमशीए भञ्ज्ञमज्ज्वेण णिगगच्छइ।

तए णं से चित्ते सारही तं रहे णेगाइ जोयणाहं उवभामेहि। तए णं से पएसी राया उण्हेण य तण्हाए य रहवाएणं परिकिलंते समाणे चित्तं सारहि एवं वयासी—चित्ता! परिकिलंते मे सरीरे, परावत्तेहि रहे।

तए णं से चित्ते सारही रहं परावत्तेहि। जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, पएसि रायं एवं वयासी—एस णं सामी! मियवणे उज्जाणे, एत्थं णं आसाणं समं किलामं सम्मं अवणेमो।

तए णं से पएसी राया चित्तं सारहि एवं वदासी—एवं होउ चित्ता!

२३६—तत्पश्चात् कल (आगामी दिन) रात्रि के प्रभात रूप में परिवर्तित हो जाने से जब कोमल उत्पल कमल विकसित हो चुके और धूप भी सुनहरी हो गई तब नियम एवं श्रावश्यक कायों से निवृत्त होकर जाज्वल्यमान तेज सहित सहस्ररश्मि दिनकर के चमकने के बाद चित्त सारथी अपने घर से निकला। जहाँ प्रदेशी राजा का भवन था, उसमें भी जहाँ प्रदेशी राजा था, वहाँ आया। आकर दोनों हाथ जोड़ यावत् अंजलि करके जय-विजय शब्दों से प्रदेशी राजा का अभिनन्दन किया और इस प्रकार बोला—कंबोज देशवासियों ने देवानुप्रिय के लिए जो चार घोड़े उष्हार-स्वरूप भेजे थे, उन्हें मैंने आप देवानुप्रिय के योग्य प्रशिक्षित कर दिया है। यतएव स्वामिन्! आज आप पश्चारिए और उन घोड़ों की गति आदि चेष्टाओं का निरीक्षण कीजिये।

तब प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त! तुम जाओ और उन्हीं चार घोड़ों को जोतकर अश्वरथ को यहाँ लाओ यावत् मेरी इस आज्ञा को वापस मुझे लौटाओ अर्थात् रथ आने की मुझे सूचना दो।

चित्त सारथी प्रदेशी राजा के कथन को सुनकर हृषित एवं सन्तुष्ट हुआ। यावत् विकसित-हृदय होते हुए उसने अश्वरथ उपस्थित किया और रथ ले आने की सूचना राजा को दी।

तत्पश्चात् वह प्रदेशी राजा चित्त सारथी की बात सुनकर और हृदय में धारण कर हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् मूल्यवान् श्रत्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत करके अपने भवन से निकला और जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ था, वहाँ आया। आकर उस चार घंटों वाले अश्वरथ पर आरूढ़ होकर सेयविया नगरी के बीचों-बीच से निकला।

चित्त सारथी ने उस रथ को अनेक योजनों अर्थात् बहुत दूर तक बड़ी तेज चाल से दौड़ाया—चलाया। तब गरमी, प्यास और रथ की घटना से लगती हुया से छाकुल-उद्यान-खेत होकर प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! मेरा शरीर थक गया है। रथ को वापस लौटा लो।

तब चित्त सारथी ने रथ को लौटाया और वहाँ आया जहाँ मृगवन उद्यान था। वहाँ आकर प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे स्वामिन् ! यह मृगवन उद्यान है, यहाँ रथ को रोक कर हम घोड़ों के श्रम और अपनी थकावट को अच्छी तरह से दूर कर लें।

इस पर प्रदेशी राजा ने कहा—हे चित्त ! ठीक, ऐसा ही करो।

केशी कुमारश्वरण को देखकर प्रदेशी का चिन्तन

२३७—तए ण से चित्ते सारही जेणेव मियबणे, उज्जाणे, जेणेव केसिस्स कुमारश्वरणस्स अबूर-सामते तेणेव उवागच्छइ, तुरए णिगिहेइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरहइ, तुरए मोएति, पएसि राथ एवं वयासी—एह ण सामी ! आसाणं समं किलामं सम्म अबणेमो।

लए ण से पएसी राया रहाओ पच्चोरहइ, चित्तेण सारहिणा सँद्धि आसाणं समं किलामं सम्म अबणेमाणे पासइ जत्थ केसीकुमारश्वरणं भहइमहालियाए महच्चपरिसाए मज्जागए भहया सहेणं धम्ममाहक्षमाणं, पासइत्ता हमेयारुवे अज्ञातिथए जाव समृपजिज्ञासा—जड़ा खलु भो ! जड़ं पञ्जुवासंति, मुँडा खलु भो ! सुँडं पञ्जुवासंति, मूढा खलु भो ! सूँडं पञ्जुवासंति, अपंडिया खलु भो ! अपंडियं पञ्जुवासंति, निलिष्टणाणा खलु भो ! निलिष्टणाणं पञ्जुवासंति। से केस ण एस पुरिसे जड़के मुँडे मूढे अपंडिए निलिष्टणाणे, सिरीए हिरीए उत्तप्पसरीरे। एस ण पुरिसे किमाहारभाहारेइ ? कि परिणामेइ ? कि खाइ, कि पियइ, कि बलइ, कि पयच्छइ, जं ण एस एमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्जागए महया सहेणं बूयाए ? एवं संपेहेइ चित्तं सारहिं एवं वयासी—

चित्ता ! जड़ा खलु भो ! जड़ं पञ्जुवासंति जाव बूयाए, साए वि ण उज्जाणभूमीए नो संचाएमि सम्मं एकामं पवियरित्तए !

२३८—राजा के 'हाँ' कहने पर चित्त सारथी ने मृगवन उद्यान की ओर रथ को मोड़ा और फिर उस स्थान पर आया जो केशी कुमारश्वरण के निवासस्थान के पास था। वहाँ घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया, रथ से उतरा और फिर घोड़ों को खोलकर—छोड़कर प्रदेशी राजा से कहा—हे स्वामिन् ! हम यहाँ घोड़ों के श्रम और अपनी थकावट को दूर कर लें।

यह सुनकर प्रदेशी राजा रथ से नीचे उतरा, और चित्त सारथी के साथ घोड़ों की थकावट और अपनी ध्याकुलता को मिटाते हुए उस ओर देखा जहाँ केशी कुमारश्वरण अतिविशाल परिषद् के बीच बैठकर उच्च छवनि से धर्मोपदेश कर रहे थे। यह देखकर उसे मन-ही-मन यह विचार एवं संकल्प उत्पन्न हुआ—

जड़ ही जड़ की पर्युपासना करते हैं ! मुँड ही मुँड की उपासना करते हैं ! मूढ़ ही मूढ़ों की उपासना करते हैं ! अपंडित ही अपंडित की उपासना करते हैं ! और अज्ञानी ही अज्ञानी की उपासना-संमान करते हैं ! परन्तु यह कौन पुरुष है जो जड़, मुँड, मूढ़, अपंडित और अज्ञानी होते

हुए भी श्री-ही से सम्पन्न हैं, शारीरिक काँति से सुधोभित है ? यह पुष्प किस प्रकार का आहार करता है ? किस रूप में खाये हुए भोजन को परिणमाता है ? यह क्या खाता है, क्या पीता है, लोगों को क्या देता है, विशेष रूप से उन्हें क्या वितरित करता है—बाँटता है—समझता है ? यह पुरुष इतने विशाल मानव-समूह के बीच बैठकर जोर-जोर से बोल रहा है। उसने ऐसा विचार किया और चित्त सारथी से कहा—

चित्त ! जड़ पुरुष ही जड़ की पर्युपासना करते हैं आदि। यह कौन पुरुष है जो ऊँची छवनि से बोल रहा है ? इसके कारण हम अपनी ही उद्यानभूमि में भी इच्छानुसार धूम-फिर नहीं सकते हैं।

२३६—तए ण से चित्ते सारही पएसीरायं एवं वयासी—एस ण सामी ! पासावच्छिङ्गे केसी नामं कुमारसमणे जाइसंपणे जादृ^१ चउनाणोबगए आधोऽवहिए अणजीविए ।

तए ण से पएसी राया चित्तं सारहि एवं वयासो—आहोहियं ण वदासि चित्ता ! अणजी-वियतं ण वदासि चित्ता ।

हंता, सामी ! आहोहिअं ण वयासि, अणजीवियतं ण वयासि सामी !

अभिगमणिङ्गे ण चित्ता ! एस पुरिसे ?

हंता ! सामी ! अभिगमणिङ्गे ।

अभिगच्छामो ण चित्ता ! अम्हे एयं पुरिसं ?

हंता सामी ! अभिगच्छामो ।

२३७—तब चित्त सारथी ने प्रदेशी राजा से कहा—स्वामिन् ! ये पाश्चायित्य (भगवान् पाश्वनाथ की आचार-परम्परा के अनुगमी) केशी कुमारश्वरण हैं, जो जातिसम्पन्न यावत् मतिज्ञान आदि चार ज्ञानों के धारक हैं। ये आधोऽवधिज्ञान (परमावधि से कुछ न्यून अवधिज्ञान) से सम्पन्न एवं (एषणीय) अन्नजीवी हैं।

तब आश्चर्यचकित हो प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! यह पुरुष आधोऽवधिज्ञान-सम्पन्न है और अन्नजीवी है ?

चित्त—हाँ स्वामिन् ! ये आधोऽवधिज्ञानसम्पन्न एवं अन्नजीवी हैं ।

प्रदेशी—हे चित्त ! तो क्या यह पुरुष अभिगमनीय है अर्थात् इस पुरुष के पास जाकर बैठना चाहिये ।

चित्त—हाँ स्वामिन् ! अभिगमनीय है ।

प्रदेशी—तो फिर, चित्त ! हम इस पुरुष के पास चलें ।

चित्त—हाँ स्वामिन् ! चलें ।

२३८—तए ण से पएसी राया चित्तेण सारहिणा सद्दि जेणेव केसीकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरसामंते ठिल्ला एवं वयासी—सुड्डे ण भंते ! आहोहिया अणजीविया ?

तए णं केसी कुमारसमणे पएसि रायं एवं वदासी—पएसी ! से जहाणामए अंकवाणिया इ वा, संखवाणिया इ वा, दंतवाणिया इ वा, सुंकं भंसितंकामा णो सम्मं पंथं पुच्छइ, एवामेव पएसी ! तुझे दि विणयं भंसेउकामो नो सम्मं पुच्छसि । से णूं तब पएसी ममं पासिता अयमेवारुवे अज्ञतिथए जाव समुप्पिजित्था-जड़ा खलु भो ! जड़ं पञ्जुदासंति, जाव पवियरित्तए, से णूं पएसी अटु समत्थे ?

हंता ! अतिथि ।

२३९—तत्पश्चात् नित्त सारथी के साथ प्रदेशी राजा, जहाँ केशी कुमारश्रमण विराजमान थे, वहाँ आया और केशी कुमारश्रमण से कुछ दूर खड़े होकर बोला—हे भदन्त ! क्या आप आधोज्वधि-ज्ञानधारी हैं ? क्या आप अष्टजीवी हैं ?

तब केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! जैसे कोई जांग्रेजिक् (अंगरेजन का व्यापारी) ग्रथवा शंखवणिक्, दन्तवणिक्, राजकर न देने के विचार से सीधा मार्ग नहीं पूछता, इसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम भी विनयप्रतिपत्ति नहीं करने की भावना से प्रेरित होकर मुझ से योग्य रीति से नहीं पूछ रहे हो । हे प्रदेशी ! मुझे देखकर क्या तुम्हें यह विचार समुत्पन्न नहीं हुआ था, कि ये जड़ जड़ की पर्युपासना करते हैं, यावत् मैं अपनी ही भूमि में स्वेच्छापूर्वक घूम-फिर नहीं सकता हूँ ? प्रदेशी ! मेरा यह कथन सत्य है ?

प्रदेशी—हाँ आपका कहना सत्य है अर्थात् मेरे मन में ऐसा विचार आया था ।

२४०—तए णं से पएसी राया केसी कुमारसमण एवं वदासी—से केणटुणं भते । तुज्ञे नाणे वा दंसणे वा जेणे तुझे मम एथारुवं अज्ञतिथयं जाव संकल्पं समुप्पणं जाणाह पातह ?

२४०—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—भदन्त ! तुम्हें ऐसा कीनसा जान और दर्शन है कि जिसके द्वारा आपने मेरे इस प्रकार के आन्तरिक यावत् मनोगत संकल्प को जाना और देखा ?

२४१—तए णं से केसीकुमारसमणे पएसि रायं एवं वयासी—एवं खलु पएसी ! अम्हं समणाणं निर्गांथाणं पंचविहे नाणे पणत्ते, तं जहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपञ्ज-वणाणे केवलणाणे ।

से किं तं आभिणिबोहियनाणे ?

आभिणिबोहियनाणे चउविहे पणत्ते, तं जहा—उग्गबो ईहा अवाए धारणा ।

से किं तं उग्गहे ?

उग्गहे दुविहे पणत्ते, जहा नंदीए जाव से तं धारणा, से तं आभिणिबोहियनाणे ।

से किं तं सुयनाणे ?

सुयनाणे दुविहे पणत्ते, तं जहा—अंगपविहुं च, अंगबाहिरं च, सब्वं भाणियर्वं जाव विहुवाओ ।

ओहिणाणे भवपउच्छव्यं, खश्रोवसमियं जहा णंदीए ।

मणपञ्जवनाणे तु विहे पण्णते, तं जहा—उजुमई य, विडलमई य, लहेव केवलनाणं सम्ब
भागियब्बं ।

तत्थ णं जे से आभिनिबोधियनाणे से णं मम अत्थि, तत्थ णं जे से सुयनाणे से वि य मम
अत्थि, तत्थ णं जे से ओहिणाणे से वि य मम अत्थि, तत्थ णं जे से मणपञ्जवनाणे से वि य मम अत्थि,
तत्थ णं जे से केवलनाणे से णं मम नत्थि, से णं अरिहंसाणं भगवन्ताणं ।

इच्छेएणं पएसी अहं तद्व चउषिवहेणं छउमस्थेणं णाणेणं इमेयाहुवं अजस्तिथियं जाव समुप्पणं
जाणामि पासामि ।

२४१—तब केशी कुमारश्वरण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! निश्चय ही
हम निर्णय अमणों के शास्त्रों में ज्ञान के पांच प्रकार बतलाये हैं । वे पांच यह हैं—(१) आभिनि-
बोधिक ज्ञान (भृतज्ञान), (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान ।

प्रदेशी—आभिनिबोधिक ज्ञान कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्वरण—आभिनिबोधिकज्ञान चार प्रकार का है—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणा ।

प्रदेशी—अवग्रह कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्वरण—अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया है इत्यादि धारणा पर्यन्त
आभिनिबोधिक ज्ञान का विवेचन नन्दीसूत्र के अनुसार जानेना चाहिए ।

प्रदेशी—श्रुतज्ञान कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्वरण—श्रुतज्ञान दो प्रकार का है, यथा अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । दूष्टिवाद
पर्यन्त श्रुतज्ञान के भेदों का समस्त वर्णन नन्दीसूत्र के अनुसार यहाँ करना चाहिए ।

भवप्रत्ययिक और कायोपशमिक के भेद से अवधिज्ञान दो प्रकार का है । इनका विवेचन भी
नन्दीसूत्र के अनुसार यहाँ जान लेना चाहिए ।

मनःपर्यायज्ञान दो प्रकार का कहा गया है, यथा ऋजुमति और विपुलमति । नन्दीसूत्र के
अनुरूप इनका भी वर्णन यहाँ करना चाहिए ।

इसी प्रकार केवलज्ञान का भी वर्णन यहाँ करना चाहिए ।

इन पांच ज्ञानों में से आभिनिबोधिक ज्ञान मुझे है, श्रुतज्ञान मुझे है, अवधिज्ञान भी मुझे है,
मनःपर्याय ज्ञान भी मुझे प्राप्त है, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं है । वह केवलज्ञान अरिहंत भगवन्तों को
होता है ।

इन चतुर्विधि छाद्यस्थिक ज्ञानों के द्वारा हे प्रदेशी ! मैंने तुम्हारे इस प्रकार के आन्तरिक
यावत् भगवन्तों संकल्प को जाना और देखा है ।

विवेचन—सूत्र में जैनदर्शनमात्य आभिनिबोधिक (मति) आदि पांच ज्ञानों के नाम और
उन ज्ञानों के कतिपय अवान्तर भेदों का उल्लेख करके शेष विस्तृत वर्णन नन्दीसूत्र के अनुसार करने
का संकेत किया गया है । नन्दीसूत्र के आधार से उन मति आदि पांच ज्ञानों का संक्षेप में वर्णन इस
प्रकार है—

ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। प्रतएव ज्ञानावरणकर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से आत्मा का जो बोध रहत व्यापार होता है, उह शब्द है। आभिनिबोधिक आदि के भेद से ज्ञान के पांच प्रकार हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

आभिनिबोधिक ज्ञान—जो ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न हो और सन्मुख आये हुए पदार्थों के प्रतिनियत स्वरूप को देश काल, अवस्था की अपेक्षा इन्द्रियों के आश्रित होकर जाने, ऐसे बोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। इसका अपर नाम मतिज्ञान भी है। किन्तु अंतर यह है कि मति शब्द से ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण किया जाता है किन्तु आभिनिबोधिक शब्द ज्ञान के लिये ही प्रयुक्त होता है।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जिससे अर्थ को उपलब्धि हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का कारण शब्द है अतः उपचार से शब्द के ज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी—मूर्त पदार्थों का साक्षात् बोध करने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधि ज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है अरूपी को नहीं, यही उसकी मर्यादा है। अथवा 'अब' शब्द अधो अर्थ का वाचक है। इसलिये जो ज्ञान अधोऽधो (नीचे-नीचे) विस्तृत जानने की शक्ति रखता है, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर जो ज्ञान मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञान—समनस्क-संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाये, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं। यद्यपि मन और मानसिक आकार-प्रकारों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति अवधिज्ञान में भी है, किन्तु मनःपर्यायज्ञान मन के पर्यायों-आकार-प्रकारों को सूक्ष्म एवं निर्मल रूप में प्रत्यक्ष कर सकता है, अवधिज्ञान नहीं।

केवलज्ञान—केवल शब्द एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण, इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः इन अर्थों के अनुसार केवलज्ञान की व्याख्या इस प्रकार है—

जिसके उत्पन्न होने पर क्षयोपशमजन्य मतिज्ञानादि (आभिनिबोधिकादि) जारों ज्ञानों का विलीनीकरण होकर एक ही ज्ञान शेष रह जाये, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान मन, इन्द्रिय आदि किसी की सहायता के बिना संपूर्ण मूर्त-अमूर्त (रूपी-अरूपी) ज्ञेय पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करने में सक्षम हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान विशुद्धतम हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सभी पदार्थों की प्रतिपूर्ण—समस्त पर्यायों को जानने की शक्ति वाला हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान अनन्त-अनन्त पदार्थों को जानने में सक्षम है, अथवा उत्पन्न होने के पश्चात् जिसका कभी अन्त न हो, ऐसे ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान निरावरण, नित्य और साश्वत हो, वह केवलज्ञान है।

इन पांच प्रकार के ज्ञानों में से आदि के दो ज्ञान परोक्ष और अंतिम तीन प्रत्यक्ष हैं। मन और इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष और जो ज्ञान साक्षात् आत्मा के द्वारा होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि मन और इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी

किसी अपेक्षा (लोकिक दृष्टि से) प्रत्यक्ष कहा जाता है, किन्तु वह ज्ञान मन और इन्द्रियों के आधित होने से परोक्ष ही है।

जब हम इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कोटि में ग्रहण करते हैं तो वहाँ यह आशय समझना चाहिए कि लोक-प्रतिपत्ति, व्यवहार की दृष्टि से वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, लेकिन यथार्थतः तो साक्षात् आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। इन दोनों दृष्टियों को ज्ञान में रखते हुए जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के सांघर्षवहारिक और पारमायिक दो भेद किये हैं। नन्दीसूत्र में इन दोनों के लिए क्रमशः इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है। स्पष्टीन, रसन, द्वाण, चक्षु और शोष के भेद से इन्द्रियों पांच होने से इन्द्रियप्रत्यक्ष के पांच भेद हैं। कान से होने वाला ज्ञान शोषेन्द्रियप्रत्यक्ष है, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के लिए समझना चाहिये। अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान एवं केवलज्ञान ये तीन नोइन्द्रियप्रत्यक्ष हैं।

उक्त नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के तीन भेदों के से अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। तत्त्व योनिविशेष के जन्म लेने पर जो ज्ञान उत्पन्न हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में भव प्रधान कारण हो, ऐसा ज्ञान भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहलाता है। यह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवों और नारकों को होता है। तपस्या आदि विशेष गुणों के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं। यह मनुष्यों और तिर्यकों में पाया जाता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान १. आनुगामिक, २. अनानुगामिक, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. प्रतिपातिक और ६. अप्रतिपातिक के भेद से छह प्रकार का है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के उक्त छह भेदों में से आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है—
 १. अन्तगत और २. मध्यगत। इनमें से अन्तगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—१. पुरतः (आगे से) अन्तगत—जो अवधिज्ञान आगे-आगे संख्यात, असंख्यात योजनों तक पदार्थ को जाने, २. मार्यतः (पीछे से) अन्तगत—जो ज्ञान पीछे के संख्यात, असंख्यात योजनों तक के पदार्थ को जाने, ३. पाश्वंतः (दोनों पाश्वों-बाजुओं) से अन्तगत—जो ज्ञान दोनों पाश्वों में संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जाने। जो ज्ञान चारों ओर के पदार्थों को जानते हुए ज्ञाता के साथ रहता है, उसे मध्यगत अवधिज्ञान कहते हैं।

अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित रहकर अवधिज्ञानी संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध द्रव्यों को जानता है, अन्यथा चले जाने पर नहीं जानता है।

जो अवधिज्ञान पारिणामिक विशुद्धि से उत्तरोत्तर दिशाओं और विदिशाओं में बढ़ता जाता है, उसे वर्धमानक अवधिज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान पारिणामिक संबलेश के कारण उत्तरोत्तर हीन-हीन होता जाता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।

नारक, देव और तीर्थकर अवधिज्ञान से युक्त ही होते हैं। वे सब दिशाओं-विदिशाओं-वर्ती पदार्थों को जानते हैं, किन्तु सामान्य मनुष्यों और तिर्यकों के लिए ऐसा नियम नहीं है। वे सब दिशाओं में और एक दिशा में भी क्षयोपशम के अनुसार जानते हैं।

मनःपर्यायज्ञान पर्याप्ति, गर्भज संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज सम्यग्दृष्टि, ऋद्धिसम्पन्न अप्रमत्तसंयत मुनियों में ही पाया जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी से विपुलमति मनःपर्यायज्ञान वाला अधिक-अधिक विशुद्धि, निर्मलता से पदार्थों को जानता है। वह मनुष्यक्षेत्र में रहे हुए प्राणियों के मन में परिचिन्तित अर्थ को जानने वाला है।

केवलज्ञान दो प्रकार का है—भवस्थ-केवलज्ञान और सिद्ध-केवलज्ञान। भवस्थ-केवलज्ञान सयोगिकेवलि और अथोगिकेवलि गुणस्थानवती जीवों को होता है।

सिद्ध केवलज्ञान सिद्धों को होता है। उस के भी दो भेद हैं—१. अनन्तर-सिद्ध केवलज्ञान और २. परंपर-सिद्ध केवलज्ञान। जिन्हें सिद्ध हुए प्रथम ही समय है और जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गये हैं, उन्हें क्रमशः अनन्तरसिद्ध और परंपरसिद्ध कहते हैं और उनका केवलज्ञान अनन्तर-सिद्ध-केवलज्ञान एवं परंपरसिद्ध-केवलज्ञान कहलाता है।

द्रव्य से केवलज्ञानी सर्व द्रव्यों को जानता है, क्षेत्र से सर्व लोकालोक को जानता है, काल से भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालाखली द्रव्यों को जानता है और भाव से सर्व भावों—पर्यायों को जानता है।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञानों की संक्षेप में रूपरेखा बतलाने के अनन्तर अब परोक्ष ज्ञानों का वर्णन करते हैं।

आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित के भेद से दो प्रकार का है। श्रुतज्ञान के संस्कार के आधार से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को श्रुतनिश्चित मतिज्ञान कहते हैं और जो तथाविध क्षयोपशमभाव से उत्पन्न हो, जिसमें श्रृतज्ञान के संस्कार की अपेक्षा न हो, वह अश्रुत-निश्चित मतिज्ञान है।

अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान चार प्रकार का है—

(१) श्रौत्यस्तिकीबुद्धि—तथाविध क्षयोपशमभाव के कारण और शास्त्र-अभ्यास के बिना अचानक जिस बुद्धि की उत्पत्ति हो।

(२) वैनयिकीबुद्धि—गुह आदि की विनय-भवित से उत्पन्न बुद्धि।

(३) कर्मजाबुद्धि—शिल्पादि के अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि।

(४) पारिणामिकीबुद्धि—चिरकालीन पूर्वापिर पर्यालोचन से उत्पन्न बुद्धि।

श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के चार भेद हैं—(१) अवग्रह, (२) ईहा (३) अवाय, (४) धारणा।

१. जो अनिदेश्य सामान्य मात्र अर्थ को जानता है, उसे अवग्रह कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अर्थविग्रह, व्यंजनावग्रह। जो सामान्य मात्र का ग्रहण होता है, उसे अर्थविग्रह कहते हैं। पांच इन्द्रियों और मन से अर्थविग्रह होने से अर्थविग्रह के छह भेद हैं। प्राप्यकारी श्रोत्र, ब्राण, जिह्वा (जीभ) और स्पर्शन, इन चार इन्द्रियों से बद्ध—स्पृष्ट अर्थों का जो अत्यन्त अव्यक्त सामान्यात्मक ग्रहण हो, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। इन चार इन्द्रियों से होने के कारण व्यंजनावग्रह के चार भेद हैं।

अथविग्रह में अध्यस्तदशा तथा विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा है और व्यंजनावग्रह अनभ्य-स्तावस्था एवं क्षयोपशम की मंदता में होता है। अथविग्रह का काल एक समय है, किन्तु व्यंजनावग्रह का असंख्यात् समय है।

२. अवग्रह के उत्तर और अवाय से पूर्व सद्भूत अर्थ की पर्यालोचना रूप चेष्टा को इहा कहते हैं। अथवा अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा अथवा अवग्रह द्वारा गृहीत सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए होने वाली विचारणा इहा है। पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा होने से इहा के तत्त्व नामक छह भेद हैं।

३. इहा के द्वारा ग्रहण किये अर्थों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, अवाय कहलाता है। इहा की तरह इसके भी छह भेद हैं।

४. निर्णीति अर्थ का धारण करना अथवा कालान्तर में भी उसकी स्मृति हो आना धारणा है। पांच इन्द्रियों और मन से होने के कारण धारणा के भी छह भेद हैं।

अवग्रह आदि चारों में से अवग्रह का काल एक समय, इहा और अवाय का अन्तर्मुहूर्त तथा धारणा का संख्यात् असंख्यात् समय प्रमाण है। पांच इन्द्रियों और मन, इन छह निमित्तों से होने वाले अथविग्रह, इहा, अवाय और धारणा के छह-छह भेद हैं तथा मन और चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होने का कारण व्यंजनावग्रह के चार भेद हैं। सब मिलाकर ये अट्टाईस (२८) भेद हैं। ये सब पुनः विषय और क्षयोपशम की विविधता से १२-१२ प्रकार के हैं। जिससे अवग्रहादि रूप श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के कुल मिलाकर ३३६ भेद हो जाते हैं। अश्रुतनिश्चित के ग्रीत्पत्तिकीबुद्धि आदि चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के ३४० भेद होते हैं।

क्षयोपशमिक विविधता के बारह प्रकार ये हैं—

१-२. बहु-अल्पग्राही, ३-४. बहुविध-एकविधग्राही, ५-६. क्षिप्र-अक्षिप्रग्राही, ७-८. निश्चित-अनिश्चितग्राही, ९-१०. असंदिग्ध-संदिग्धग्राही, ११-१२. श्रुत-अश्रुतग्राही।

श्रुतज्ञान के भेदों का विचार विस्तार और संक्षेप, इन दो दृष्टियों से किया गया है। विस्तार से श्रुतज्ञान के चौदह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

१-२ अक्षर-अनक्षर श्रुत, ३-४ संज्ञी-असंज्ञी श्रुत, ५-६ सम्यक्-मिथ्या श्रुत, ७-८ सादि-अनादि श्रुत, ९-१० सपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुत, ११-१२ गमिक-अगमिक श्रुत, १३-१४ अंग-प्रविष्ट-अंगवाह्य श्रुत।

१-२. अक्षर-अनक्षर श्रुत—क्षर् संचलने धातु से अक्षर शब्द बनता है, 'न क्षरति-न चलति इत्यक्षरम्' अथवा जो अपने स्वरूप से चलित नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं। इसीलिये ज्ञान का नाम अक्षर है। इसके संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर, ये तीन भेद हैं। अक्षर की आकृति-संस्थान, बनावट को संज्ञाक्षर कहते हैं। उच्चारण किये जाने—बोले जाने वाले अक्षर व्यंजनाक्षर हैं और शब्द को सुनकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन होना लब्धि-अक्षर कहलाता है। अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का है। छोंकना, झासोच्छ्वास आदि सब अनक्षरश्रुत रूप हैं।

३-४. संज्ञि-असंज्ञी श्रुत—संज्ञी और असंज्ञी जीवों के श्रुत को क्रमशः संज्ञि, असंज्ञि श्रुत कहते हैं। कालिकी-उपदेश, हेतु-उपदेश और दृष्टिवाद-उपदेश के भेद से संज्ञिश्रुत तीन प्रकार का है।

ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, इस प्रकार के विचार-विमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की शक्ति जिसमें है, वह कालिकी-उपदेश से संज्ञी है और जिसमें उक्त ईहा, अपोह आदि रूप शक्ति नहीं, वह असंज्ञी है।

जिस जीव की विचारपूर्वक क्रिया करने में प्रवृत्ति होती है, वह हेतु-उपदेश की अपेक्षा से संज्ञी है और जिसमें विचारपूर्वक क्रिया करने की शक्ति नहीं, वह असंज्ञी है।

दृष्टि उर्ध्वं का नाम है और सम्बांग का नाम संज्ञा है। ऐसी संज्ञा जिसमें हो, उसे दृष्टिवाद-उपदेश से संज्ञी कहते हैं, उक्त संज्ञा जिसमें नहीं वह असंज्ञी है।

५-५. सम्यक् मिथ्या श्रुत—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित श्रुत सम्यक्श्रुत और मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्द बुद्धि वालों के द्वारा कहा गया श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। आचारांग आदि दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशांग रूप तथा सम्पूर्ण दशपूर्वधारी द्वारा कहा गया श्रुत सम्यक्श्रुत है।

७-८-९-१०. सादि, सपर्यवसित, अनादि, अपर्यवसित श्रुत—व्यवच्छिन्नति—पर्यायाधिक नय की अपेक्षा सादि-सपर्यवसित (सान्त) है और अव्यवच्छिन्नति—द्रव्याधिक नय की अपेक्षा अनादि-अपर्यवसित (अनन्त) है।

११-१२. गमिक-अगमिक श्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अवसान में किञ्चित् विशेषता रखते हुए पुनः-पुनः पूर्वोक्त शब्दों का उच्चारण हो, उसे गमिक श्रुत और जिस शास्त्र में पुनः-पुनः एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिक श्रुत कहते हैं।

१३-१४. अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुत—जिन शास्त्रों की रचना तीर्थकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, वे अंगप्रविष्ट तथा गणधरों के अतिरिक्त अंगों का आधार लेकर स्थविरों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंगबाह्य कहलाते हैं।

अंगप्रविष्ट श्रुत के आचारांग आदि बारह भेद हैं।

आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त के भेद से अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है। गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमें हो, उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं। आवश्यक श्रुत के छह भेद हैं—१. सामायिक, २. चतुविशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान तथा आवश्यकव्यतिरिक्त श्रुत के दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक।

जो शास्त्र दिन और रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में पढ़े जाते हैं, वे कालिक और जिनका कालवेला वर्ज का अध्ययन किया जाता है अर्थात् अस्वाध्याय के समय को छोड़कर शेष रात्रि और दिन में पढ़े जाते हैं, वे उत्कालिक शास्त्र कहलाते हैं। उत्कालिक और कालिक शास्त्र अनेक प्रकार के हैं।

इन सभी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य शास्त्रों का विशेष परिचय नंदीसूत्र और उसकी चूणि एवं वृत्ति में दिया गया है।

तत्त्वजीव-तत्त्वधरीरवाद मंडन-खंडन

२४२—तए ण से पएसो राया केसि कुमारसमण एवं व्यासी—अह ण भंते । इहं उविसामि ?
पएसो ! एसाए उज्जाणभूमीए तुमसि चेव जाणए ।

तए ण से पएसो राया चित्तेण सारहिणा सद्गु केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरलामंते उविसाइ,
केसिकुमारसमण एवं व्यासी—तुझभे ण भंते । समणाणं णिगंथाणं एसा सण्णा, एसा पइण्णा, एसा
दिट्ठी, एसा रई, एस हेऊ, एस उवएसे, एस संकष्टे, एसा तुला, एस माणे, एस पमाणे, एस समोसरणे
जहा अणो जीवो अणं सरीरं, जो तं जीवो तं सरीरं ?

२४२—केशीस्वामी के कथन को सुनने के अनन्तर प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्वमण से
निवेदन किया—भदन्त ! क्या मैं यहाँ बैठने या न बैठने के विषय
में तुम स्वयं समझ लो—निर्णय कर लो ।

तत्पश्चात् चित्तं सारथी के साथ प्रदेशी राजा केशी कुमारश्वमण के समीप बैठ गया और
बैठकर केशी कुमारश्वमण से इम प्रकार पूछा—

भदन्त ! क्या आप श्रमण निर्गुन्थों की ऐसी सम्यग्ज्ञान रूप संज्ञा है, तत्त्वनिश्चय रूप
प्रतिज्ञा है, दर्शन रूप दृष्टि है, श्रद्धानुगत अभिप्राय रूप रुचि है, अर्थ का प्रतिपादन करने रूप हेतु है,
शिक्षा वचन रूप उपदेश है, तात्त्विक अध्यवसाय रूप संकल्प है, मान्यता है, तुला-समीक्षीन निश्चय-
कसौटी है, दृढ़ धारणा है, अविसंवादी दृष्टि एवं इष्ट रूप प्रत्यक्षादि प्रमाणसंगत मंतव्य है और
स्वीकृत सिद्धान्त है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है ? अर्थात् जीव शरीर भिन्न-भिन्न स्वरूप
वाले हैं ? शरीर और जीव दोनों एक नहीं हैं ?

२४३—तए ण केसो कुमारसमणे पएसि रायं एवं व्यासी—पएसो ! अम्हं समणाणं णिगंथाणं
एसा सण्णा जाव^१ एस समोसरणे, जहा अणो जीवो अणं सरीरं, जो तं जीवो तं सरीरं ।

२४३—प्रदेशी राजा के प्रश्न को सुनकर प्रत्युत्तर में केशी कुमारश्वमण ने प्रदेशी राजा से
कहा—हे प्रदेशी ! हम श्रमण निर्गुन्थों की ऐसी संज्ञा यावत् समोसरण—सिद्धान्त है कि जीव भिन्न-
पृथक् है और शरीर भिन्न है, परन्तु जो जीव है वही शरीर है, ऐसी धारणा नहीं है ।

२४४—तए ण से पएसो राया केसि कुमारसमण एवं व्यासी—जति ण भंते । तुझभं समणाणं
णिगंथाणं एसा सण्णा जाव^२ समोसरणे जहा अणो जीवो अणं सरीरं, जो तं जीवो तं सरीरं, एवं
खलु ममं अज्जाए होत्था, इहेव जंबूदीवे दीवे सेयविद्याए णगरीए अधिम्मिए जाव^३ सगस्स वि य णं
जणवयस्स नो सम्मं करभरविद्वत् पवत्तेति, से णं तुझभं वत्तव्यव्याए सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं
समजिजणिता कालमासे कालं किञ्चित् अण्णयरेसु नरएसु योरद्वयत्ताए उवव्यणे ।

तस्य णं अज्जगस्स णं अहं णत्तुए होत्था इट्ठे कंते पिए मणुष्णे मणामे येउजे वेसासिए संभए

बहुमण्ड अणुभए रथणकरंडगसमाणे जीविउस्सविए हियण्दिजणणे उच्चरपुण्क पिव बुल्लसे सवण्णयाए, किमंग पुण पासणयाए ? तं जति णं से अज्जए ममं आगंतु वाइज्जा—

एवं खलु नत्तुया ! अहं तव अज्जए होत्था, इहेव सेयवियाए नवरीए अधम्मए जाव नो सम्मं करभरवित्त पवत्तेमि, तए णं अहं सुबहुं पावं कम्मं कसिकलुसं समजिअगित्ता नरएसु उववण्णे, तं मा णं नत्तुया ! तुमं पि भवाहि अधम्मए जाव नो सम्मं करभरवित्त पवत्तेहि, मा णं तुमं पि एवं चेव, सुबहुं पावकम्मं आव उववज्जिहसि । तं जह णं से अज्जए ममं आगंतु वाइज्जा तो णं अहं सहहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा जहा अझो जीवो अन्नं सरोरं, णो तं जीवो तं सर्वारं । जम्हा णं से अज्जए ममं आगंतु नो एवं वयासो तम्हा सुपहट्टिया यम पहज्जा समणाडसो ! जहा तज्जीवो तं सरोरं ।

२४४—तब प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्वमण से इस प्रकार कहा—हे भदन्त ! यदि आप श्रमण निर्बन्धों की ऐसी संज्ञा यावत् सिद्धान्त है कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, किन्तु ऐसी मान्यता नहीं है कि जो जीव है वही शरीर है, तो मेरे पितामह, जो इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप की सेयविया नगरी में अधार्मिक यावत् राजकर लेकर भी अपने जनपद का भली-भाँति पालन, रक्षण नहीं करते थे, वे आपके कथनानुसार अत्यन्त कलुषित पापकर्मों को उपाजित करके मरण-समय में मरण करके किसी एक नरक में नारक रूप से उत्पन्न हुए हैं । उन पितामह का मैं इष्ट, कान्त (अभिलिपित), प्रिय, मनोज, मणाम (अति प्रिय), धैर्य और विश्वास का स्थान (आधार, पात्र), कार्य करने में सम्मत (माना हुआ), बहुत कार्य करने में माना हुआ तथा कार्य करने के बाद भी अनुमत, रत्नकरंडक (आभूषणों की पेटी) के समान, जीवन की श्वासोच्छ्वास के समान, हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाला, गूलर के फूल के समान जिसका नाम सुनना भी दुर्लभ है तो फिर दर्शन की बात ही क्या है, ऐसा पौत्र हूँ । इसलिये यदि मेरे पितामह आकर मुझ से इस प्रकार कहें कि—

‘हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयविया नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन, रक्षण नहीं करता था । इस कारण मैं बहुत एवं प्रतीच कलुषित पापकर्मों का संचय करके नरक में उत्पन्न हुआ हूँ । किन्तु हे नाती (पौत्र) ! तुम अधार्मिक नहीं होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन, रक्षण में प्रमाद मत करता और न बहुत से मिलन पाप कर्मों का उपार्जन—संचय ही करना ।’

तो मैं आपके कथन पर श्रद्धा कर सकता हूँ, प्रतीति (विश्वास) कर सकता हूँ एवं उसे अपनी रुचि का विषय बना सकता हूँ कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है । जीव और शरीर एक रूप नहीं हैं । लेकिन जब तक मेरे पितामह आकर मुझसे ऐसा नहीं कहते तब तक हे आयुष्मन् श्रमण ! मेरी यह धारणा सुप्रतिष्ठित—समीचीन है कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है ।

विवेचन—यहाँ राजा पएसी (प्रदेशी) ने अपने दादा का दृष्टान्त देकर जो कथन किया है, उसी बात को दीघनिकाय में राजा पायासि ने अपने मिश्रों का उदाहरण देकर कहा है । दीघनिकाय में जिसका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—

राजा पायासि और कुमार काश्यप के मिलने पर पायासि अपनी शंका काश्यप के समक्ष उपस्थित करता है और काश्यप उसका समाधान करते हैं कि—राजन्य ! ये सूर्य, चन्द्र क्या हैं ? वे इहलोक हैं या परलोक हैं ? देव हैं या मानव हैं ? अर्थात् इन उदाहरणों के द्वारा काश्यप परलोक

की सिद्धि करते हैं। किन्तु राजा को यह बात समझ में नहीं आती है और वह पुनः कहता है—मेरे कुछ ज्ञातिजन एवं मित्र प्राणातिपात—हिसा आदि पापकार्यों में निरत रहते थे, उनको मैंने कह रखा था कि हिंसादिक पापकर्मों से तुम नरक में जाओ तो मुझे इसकी सूचना देना। लेकिन वे यहाँ आये नहीं और न कोई दूत भी भेजा। इसलिये परलोक नहीं है, मेरी यह शब्दा सुसंगत है।

२४५—तए ण केसी कुमारसमणे परेसि रायं एवं वदासी—अतिथि ण पएसी ! तब सूरियकंता णामं देवी ?

हृता अतिथि ।

जइ ण तुमं पएसी ! त सूरियकंतं देवि एहायं कथबलिकम्मं कथकोउयमंगलपायच्छत्तं सञ्चालंकारविभूसियं केणइ पुरिसेणं एहाएणं जाव सञ्चालंकारविभूसिएणं सिद्धि इट्टे सह-फरिस-रस-रुष-गंधे पंचविहे माणुस्तए कामभोगे पच्चण्डभवमाणि पासिङ्गासि, तस्स णं तुमं पएसी ! पुरिसस्स कं दंडं निवत्तेज्जासि ?

अहं ण भले ! सं पुरिसं हृथच्छिष्णणं वा, सूलाइगं वा, सूलभिज्जगं वा, पायछिज्जगं वा, एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवएज्जा ।

अहं णं पएसी से पुरिसे तुमं एवं ववेज्जा—‘मा ताव मे सामी ! मुहुत्तणं हृथच्छिष्णणं वा जाव जीवियाओ ववरोवेहि जाव ताव अहं मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणं एवं वयामि—एवं खलु देवाणुपिया ! पावाइं कम्माईं समायरेत्ता इमेयारुवं आवइं पाविज्जामि, तं मा णं वेवाणुपिया ! तुम्हे वि केह पावाइं कम्माईं समायरह, मा णं से वि एवं चेव आवइं पाविज्जिहिह जहा णं अहं ।’ तस्स णं तुमं पएसो ! परिसस्स खणमवि एयमटु' पदिसुणेज्जासि ?

णो तिणटु' समटु' ।

कम्हा णं ?

जम्हा णं भते ! अवराही णं से पुरिसे ।

एवामेव पएसी ! तब वि अज्जए होस्था, इहेव सेयवियाए णयरोए अधम्मए जाव^१ णो सम्मं करभरवित्त पवत्तेह, से णं अम्हं बत्तव्वयाए सुबहुं जाव उवक्कभो, तस्स णं अज्जगस्स तुमं णत्तुए होस्था इट्टे कंते जाव^२ पासणयाए । से णं इच्छेह माणुसं लोगं हृव्वमागच्छत्तए, णो चेव णं संचाएति हृव्वमागच्छत्तए । चउहि छाणेहि पएसो अहुणोववणाए नरएसु नेरइए इच्छेह माणुसं लोगं हृव्व-मागच्छत्तए नो चेव णं संचाएह—

१. अहुणोववणाए नरएसु नेरइए से णं तस्य महब्बूयं वेयणं वेदेमाणे इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हृव्वं (आगच्छत्तए) णो चेव णं संचाएह ।

२. अहुणोववणाए नरएसु नेरइए निरयवालेहि भुजो-भुजो समहिद्विज्जमाणे इच्छेह माणुसं लोगं हृव्वमागच्छत्तए, नो चेव णं संचाएह ।

३. अहुणोदवश्वर नरएसु नेरइए निरयवेयणिउर्यंसि कम्मंसि अक्षीर्णंसि अवेह्यंसि अनिजिनंसि इच्छाइ माणुसं लोगं (हृष्टवमागच्छत्तए) नो चेव णं संचाएइ ।

४. एवं णेरइए निरयाउर्यंसि कम्मंसि अक्षीर्णंसि अवेह्यंसि अणिजिनंसि इच्छाइ माणुसं लोगं० नो चेव णं संचाएइ हृष्टवमागच्छत्तए ।

इच्चेएहि चउहि ठाणेहि पएसो अहुणोदवश्वरने नरएसु नेरइसु इच्छाइ माणुसं लोगं० णो चेव णं संचाइए ।

तं सद्गुहाहि णं पएसो ! जहा—अन्तो जीवो अन्तं सरीर, नो तं जीवो तं सरीर ।

२४५—प्रदेशी राजा की युक्ति को सुनने के पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! तुम्हारी सूर्यकान्ता नाम की रानी है ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! है ।

केशी कुमारश्रमण—तो हे प्रदेशी ! यदि तुम उस सूर्यकान्ता देवी को स्नान, बलिकर्म और कौतुक-मंगल-प्रायशिच्छा करके एवं समस्त आभरण-अलंकारों से विभूषित होकर किसी स्नान किये हुए यावत् समस्त आभरण-अलंकारों से विभूषित पुरुष के साथ इष्ट-मनोनुकूल शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंधमूलक पांच प्रकार के मानवीय कामभोगों को भोगते हुए देख लो तो, हे प्रदेशी ! उस पुरुष के लिए तुम क्या दंड निश्चित करोगे ?

प्रदेशी—हे भगवन् ! मैं उस पुरुष के हाथ काट दूँगा, उसे शूली पर चढ़ा दूँगा, कांटों से छेद दूँगा, पैर काट दूँगा अथवा एक ही बार से जीवनरहित कर दूँगा—मार डालूँगा ।

प्रदेशी राजा के इस कथन को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने उससे कहा—हे प्रदेशी ! यदि वह पुरुष तुमसे मह कहे कि—‘हे स्वामिन् ! आप धड़ी भर रुक जाओ, तब तक आप मेरे हाथ न काटें, यावत् मुझे जीवन रहित न करें जब तक मैं अपने मिश्र, ज्ञातिजन, निजक--पुत्र आदि स्वजन-संबंधी और परिचितों से यह कह आऊँ कि हे देवानुप्रियो ! मैं इस प्रकार के पापकर्मों का आचरण करने के कारण यह दंड भोग रहा हूँ, अतएव हे देवानुप्रियो ! तुम कोई ऐसे पाप कर्मों में प्रवृत्ति मत करना, जिससे तुमको इस प्रकार का दंड भोगना पड़े, जैसा कि मैं भोग रहा हूँ ।’ तो हे प्रदेशी क्या तुम क्षणमात्र के लिए भी उस पुरुष की यह बात मानोगे ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह शर्यं समर्यं नहीं है । अर्थात् उसकी यह बात नहीं मानूँगा ।

केशी कुमारश्रमण—उसकी बात क्यों नहीं मानोगे ?

प्रदेशी—क्योंकि हे भदन्त ! वह पुरुष ग्रपराधी है ।

तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम्हारे पितामह भी हैं, जिन्होंने इसी सेयविया नगरी में ग्रामिक होकर जीवन व्यतीत किया यावत् प्रजाजनों से कर लेकर भी उनका अच्छी तरह से पालन, रक्षण नहीं किया एवं मेरे कथनानुसार वे बहुत से पापकर्मों का उपार्जन करके नरक में उत्पन्न हुए हैं । उन्होंने पितामह के तुम इष्ट, कान्त यावत् दुर्लभ पौत्र हो । यद्यपि वे शीघ्र ही मनुष्य लोक में आना चाहते हैं किन्तु वहाँ से आने में समर्थ नहीं हैं । क्योंकि—प्रदेशी ! तत्काल नरक में नारक रूप से

उत्पन्न जीव शीघ्र ही चार कारणों से मनुष्यलोक में आने की इच्छा तो करते हैं, किन्तु वहाँ से आ नहीं पाते हैं। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. नरक में अषुनोत्पन्न नारक वहाँ की अत्यन्त तीव्र वेदना का वेदन करने के कारण मनुष्यलोक में शीघ्र आने की आकांक्षा करते हैं, किन्तु आने में असमर्थ हैं।

२. नरक में तत्काल नैरायिक रूप से उत्पन्न जीव परमाद्वामिक नरकपालों द्वारा बारंबार ताडित-प्रताडित किये जाने से घबराकर शीघ्र ही मनुष्यलोक में आने की इच्छा तो करते हैं, किन्तु बैसा करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।

३. अवृनोपपन्नक नारक मनुष्यलोक में आने की अभिलाषा तो रखते हैं किन्तु नरक संबन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने, अननुभूत एवं अनिर्जीर्ण होने से वे वहाँ से निकलने में सक्षम नहीं हो पाते हैं।

४. इसी प्रकार नरक संबंधी आयुकर्म के क्षय नहीं होने से, अननुभूत एवं अनिर्जीर्ण होने से नारक जीव मनुष्यलोक में आने की अभिलाषा रखते हुए भी वहाँ से आ नहीं सकते हैं।

अतएव हे प्रदेशी ! तुम इस बात पर विश्वास करो, श्रद्धा रखो कि जीव अन्य—भिन्न है और शरीर अन्य है, किन्तु यह मत मानो कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है।

विवेचन—नरक में से जीव के न आ सकने के इन्हीं कारणों का दीघनिकाय (बौद्ध ग्रन्थ) में भी इसी प्रकार से उल्लेख किया है।

२४६—तए ण से पण्सो राया केसि कुमारसमणं एवं बदासी—

अतिथि ण भंते ! एसा पण्णा उवमा, इमेण पुण कारणेण तो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! मम अजिज्या होतथा, इहेव सेयवियाए नगरीए धम्मिया जाव वित्ति कप्पेमाणी समणोक्तासिया अभिगम्यजीवा० सठबो वर्णओ जाव^१ अण्णाणं भावेमाणी विहरइ, सा णं तुज्जं वत्तव्ययाए सुबहुं पुणोवचयं समजिज्ञित्ता कालमासे कालं किञ्चन्ना अण्णयरेसु वेवलोएसु वेवत्ताए उववर्णा, तीसे णं अजिज्याए अहं नत्तुए होस्या इह्ठे कंते जाव^२ पासण्याए, तं जह णं सा अजिज्या मम आगंतुं एवं बएज्जा—एवं खलु नत्तुया ! अहं तव अजिज्या होतथा, इहेव सेयवियाए नगरीए धम्मिया जाव वित्ति कप्पेमाणी समणोक्तासिया जाव विहरामि । तए णं अहं सुबहुं पुणोवचयं समजिज्ञित्ता जाव वेवलोएसु उववर्णा, तं तुमं पि णत्तुया ! मवाहि धम्मए जाव विहराहि, तए णं तुमं पि एवं ओव सुबहुं पुणोवचयं समजिज्ञित्ता जाव (कालमासे कालं किञ्चन्ना अण्णयरेसु वेवलोएसु वेवत्ताए) उववज्जिहिसि ।

तं जह णं अजिज्या मम आगंतुं एवं बएज्जा तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोइज्जा जहाअण्णो जीवो अण्णं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं । जम्हा सा अजिज्या मम आगंतुं णो एवं बदासी, तम्हा सुपइट्टिया मे पहण्णा जहा—तं जीवो तं सरीरं, नो अज्ञो जीवो अन्नं सरीरं ।

१. देखें सूत्र संख्या २२२

२. देखें सूत्र संख्या २४४

२४६—केशी कुमारधरण के पूर्वोक्त कथन को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमार-धरण के समक्ष नया तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—हे भद्रन्त ! मेरी आजी—दादी थीं । वह इसी सेयविद्या नगरी में धर्मपरायण यावत् धार्मिक आचार-विचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करनेवाली, जीव-शजीव आदि तत्त्वों की ज्ञाता धर्मणोपासिक यावत् तप से आत्मा को भावित करती हुई अपना समय व्यतीत करती थीं इत्यादि समस्त वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिये और आपके कथनानुसार वे पुण्य का उपार्जन कर कालमास में कल करके किसी देवलोक में देवरूप ते उत्पन्न हुई हैं । उन आर्थिका (दादी) का मैं इष्ट, कान्त यावत् दुर्लभदर्शन पौत्र हूँ । अतएव वे आर्थिका यदि यहाँ आकर मुझसे इस प्रकार कहें कि—हे पौत्र ! मैं तुम्हारी दादी थी और इसी सेयविद्या नगरी में धार्मिक जीवन व्यतीत करती हुई श्रमणोपासिका हो यावत् अपना समय बिताती थी । इस कारण मैं विपुल पुण्य का संचय करके यावत् देवलोक में उत्पन्न हुई हूँ । हे पौत्र ! तुम भी धार्मिक आचार-विचार-पूर्वक अपना जीवन बिताओ । जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन करके यावत् (मरणसमय में परण करके किसी एक देवलोक में देवरूप से) उत्पन्न होओगे ।

इस प्रकार से यदि मेरी दादी आकर मुझसे कहें कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है किन्तु वही जीव वही शरीर नहीं अर्थात् जीव और शरीर एक नहीं हैं, तो हे भद्रन्त ! मैं आपके कथन पर विश्वास कर सकता हूँ, प्रतीति कर सकता हूँ और अपनी रुचि का विषय बना सकता हूँ । परन्तु जब तक मेरी दादी आकर मुझसे ऐसा नहीं कहतीं तब तक मेरी यह धारणा सुप्रतिष्ठित एवं समीक्षीय है कि जो जीव है वही शरीर है । किन्तु जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं ।

विवेकन—यहाँ राजा प्रदेशी ने अपनी धार्मिक दादी का उदाहरण देकर जो व्यक्त किया, उसे दीघनिकाय में राजा पायासि ने अपने धर्मपरायण मित्रों के उदाहरण द्वारा बताया है कि आप अपनी धर्मवृत्ति के कारण स्वर्ग जाने वाले हैं और ऐसा हो तो आप मुझे यह समाचार अवश्य देना ।

२४७—तए ण केसी कुमारसमणे पएसीराथं एवं व्यासो—जति ण तुमं पएसी ! एहायं कयदलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छ्रुतं उल्लपडसाडगं भिगारकङ्गुच्छुयहृथगथं देवकुलमणुपविसमाणं केइ य पुरिसे वच्चघररसि ठिच्चा एवं वदेज्जा—एह ताव सामी ! इह मुहुर्तगं आसथह वा, चिदुह वा, निसीयह वा सुयद्दुह वा, तस्स ण तुमं पएसी ! पुरिसस्स खणमवि एवमद्धं पडिसुणिङ्गासि ।

णो तिणद्धं समद्धं ।

कम्हा णं ?

भते ! असुई असुइ सामंतो ।

एवामेव पएसी ! तब चि अजिज्या होत्था, इहेव सेयविद्याए णयरीए धम्मिया जाव विहरति, सा णं अम्हं वत्तव्वाए सुव्वहुं जाव उव्वव्वासा, तोसे णं अजिज्याए तुमं णत्तुए होत्था इट्ठे० किमंग पुण पासणयाए ? सा णं इच्छाइ माणुसं लोगं हृष्वमागच्छ्रुताए, णो चेव णं संचाएइ हृष्वमागच्छ्रुताए । चऊहि ठाणेहि पएसी ! अहुणोव्वव्वणए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हृष्वमागच्छ्रुताए णो चेव णं संचाएइ—

१. अहुणोव्वव्वणे देवे देवलोएसु विवेहि कामभोगेहि मुच्छिए-गिद्धे-गद्धिए-अज्ञोव्वव्वणे से णं माणसे जोगे नो आढाति, नो परिज्ञानाति, से णं इच्छेज्ज माणुस० नो चेव णं संचाएति ।

२. अहुणोववणए वेवे देवलोएसु दिव्वेहि कामभोगेहि मुच्छए जाव अज्ञोववणे, तस्स णं माणुस्से पेम्मे बोच्छम्मए भवति, दिव्वे पिम्मे संकते भवति, से णं इच्छेज्जा माणुसं० णो चेव णं संचाएइ ।

३. अहुणोववणे वेवे दिव्वेहि कामभोगेहि मुच्छए जाव अज्ञोववणे, तस्स णं एवं भवइ—इयाणि मच्छं मुहुत्तं जाव इह गच्छं, अप्पाउया णरा कालधम्मुणा संज्ञता भवति, से णं इच्छेज्जा साणुस्सं० णो चेव णं संचाएइ ।

४. अहुणोववणे वेवे दिव्वेहि जाव अज्ञोववणे, तस्स माणुस्सए उराले कुगंधे पडिकूले पडिलोमे भवइ, उड्डं पि य णं चत्तारि पंख जोश्यसए असुमे माणुस्सए गंधे अभिसमागच्छति, से णं इच्छेज्जा माणुसं० णो चेव णं संचाइउज्जा ।

इच्छेएहि ठाणेहि पएसो ! अहुणोववणे वेवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हृष्वमागच्छत्तए णो चेव णं संचाएइ हृष्वमागच्छत्तए, तं सद्वाहि णं तुमं पएसो ! जहा—अज्ञो जीवो अन्नं सरीरं नो तं जीवो तं सरीरं ।

२४७—प्रदेशी राजा का उक्त तर्क सुनकर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार पूछा—हे प्रदेशी ! यदि तुम स्नान, बलिकम्भ और कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त करके गीली धोती पहन, भारी और धूपदान हाथ में लेकर देवकुल में प्रविष्ट हो रहे होओ और उस समय कोई पुरुष विष्ठागृह (शोचालय) में खड़े होकर यह कहे कि—हे स्वामिन् ! आओ और क्षणमात्र के लिये यहाँ बैठो, खड़े होओ और लेटो, तो क्या हे प्रदेशी ! एक क्षण के लिये भी तुम उस पुरुष की बात स्वीकार कर लोगे ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, अर्थात् उस पुरुष की बात स्वीकार नहीं करूँगा ।

कुमारश्रमण केशीस्वामी—उस पुरुष की बात क्यों स्वीकार नहीं करोगे ?

प्रदेशी—क्योंकि भदन्त ! वह स्थान अपवित्र है और अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ—व्याप्त है ।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार प्रदेशी ! इसी सेयविया नगरी में तुम्हारी जो दादी धार्मिक यावत् धर्मानुरागपूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं और हमारी मान्यतानुसार वे बहुत से पुण्य का संचय करके यावत् देवलोक में उत्पन्न हुई हैं तथा उन्हीं दादी के तुम इष्ट यावत् दुर्लभदर्शन जैसे पौत्र हो । वे तुम्हारी दादी भी शीघ्र ही मनुष्यलोक में आने की अभिलाषी हैं किन्तु आ नहीं सकतीं ।

हे प्रदेशी ! अधुनोत्पन्न देव देवलोक से मनुष्यलोक में आने के आकांक्षी होते हुए भी इन चार कारणों से आ नहीं पाते हैं—

१. तत्काल उत्पन्न देव देवलोक के दिव्य कामभोगों में मूच्छत, गूढ़, आसत्त और तल्लीन हो जाने में मानवीय भोगों के प्रति आकर्षित नहीं होते हैं, न ध्यान देते हैं और न उनकी इच्छा करते हैं । जिससे वे मनुष्यलोक में आने की आकांक्षा रखते हुए भी आने में समर्थ नहीं हो पाते हैं ।

२. देवलोक संबंधी दिव्य कामभोगों में मूच्छत यावत् तल्लीन हो जाने से अधुनोत्पन्नक देव का मनुष्य संबंधी प्रेम (आकर्षण) व्यच्छन्न—समाप्त-सा हो जाता है—टूट जाता है और देवलोक

संबंधी अनुराग संक्रान्त हो जाने से मनुष्य लोक में आने की अभिलाषा रखते हुए भी यहाँ आ नहीं पाते हैं।

३. अधुनोत्पन्न देव देवलोक में जब दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित यावत् तल्लीन हो जाते हैं तब वे सोचते तो हैं कि अब जाऊँ, अब जाऊँ, कुछ समय बाद जाऊँगा, किन्तु उतने समय में तो उनके इस मनुष्यलोक के अल्पआयुषी संबंधी कालधर्म (मरण) को प्राप्त हो चुकते हैं। जिससे मनुष्यलोक में आने की अभिलाषा रखते हुए भी वे यहाँ आ नहीं पाते हैं।

४. वे अधुनोत्पन्न देव देवलोक के दिव्य कामभोगों में यावत् तल्लीन हो जाते हैं कि जिससे उनको मर्यालोक संबंधी अतिशय तीव्र दुर्गन्ध प्रतिकूल और अनिष्टकर लगती है एवं उस मानवीय कुत्सित दुर्गन्ध के ऊपर आकाश में चार-पांच सौ योजन तक फैल जाने से मनुष्यलोक में आने की इच्छा रखते हुए भी वे उस दुर्गन्ध के कारण आने में असमर्थ हो जाते हैं।

अतएव हे प्रदेशी ! मनुष्यलोक में आने के इच्छुक होने पर भी इन चार कारणों से अधुनोत्पन्न देव देवलोक से यहाँ आ नहीं सकते हैं। इसलिये प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं है और न शरीर जीव है।

विवेचन—यहाँ दिये गये देवकुल में प्रवेश करने के उदाहरण के स्थान पर दीघनिकाय में कुमार काश्यप ने दूसरा उदाहरण दिया है—जैसे कोई पुरुष दुर्गन्धमय कूप में पड़ा हो और उसका शरीर मल से लिप्त हो और उस पुरुष को बाहर निकलकर स्नान, शरीर पर सुगंधित तेल आदि का विलेपन और माला आदि से शुगारित करने के बाद पुनः उसे दुर्गन्धित कूप में चुसने के लिए कहा जाए तो क्या वह उसमें चुसेगा ?

प्रत्युत्तर में राजा ने कहा—नहीं चुसेगा।

काश्यप—तो इसी प्रकार दुर्गन्धित मनुष्यलोक से स्वर्ग में पहुँचे हुए देव पुनः दूसरी बार दुर्गन्धमय मर्यालोक में आयेंगे क्या इत्यादि ?

मनुष्यलोक में देवों के न आने के जो कारण यहाँ बताये हैं, इसी प्रकार दीघनिकाय में भी कहा है कि—

इस मनुष्यलोक के सौ वर्षों के बराबर आयस्त्रिंश देवों का एक दिन-रात होता है। ऐसे सौ-सौ वर्ष जितने समय वाले तीस दिन-रात होते हैं, तब देवों का एक मास और ऐसे बारह मास का एक वर्ष होता है। इन आयस्त्रिंश देवों का ऐसे दिव्य हजार वर्षों जितना दीर्घ आयुष्य होता है। ये देव भी विचार करते हैं कि दो-तीन दिन में इन दिव्य कामयुणों को भोगने के बाद अपने मानव-संबंधियों को समाचार देने जाऊँगा इत्यादि।

यहाँ मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध ऊपर आकाश में चार-सौ, पांच-सौ योजन तक पहुँचने का उल्लेख किया है, इसके बदले दीघनिकाय में कहा है कि देवों की दृष्टि में मनुष्य अपवित्र है, दुरभिगंध वाला है, धूणित है। मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध ऊपर सौ योजन तक पहुँचकर देवों को बाधा उत्पन्न करती है।

प्रस्तुत में चार-सौ, पांच-सौ योजन तक दुर्गन्ध पहुँचने का जो उल्लेख किया है उसकी नी

योजन से अधिक दूर से आते संग्रह पुद्गल घ्राणेन्द्रिय के विषय नहीं हो सकते हैं—इस शास्त्रीय उल्लेख से किस प्रकार संगति बैठ सकती है ? क्योंकि नी योजन से अधिक दूर से जो पुद्गल आते हैं उनकी गंध अत्यन्त मंद हो जाती है, जिससे वे घ्राणेन्द्रिय के विषय नहीं हो सकते हैं ।

इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने कहा है कि यद्यपि नियम तो ऐसा ही है किन्तु जो पुद्गल अति उत्कट गंध वाले होते हैं, उनके नी योजन तक पहुँचने पर जो दूसरे पुद्गल उनसे मिलते हैं, उनमें अपनी गंध संक्रान्त कर देते हैं और फिर वे पुद्गल भी आगे जाकर दूसरे पुद्गलों को अपनी गंध से बासित कर देते हैं । इस प्रकार ऊपर-ऊपर पुद्गल चार सौ, पाँच-सौ योजन तक पहुँचते हैं । परन्तु यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है कि ऊपर-ऊपर वह गंध मंद-मंद होती जाती है । इसी प्रकार से मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध साधारणतया चार सौ योजन तक और यदि दुर्गन्ध अत्यन्त तीव्र हो तब पाँच सौ योजन तक पहुँचती है, इसीलिए मूलशास्त्र में चार सौ, पाँच सौ ये दो संख्याएँ बताई हैं ।

इस संबंध में स्थानांग के टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि का मंतव्य है कि इससे मनुष्यक्षेत्र के दुर्गन्धित स्वरूप को सूचित किया गया है । वस्तुतः देव अथवा दूसरा कोई नी योजन से अधिक दूर से आगत पुद्गलों की गंध नहीं जानता है, जान नहीं सकता है । शास्त्र में इन्द्रियों का जो विषय-प्रमाण बतलाया है, वह संभव है कि श्रौदारिक शरीर संबंधी इन्द्रियों की अपेक्षा कहा हो । भरतादि क्षेत्र में एकान्त सुखमा काल होने पर उसकी दुर्गन्ध चार सौ योजन तक और वह काल न हो तब पाँच सौ योजन तक पहुँचती है, इसीलिए दो संख्याएँ बताई हैं ।

२४८—तए ण से पएसो राया केसि कुमारसमणं एवं व्यासी—

अस्थि ण भंते ! एस पणा उदमा, इमेण पुण कारणेण णो उवागच्छति, एवं खलु भंते ! अहं अन्नया कयाइ बाहिरियाए उवद्वाणसालाए अणेग गणणायक-दंडणायग-राय-ईसर-तसवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इधम-सेद्वि-सेणावह-सत्यवाह-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमह-नगर-निगम-दूय-संधिवालेहि सहि संपरिवृडे विहरामि । तए ण मम णगरगुत्तिया ससक्खं सलोहूं सगेवेजां अवउडबंधणवद्वं ओर उवणेति ।

तए ण अहं तं पुरिसं जीवंतं चेव अउकुंभोए पविखवावेमि, अउमएणं पिहाणएणं पिहावेमि, अएण य तउएण य आवावेमि, आयपच्चइयएहि पुरिसेहि रक्खावेमि ।

तए ण अहं अण्णया कयाइ जेणामेव सा अउकुंभी तेणामेव उवागच्छता तं अउकुंभि उगालच्छावेमि, उग्गलच्छाविता तं पुरिसं सयमेव पासामि, णो चेव णं तोसे अयकुंभीए केह छिह्डे हूँ वा विवरे वा अंतरे हूँ वा राई वा जओ णं से जीवे अंतोहितो बहिया णिग्गए ।

जह ण भंते ! तोसे अउकुंभीए होज्जा केह छिह्डे वा जाव राई वा जओ णं से जीवे अंतोहितो बहिया णिग्गए, तो णं अहं सद्हेज्जा-पत्तिएज्जा-रोएज्जा जहा अझो जीवो अन्नं सरीरं, नो तं जीवो तं सरीरं, जम्हा णं भंते ! तीसे अउकुंभीए णस्थि केह छिह्डे वा जाव निग्गए, तम्हा सुपतिद्विया मे पइग्ना जहा—तं जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं ।

२४९—केशी कुमारश्वमण के इस उत्तर को सुनने के अनन्तर राजा प्रदेशी ने केशी कुमार-श्वमण से इस प्रकार कहा—

हे भद्रन्त ! जीव और शरीर की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अपने देवों के नहीं आने के कारण रूप में जो उपभा दी, वह तो बुद्धि से कल्पित एक दृष्टान्त मात्र है और देव इन कारणों से मनुष्यलोक में नहीं प्राप्त हैं। परन्तु भद्रन्त ! किसी एक दिन मैं अपने अनेक गणनायक (समूह के मुखिया), दंडनायक (अपराध का विचार करने वाले), राजा (जागीरदार), ईश्वर (युवराज), तलवर (राजा की ओर से स्वर्णपट्ट प्राप्त करने वाले), माडंबिक (पांच सौ गाँव के स्वामी), कौटुम्बिक (ग्रामप्रधान), इब्न (अनेकों करोड़ धन-संपत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (प्रमुख व्यापारी), सेनापति, सार्थवाह (देश-देशान्तर जाकर व्यापार करने वाले), मंत्री, महामंत्री, गणक (ज्योतिषशास्त्र वेत्ता), दौवारिक (राजसभा का रक्षक), अमात्य, चेट (सेवक), पीठमदंक (समवयस्क मिश्र विशेष), नागरिक, व्यापारी, दूत, संधिपाल आदि के साथ अपनी बाह्य उपस्थानशाला (सभाभवन) में बैठा हुआ था। उसी समय नगर-रक्षक चुराई हुई वस्तु और साक्षी-गवाह सहित गरदन और पीछे दोनों हाथ बांधे एक चोर को पकड़ कर मेरे सामने लाये।

तब मैंने उसे जीवित ही एक लोहे की कुंभी में बंद करवा कर अच्छी तरह लोहे के ढक्कन से उसका मुख ढंक दिया। फिर गरम लोहे एवं रंगे से उस पर लेप करा दिया और देखरेख के लिये अपने विश्वासपात्र पुरुषों को नियुक्त कर दिया।

तत्पश्चात् किसी दिन मैं उस लोहे की कुंभी के पास गया। वहाँ जाकर मैंने उस लोहे की कुंभी को खुलवाया। खुलवा कर मैंने स्वयं उस पुरुष को देखा तो वह मर चुका था। किन्तु उस लोह कुंभी में राई जितना न कोई थेद था, न कोई विवर था, न कोई अंतर था और न कोई दरार थी कि जिसमें से उस (अंदर बंद) पुरुष का जीव बाहर निकल जाता।

यदि उस लोहकुंभी में कोई छिद्र यावत् दरार होती तो हे भद्रन्त ! मैं यह मान लेता कि भीतर बंद पुरुष का जीव बाहर निकल गया है और तब उससे आपकी बात पर विश्वास कर लेता, प्रतीति कर लेता एवं अपनी रुचि का विषय बना लेता—निर्णय कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, किन्तु जीव शरीर रूप नहीं और शरीर जीव रूप नहीं है।

लेकिन उस लोहकुंभी में जब कोई छिद्र ही नहीं है यावत् जीव नहीं है तो हे भद्रन्त ! मेरा यह मंतव्य ठीक है कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है, जीव शरीर से भिन्न नहीं और शरीर जीव से भिन्न नहीं है।

२४६—तए ण केसी कुमारसमणे पएसि रायं एवं वयासी—

पएसी ! से जहा नामए कूडागारसाला सिया बुहथो लित्ता-गुत्ता-गुत्तदुवारा-णिवायगंभीरा। अहु ण केह पुरिसे भेरि च दंडं च गहाय कूडागारसालाए अंतो अंतो अणुप्पविसति, तोसे कूडागार-सालाए सच्चतो समंता घण-निचिथ-निरंतर-णिञ्चित्तुइं दुवारवयणाइं पिहेह, तोसे कूडागारसालाए बहुमज्ज्वेसभाए ठिल्ला तं भेरि दंडएणं महया-महया सद्देण तालेज्जा, से जूणं पएसी ! से सद्दे णं अंतोहितो बहिया निर्गच्छइ ?

हेता णिगगच्छइ ।

अस्थि णं पएसी ! तोसे कूडागारसालाए केह छिद्दे वा जाव राई वा जओं ण से सद्दे अंतोहितो बहिया णिगगए ?

नो तिणटठे समटठे ।

एवामेव पएसी ! जीवे वि अपद्गुह्यगाई पुर्ववि भिन्नवा, सिलं भिन्नवा, पञ्चवं भिन्नवा अंतोहिसो बहिया णिग्गच्छाइ, तं सद्हाहि णं तुमं पएसी ! अण्णो जीवो तं चेव ।

२४९—प्रदेशी राजा की इस युक्ति को सुनने के पश्चात् केशी कुमारश्वमण ने प्रदेशी राजा से कहा-

हे प्रदेशी ! जैसे कोई एक कूटाकारशाला (पर्वत के शिखर जैसी आङ्गृति वाला भवन) हो और वह भीतर-बाहर चारों ओर लौपी हुई हो, अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका ढार भी गुप्त हो और हवा का प्रवेश भी जिसमें नहीं हो सके, ऐसी गहरी हो । अब यदि उस कूटाकार-शाला में कोई पुरुष भेरी और बजाने के लिए डंडा लेकर धूस जाये और धूसकर उस कूटाकारशाला के ढार आदि को इस प्रकार चारों ओर से बंद कर दे कि जिससे कहीं पर भी थोड़ा-सा अंतर नहीं रहे और उसके बाद उस कूटाकारशाला के बीचों-बीच खड़े होकर डंडे से भेरी को जोर-जोर से बजाये तो हे प्रदेशी ! तुम्हीं बताओ कि वह भीतर की आवाज बाहर निकलती है अथवा नहीं ? अर्थात् सुनाई पड़ती है या नहीं ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! निकलती है ।

केशी कुमारश्वमण—हे प्रदेशी ! क्या उस कूटाकारशाला में कोई छिद्र यावत् दरार है कि जिसमें से वह शब्द बाहर निकलता हो ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । अर्थात् वहाँ पर कोई छिद्रादि नहीं कि जिससे शब्द बाहर निकल सके ।

केशी कुमारश्वमण—तो इसी प्रकार प्रदेशी ! जीव भी अप्रतिहत गति वाला है । वह पृथ्वी का भेदन कर, शिला का भेदन कर, पर्वत का भेदन कर भीतर से बाहर निकल जाता है । इसीलिए हे प्रदेशी ! तुम यह थद्वा-प्रतीति करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) हैं, जीव शरीर नहीं है और शरीर जीव नहीं है ।

२५०—तए णं पएसी राया केसि कुमारसमण एवं बदासी—

अतिथि णं भंते ! एस पण्णा उवमा, इमेणं पुण कारणेणं णो उवागच्छाइ, एवं खलु भंसे ! अहं अन्नथा कयाइ बाहिरियाए उवद्वाणसालाए जाव^१ विहरामि, तए णं ममं णगरमुलिया ससक्षं जाव^२ उवर्णेति, तए णं अहं (त) पुरिसं जीवियाओ बवरोवेमि, जीवियाओ बवरोवेत्ता अयोकुंभीए पविष्ठवावेमि, अउभएणं पिहावेमि जाव^३ पच्चइएहि पुरिसेहि रम्भावेमि ।

तए णं अहं अन्नथा कयाइ जेणेव सा कुंभी तेणेव उवागच्छामि, तं अउकुंभि उग्गलच्छावेमि, सं अउकुंभि किमिकुंभि विव पासामि । णो चेव णं तीसे अउकुंभीए केह छिड्डे इ वा जाव राई वा जत्ता णं ते जीवा बहियाहितो अणुपविद्वा, जति णं तीसे अउकुंभीए होज्ज केह छिड्डे इ वा जाव

१-२. देखें सूत्र संख्या २४८

३. देखें सूत्र संख्या २४९

अणुपविद्वा, तेण अहं सद्गेज्जा जहा—अन्नो जीवो तं चेव, जम्हा णं तीसे अजकुंभीए अतिथि केइ छिड्डे
इ वा आब अणुपविद्वा तस्मा सुप्रतिष्ठिआ मे पहण्णा जहा—तं जीवो तं सरीरं तं चेव ।

२५०—इस उत्तर को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार
कहा—

भदन्त ! यह आप द्वारा प्रयुक्त उपमा तो बुद्धिविशेष रूप है, इससे मेरे मन में जीव और
शरीर की भिन्नता का विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि हे भदन्त ! किसी समय में
अपनी बाहरी उपस्थानशाला में गणनायक आदि के साथ बैठा हुआ था। तब मेरे नगररक्षकों ने
साक्षी सहित यावत् एक चोर पुरुष को उपस्थित किया। मैंने उस पुरुष को प्राणरहित कर दिया
अर्थात् मार डाला और मारकर एक लोहकुंभी में डलवा दिया, ढक्कन से ढांक दिया यावत् अपने
विश्वासपात्र पुरुषों को रक्षा के लिये नियुक्त कर दिया ।

इसके बाद किसी दिन जहाँ वह कुंभी थी, मैं वहाँ आया। आकर उस लोहकुंभी को उघाड़ा
तो उसे कुमिकुल से व्याप्त देखा। लेकिन उस लोहकुंभी में न तो कोई छेद था, न कोई दरार थी
कि जिसमें से वे जीव बाहर से उसमें प्रविष्ट हो सकें। यदि उस लोहकुंभी में कोई छेद होता
यावत् दरार होती तो यह माना जा सकता था। मान लेता कि वे जीव उसमें से होकर कुंभी में
प्रविष्ट हुए हैं और तब मैं थड़ा कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। लेकिन जब उस
लोहकुंभी में कोई छेद आदि नहीं थे, किर भी उसमें जीव प्रविष्ट हो गये। अतः मेरी यह प्रतीति
सुप्रतिष्ठित-समीचीन है कि जीव और शरीर एक ही हैं अर्थात् जीव शरीर रूप है और शरीर
जीव रूप है ।

२५१—तए णं केशी कुमारश्रमणे पएसी रायं एवं व्यासी—

अतिथि णं तुमे पएसी ! क्याइ अए धंतपुद्वे वा धम्मावियपुद्वे वा ?
हंता अतिथि ।

से णूणं पएसी ! अए धंते समाणे सठ्वे अगणिपरिणए भवति ?
हंता भवति ।

अतिथि णं पएसी ! तस्मा अयस्मा केइ छिड्डे इ वा जेणं से जोई बहियाहितो अन्तो अणुपविट्ठे ?
नो इणमट्ठे (इणट्ठे) समट्ठे ।

एवामेव पएसी ! जीवो वि अप्पिहयगई पुढ़वि भिज्जा, सिलं भिज्जा बहियाहितो
अणुपविसइ, तं सद्हाहिणं तुमं पएसी ! तहेव ।

२५२—तत्पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! क्या
तुमने पहले कभी अग्नि से तपाया हुआ लोहा देखा है अथवा स्वयं लोहे को तपाया है ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! देखा है ।

केशी कुमारश्रमण—तब हे प्रदेशी ! तपाये जाने पर वह लोहा पूर्णतया अग्नि रूप में परिणत
हो जाता है या नहीं ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! हो जाता है ।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! उस लोहे में कोई छिद्र आदि है क्या, जिससे वह अचिन बाहर से उसके भीतर प्रविष्ट हो गई ?

प्रदेशी—भदन्त ! यह अर्थ तो समर्थ नहीं है । अर्थात् उस लोहे में कोई छिद्र आदि नहीं होता ।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! जीव भी अप्रतिहत गति वाला है, जिससे वह पृथ्वी, शिला आदि का भेदन करके बाहर से भीतर प्रविष्ट हो जाता है । इसीलिए हे प्रदेशी ! तुम इस बात की श्रद्धा—प्रतीति करो कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है ।

विवेचन—केशी कुमारश्रमण के कथन का यह आशय है कि ये जीव दूसरी गति से च्यवन कर इस मृतक शरीर में आकर उत्पन्न हुए हैं ।

२५२—तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी—

अतिथि णं भते ! एस पण्णा उवमा, इमेण पुण मे कारणेण तो उवागच्छइ, अतिथि णं भते ! से जहानामए केह पुरिसे तरणे जाव सिप्पोवगए पञ्च पंचकंडगं निसिरितए ?

हंता, पञ्च ।

जति णं भते ! सो च्येव पुरिसे बाले जाव मंदविन्नाणे पञ्च होज्जा पंचकंडगं निसिरितए, तो णं अहं सद्दहेज्जा जहा—अन्नो जीवो तं चेव, जम्हा णं भते ! स च्येव से पुरिसे जाव मंदविन्नाणे णो पञ्च पंचकंडगं निसिरितए, तम्हा सुपद्धट्टिया मे पद्धण्णा जहा—तं जीवो तं चेव ।

२५२—पूर्वोक्त युक्ति को सुनकर प्रदेशी राजा ने केशीकुमारश्रमण से कहा—बुद्धि-विशेष-जन्य होने से आपकी उपमा वास्तविक नहीं है । किन्तु जो कारण में बता रहा हैं, उससे जीव और शरीर की भिन्नता सिद्ध नहीं होती है । वह कारण इस प्रकार है—

हे भदन्त ! जैसे कोई एक तरुण यावत् (युगवान, बलशाली, तिरोग, स्थिर संहनन वाला, सुदृढ़ पहुँचा वाला, हाथ-पैर-पीठ-जंघाओं आदि से संपन्न, सघन-सुदृढ़ गोल-गोल कंधे वाला, चमड़े के पट्टों, मुष्ठिकाओं आदि के प्रहारों से सुगठित शरीर वाला, हृदय बल से संपन्न, सहोत्पन्न ताल वृक्ष के समान बाहु-युगल वाला, लाघने-कूदने-चलने में समर्थ, चतुर, दक्ष, कुशल, बुद्धिमान्) और अपना कार्य सिद्ध करने मे निपुण पुरुष क्या एक साथ पांच वाणों को निकालने में समर्थ है ?

केशी कुमारश्रमण—हाँ वह समर्थ है ।

प्रदेशी—लेकिन वही पुरुष यदि बाल यावत् मंदविज्ञान वाला होते हुए भी पांच वाणों को एक साथ निकालने में समर्थ होता तो हे भदन्त ! मैं यह श्रद्धा कर सकता था कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, जीव शरीर नहीं है । लेकिन वही बाल, मंदविज्ञान वाला पुरुष पांच वाणों को एक साथ निकालने में समर्थ नहीं है, इसलिये भदन्त ! मेरी यह धारणा कि जीव और शरीर एक हैं, जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है, सुप्रतिष्ठित—प्रामाणिक, सुसंगत है ।

२५३—तए ण केसी कुमारसभणे पएसि राथं एवं वयासी—

से जहानामए केइ पुरिसे तरणे जाव सिष्पोबगए णवएण घणुणा नवियाए जीवाए नवएण
इसुणा पभू पंचकंडगं निसिरित्तए ?

हंता, पभू ।

सो चेब ण पुरिसे तरणे जाव निभणसिष्पोबगते कोरिल्लएण धणुणा कोरिल्लयाए जीवाए
कोरिल्लएण इसुणा पभू पंचकंडगं निसिरित्तए ?

णो तिणमट्ठे समट्ठे ।

कम्हा ण ?

भंते ! तस्त पुरिसस्स अपजज्ञताई उवगरणाई हवंति ।

एवामेव पएसी ! सो चेब पुरिसे बाले जाव मंदविज्ञाणे अपजज्ञसोबगरणे, णो पभू पंचकंडयं
निसिरित्तए, तं सहाहि ण तुमं पएसी ! जहा अन्नो जीवो तं चेब ।

२५३—राजा प्रदेशी के इस तर्के के प्रत्युत्तर में केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—
जैसे कोई एक तरण यावत् कार्य करने में निषुण पुरुष नवीन धनुष, नई प्रत्यंचा (डोरी) और नवीन
बाण से क्या एक साथ पांच बाण निकालने में समर्थ है अथवा नहीं है ?

प्रदेशी—हीं समर्थ है ।

केशी कुमारश्रमण—लेकिन वही तरण यावत् कार्य-कुशल पुरुष जीर्ण-शीर्ण, पुराने धनुष,
जीर्ण प्रत्यंचा और वैसे ही जीर्ण बाण से क्या एक साथ पांच बाणों को छोड़ने में समर्थ हो
सकता है ?

प्रदेशी—भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । अर्थात् पुराने धनुष आदि से वह एक साथ पांच
बाण छोड़ने में समर्थ नहीं होगा ।

केशी कुमारश्रमण—क्या कारण है कि जिससे यह अर्थ समर्थ नहीं है ?

प्रदेशी—भदन्त ! उस पुरुष के पास उपकरण (साधन) अपर्याप्त हैं ।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! वह बाल यावत् मंदविज्ञान पुरुष योग्यता
रूप उपकरण की अपर्याप्तता के कारण एक साथ पांच बाणों को छोड़ने में समर्थ नहीं हो पाता है ।
अतः प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा-प्रतीति करो कि जीव और शरीर पृथक्-पृथक् हैं, जीव शरीर नहीं और
शरीर जीव नहीं है ।

२५४—तए ण पएसी राया केसीकुमारसभणं एधं वयासी—

अत्थि ण भंते ! एस पणा उबमा, इमेण पुण कारणेण नो उवागच्छइ, भंते ! से जहानामए
केइ पुरिसे तरणे जाव सिष्पोबगते पभू एर्ग महं अयभारगं वा तज्यभारगं वा सोसगभारगं वा
परिवहित्तए ?

हंता पभू ।

सो चेव णं भंते ! पुरिसे जुने जराजजरियदेहे सिद्धिलवलितयाक्षिणदुगक्षे दंबपरिग्नहियाग-हरथे पविरलपरिसङ्गियदंतसेही आउरे किसिए पिंडासिए दुब्बले किलंते नो पश्च एं महं अयभारणं वा जाव परिवहितए, जति णं भंते ! सच्चेव पुरिसे जुने जराजजरियदेहे जाव परिकिलंते पश्च एं महं अयभारं वा जाव परिवहितए तो णं सद्गुरुज्ञा तहेव, जम्हा णं भंते ! से चेव पुरिसे जुने जाव किलंते नो पश्च एं महं अयभारं वा जाव परिवहितए, तम्हा सुपतिद्विता से पइण्णा तहेव ।

२५४—इस उत्तर को सुनकर प्रदेशी राजा ने पुनः केशी कुमारश्वमण से कहा—हे भदन्त ! यह तो प्रजाजन्य उपमा है, वास्तविक नहीं है । किन्तु मेरे द्वारा प्रस्तुत हेतु से तो यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर में भेद नहीं है । वह हेतु इस प्रकार है—

भदन्त ! कोई एक तरुण यावत् कायंक्षम पुरुष एक विशाल वजनदार लोहे के भार की, सीसे के भार को या रांगे के भार को उठाने में समर्थ है अथवा नहीं है ?

केशी कुमारश्वमण—हाँ समर्थ है ।

प्रदेशी—लेकिन भदन्त ! जब वही पुरुष बृद्ध हो जाए और बृद्धावस्था के कारण शरीर जर्जरित, शिघ्निल, भुरियों वाला एवं अशक्त हो, चलते समय सहारे के लिए हाथ में लकड़ी ले, दंतपंक्ति में से बहुत से दांत गिर चुके हों, खाँसी, श्वास आदि रोगों से पीड़ित होने के कारण कमजोर हो, भूख-प्यास से व्याकुल रहता हो, दुर्बल और क्लान्त—थका-मांदा हो तो उस वजनदार लोहे के भार को, रांगे के भार को अथवा सीसे के भार को उठाने में समर्थ नहीं हो पाता है । हे भदन्त ! यदि वही पुरुष बृद्ध, जरा-जर्जरित शरीर यावत् परिक्लान्त होने पर भी उस विशाल लोहे के भार आदि को उठाने में समर्थ होता तो मैं यह विश्वास कर सकता था कि जीव शरीर से भिन्न है और शरीर जीव से भिन्न है, जीव और शरीर एक नहीं हैं । लेकिन भदन्त ! वह पुरुष बृद्ध यावत् क्लान्त हो जाने से एक विशाल लोहे के भार आदि को उठाने में समर्थ नहीं है । अतः मेरी यह धारणा सुसंगत—समीचीन है कि जीव और जरीर दोनों एक ही हैं, किन्तु जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं ।

२५५—तए णं केसी कुमारसमणे पएसि रायं एवं व्यासो—

से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे जाव सिष्पोवगए णवियाए विहंगियाए, णवएहि सिक्कएहि, णवएहि पच्छियपिडएहि पहुं एं महं अयभारं जाव (वा तउयभारं वा सीसगभारं वा) परिवहितए ?

हंतर पश्च ।

पएसी ! से चेव णं पुरिसे तरुणे जाव सिष्पोवगए जुन्लियाए दुब्बलियाए घुणखड्हियाए विहंगियाए जुण्णएहि दुब्बलएहि घुणखड्हएहि सिद्धिलतयापिणद्वएहि सिक्कएहि, जुण्णएहि दुब्बलएहि घुणखड्हएहि पच्छियपिडएहि पश्च एं महं अयभारं वा जाव परिवहितए ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

कम्हा णं ?

भंते ! तस्स पुरिसस्स जुन्नाइ उवगरणाइ भर्वति ।

पएसी ! से चेव से पुरिसे जुने जाव^१ किलंते जुलोवगरणे नो पध्न एगं महं अयभार वा जाव परिवहितए, तं सद्हाहिण तुमं पएसो ! जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं ।

२५५—प्रदेशी राजा की इस बात को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने राजा प्रदेशी से कहा—जैसे कोई एक तरुण यावत् कार्यनिपुण पुरुष नवीन कावड़ से, रस्सी से वने नवीन सीके से और नवीन टोकनी से एक बहुत बड़े वजनदार लोहे के भार को यावत् (रांगे और सीसे के भार को) बहन करने में (उठाने, ढोने में) समर्थ है या नहीं है ?

प्रदेशी—हाँ समर्थ है ।

केशी कुमारश्रमण—अब मैं पुनः तुम से पूछता हूँ कि—हे प्रदेशी ! वही तरुण यावत् कार्य-कुशल पुरुष क्या सड़ी-गली, पुरानी, कमजोर, चुन से खाई हुई कावड़ से, जीर्ण-शीर्ण, दुर्बल, दीभक के खाये एवं ढीले-दाले सीके से, और पुराने, कमजोर और दीभक लगे टोकने से एक बड़े वजनदार लोहे के भार आदि को ले जाने में समर्थ है ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह शर्यं समर्थ नहीं है । अर्थात् जीर्ण-शीर्ण कावड़ आदि से भार ले जाने में समर्थ नहीं है ।

केशी कुमारश्रमण—क्यों समर्थ नहीं है ?

प्रदेशी—क्योंकि भदन्त ! उस पुरुष के पास भारवहन करने के उपकरण—साधन जीर्ण-शीर्ण हैं ।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! वह पुरुष जीर्ण यावत् क्लान्त शरीर आदि उपकरणों दाला होने से एक भारी वजनदार लोहे के भार को यावत् (सीसे के भार को, रांगे के भार को) बहन करने में समर्थ नहीं है । इसीलिए प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं है और शरीर जीव नहीं ।

२५६—तए ण से पएसी केसिकुभारसमण एवं वथासी—

अत्यि णं भंते ! जाव (एस पणा उदमा इमेण पुण कारणोण) नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! जाव^२ विहरामि । तए णं भम णगरगुत्तिया चोरं उवणेति । तए णं अहं तं पुरिसं जीवंतगं चेव तुलेमि, तुलेत्ता छ्विच्छेयं अकुच्चमाणे जीवियाओ ववरोवेमि, मयं तुलेमि, णो चेव णं तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स वा मुयस्स वा तुलियस्स केइ आणते वा, नाणते वा, ओमते वा, तुच्छते वा गुरुयसे वा, लहुयते वा, जति णं भंते । तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा सुलियस्स केइ अद्भत्ते वा जाव लहुयत्ते वा तो णं अहं सद्हेज्जा तं चेव ।

अम्हा णं भंते ! तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा सुलियस्स नत्य केइ अशसे वा लहुयसे वा तम्हा सुपतिट्ठिया मे पहन्ना जहा—तं जीवो तं चेव ।

२५६—इसके बाद उस प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से ऐसा कहा—हे भदन्त ! आपकी यह उपमा वास्तविक नहीं है, इससे जीव और शरीर की भिन्नता नहीं मानी जा सकती

१. देखे सूत्र संख्या २५४

२. देखे सूत्र संख्या २४८

है। लेकिन जो प्रत्यक्ष कारण मैं बताता हूँ, उससे यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर एक ही हैं। वह कारण इस प्रकार है—

हे भद्रन्त ! किसी एक दिन मैं गणनायक आदि के साथ बाहरी उपस्थानशाला में बैठा था। उसी समय मेरे नगररक्षक और को पकड़ कर लाये। तब मैंने उस पुरुष को जीवित अवस्था में तोला। तोलकर फिर मैंने अंगभंग किये बिना ही उसको जीवन रहित कर दिया—मार डाला और मार कर फिर मैंने उसे तोला। उस पुरुष का जीवित रहते जो तोल था उतना ही मरने के बाद था। जीवित रहते और मरने के बाद के तोल मैं मुझे किसी भी प्रकार का अंतर—न्यूनाधिकता दिखाई नहीं दी, न उसका भार बढ़ा और न कम हुआ, न वह वजनदार हुआ और न हल्का हुआ। इसलिए हे भद्रन्त ! यदि उस पुरुष के जीवितावस्था के वजन से मृतावस्था के वजन में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता हो जाती, यावत् हल्कापण आ जाता तो मैं इस बात पर श्रद्धा कर लेता कि जीव अन्ध है और शरीर अन्य है, जीव और शरीर एक नहीं है।

लेकिन भद्रन्त ! मैंने उस पुरुष की जीवित और मृत अवस्था में किये गये तोल में किसी प्रकार की भिन्नता, न्यूनाधिकता यावत् लघुता नहीं देखी। इस कारण मेरा यह मानना समीचीत है कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है किन्तु जीव और शरीर अभि-भिन्न नहीं हैं।

२५७—तए ण केशी कुमारशमणे पएसि रायं एवं वयासी—

अतिथ णं पएसी ! तुमे क्याइ वस्थी धंतपुञ्चे वा धमावियपुञ्चे वा ?

हृता प्रतिथ ।

अतिथ णं पएसी तस्स वत्यस्स पुण्णस्स वा तुलियस्स अपुण्णस्स वा तुलियस्स केइ प्रणत्ते वा जाव लहुयत्ते वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

एवामेव पएसी ! जीवस्स अगुरुलघुयत्तं पडुच्च जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा तुलियस्स नतिथ केइ आणत्ते वा जाव लहुयत्ते वा, तं सहाहि णं तुमे पएसी ! तं चेव ।

२५७—इसके बाद केशी कुमारशमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! तुमने कभी धींकनी में हवा भरी है अथवा किसी से भरवाई है ?

प्रदेशी—हाँ भद्रन्त ! भरी है और भरवाई है ।

केशी कुमारशमण—हे प्रदेशी ! जब वायु से भर कर उस धींकनी को तोला तब और वायु को निकाल कर तोला तब तुमको उसके वजन में कुछ न्यूनाधिकता यावत् लघुता मालूम हुई ?

प्रदेशी—भद्रन्त ! यह ग्रंथ तो समर्थ नहीं है, यानी न्यूनाधिकता यावत् लघुता कुछ भी दृष्टिगत नहीं हुई ।

केशी कुमारशमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! जीव के अगुरुलघुत्व को समझ कर उस ओर के शरीर के जीवितावस्था में किये गये तोल में और मृतावस्था में किये गये तोल में कुछ भी

नानात्व यावत् लघुत्व नहीं है। इसीलिए हे प्रदेशी ! तुम यह अद्वा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, किन्तु जीव-शरीर एक नहीं हैं।

२५८—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

अतिथ णं भंते ! एसा आव॑ नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! अहं अश्वया जाव॑ चोरं उवणेति । तए णं अहं तं पुरिसं सध्वतो समंता सभमिलोएभि, नो चेव णं तत्थ जीवं पासामि, तए णं अहं तं पुरिसं दुहा फालियं करेमि, करित्ता सध्वतो समंता सभमिलोएभि, नो चेव णं तत्थ जीवं पासामि, एवं तिहा चउहा संखेजजफालियं करेमि, णो चेव णं तत्थ जीवं पासामि । जह णं भंते ! अहं तं पुरिसं दुहा वा, तिहा वा, चउहा वा, संखेजजहा वा फालियंभि वा जीवं पासंतो तो णं अहं सद्वेजजा नो तं चेव, जम्हा णं भंते ! अहं तसि दुहा वा तिहा वा चउहा वा संखेजजहा वा फालियंभि वा जीवं न पासामि तम्हा सुपतिद्विया भे पद्धणा जहा— तं जीबो तं सरोरं तं चेव ।

२५९—केशी कुमारश्वमण की उक्त बात को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने पुनः केशी कुमारश्वमण से इस प्रकार कहा— हे भदन्त ! आपकी यह उपमा बुद्धिप्रेरित होने से वास्तविक नहीं है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि जीव और शरीर पृथक्-पृथक् हैं। क्योंकि भदन्त ! बात यह है कि किसी समय में अपने गणनायकों आदि के साथ बाह्य उपस्थानशाला में बैठा था। यावत् नगररक्षक एक चोर पकड़ कर लाये। तब मैंने उस पुरुष को सभी ओर से (सिर से पैर तक) अच्छी तरह देखा-भाला, परन्तु उसमें मुझे कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया। इसके बाद मैंने उस पुरुष के दो टुकड़े कर दिये। टुकड़े करके फिर मैंने अच्छी तरह सभी ओर से देखा। तब भी मुझे जीव नहीं दिखा। इसके बाद मैंने उसके तीन, चार यावत् संख्यात टुकड़े किये, परन्तु उनमें भी मुझे कहीं पर जीव दिखाई नहीं दिया। यदि भदन्त ! मुझे उस पुरुष के दो, तीन, चार श्रथवा संख्यात टुकड़े करने पर भी कहीं जीव दिखता तो मैं यह अद्वा-विश्वास कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव और शरीर एक नहीं है। लेकिन हे भदन्त ! जब मैंने उस पुरुष के दो, तीन, चार श्रथवा संख्यात टुकड़ों में भी जीव नहीं देखा है तो मेरी यह धारणा कि जीव शरीर है और शरीर जीव है, जीव-शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सुसंगत—सुस्थिर है ।

२६०—तए णं केसिकुमारसमणे पएसी रायं एवं वयासी—

मूढतराए णं तुमं पएसी ! ताओ तुच्छतराओ ।

के णं भंते ! तुच्छतराए ?

पएसी ! से जहाणामए केहु पुरिसे वणत्थी वणोवजीवी वणगवेसणयाए जोइं च जोइभायणं च गहाय कट्टाणं अडवि अणुपविट्टा, तए णं ते पुरिसा तीसे अगामियाए जाव किचिवेसं अणुपत्ता समाणा एर्ग पुरिसं एवं वयासी—अम्हे णं देवाणुपिया ! कट्टाणं अडवि पविसामो, एतो णं तुमं जोइभायणाओ जोइं गहाय अम्हं असणं साहेजासि । अहं तं जोइभायणे जोई विज्ञवेजजा एतो णं तुमं कट्टाओ जोइं गहाय अम्हं असणं साहेजासि, त्ति कट्टु कट्टाणं अडवि अणुपविट्टा ।

१. देखें सूत्र संख्या २५४

२. देखें सूत्र संख्या २४८

तए ण से पुरिसे तओ मुहुत्तरस्स तेसि पुरिसाण असण साहेमि ति कट्टु जेणेव जोतिभायणे तेणेव उवागच्छइ । जोइभायणे जोइ विज्ञायमेव पासति । तए ण से पुरिसे जेणेव से कट्टे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइ तं कट्टु सध्वओ समंता समभिलोएति, नो चेव णं तत्थ जोइ पासति । तए ण से पुरिसे परियरं बंधइ, फरसुं गिणहइ, तं कट्टु बुहा फालियं करेइ, सध्वतो समंता समभिलोएइ, यो चेव णं तत्थ जोइ पासह । एवं जाव संखेजफालियं करेइ, सध्वतो समंता समभिलोएइ, नो चेव णं तत्थ जोइ पासह ।

तए ण से पुरिसे तंसि कट्टुसि बुहाफालिए वा जाव संखेजफालिए वा जोइ अपासमाणे सेति तंते परिसंते निडिवणे समाणे परसुं एगंसे एडेइ, परियरं मुयह एवं बयासी—अहो ! मए तेसि पुरिसाण असणे तो साहिए ति कट्टु ओह्यमणसंकल्पे चित्तासोगसागरसंपविद्वे करयत्पलहस्थमुहे अहूज्ञाणोवाए भूमिगयविद्विए जियाइ ।

तए ण ते पुरिसा कट्टाइ छिदंति, जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छंति । तं पुरिसं ओह्यमण-संकल्पं जाव जियायमाणं पासति एवं बयासी—कि णं तुमं देवाणुपिया ! ओह्यमणसंकल्पे जाव जियायसि ?

तए ण से पुरिसे एवं बयासी—तुझे णं देवाणुपिया ! कट्टाणं अडवि अणुपविसमाणा मम एवं बयासी—अम्हे णं देवाणुपिया ! कट्टाणं अडवि जाव पविद्वा, तए णं अहं तसो मुहुसंतरस्स तुझे असण साहेमि ति कट्टु जेणेव जोइभायणे जाव जियामि ।

तए ण तेसि पुरिसाण एगे पुरिसे छेए, दक्षे, पस्त्वे जाव उवषेसलद्वे, ते पुरिसे एवं बयासी—गच्छाह णं तुझे देवाणुपिया ! यहाया क्यबलिकम्मा जाव हृष्मागच्छेह, जा णं अहं असण साहेमि ति कट्टु परियरं बंधइ, परसुं गिणहइ सरं करेइ सरेण भरणि भहेइ जोइ पावेइ, जोइ संघुरलेइ, तेसि पुरिसाण असण साहेइ ।

तए ण ते पुरिसा यहाया क्यबलिकम्मा जाव पायच्छस्ता जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छंति, तए ण से पुरिसे तेसि पुरिसाण सुहासणवरगयाणं तं विचलं असण-पाण-खाइमं-साइमं उचणेह । तए णं ते पुरिसा तं विचलं असण ४ (पाण-खाइमं-साइमं) आसाएमाणा खोसाएमाणा जाव विहरति । जिमियभुत्तुतरागया बिय णं समाणा आयंता खोमखा परमसुइभूया तं पुरिसं एवं बयासी—अहो ! णं तुमं देवाणुपिया ! अह्मे-मूढे-अपद्विए-निडिवणाणे-अणुथएसलद्वे, जे णं तुमं इच्छसि कट्टुसि बुहाफालियंसि वा जोति पालित्ते ।

से एएणट्ठेण पएसी ! एवं बुच्छइ मुहतराए णं तुमं पएसी ! ताओ तुच्छतराओ ।

२५९—प्रदेशी राजा के इस कथन को सुनने के अनन्तर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! तुम तो मुझे उस दीन-हीन कठियारे (लकड़ी ढोने वाले) से भी अधिक मूळ—बिवेकहीन प्रतीत होते हो ।

प्रदेशी—हे भद्रत ! कीनसा दीन-हीन कठियारा ?

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! वन में रहने वाले और वन से आजीविका कमाने वाले कुछ-एक पुरुष वनोत्पन्न वस्तुओं की खोज में आग और अंगीठी लेकर लकड़ियों के वन में प्रविष्ट हुए ।

प्रविष्ट होने के पश्चात् उन पुरुषों ने बुर्ज वन के विस्तीर्ण प्रदेश में पहुँचने पर अपने एक साथी से कहा—देवानुप्रिय ! हम इस लकड़ियों के जंगल में जाते हैं। तुम यहाँ अंगीठी से आग लेकर हमारे लिये भोजन तैयार करना। यदि अंगीठी में आग बुझ जाये तो तुम इस लकड़ी से आग पैदा करके हमारे लिए भोजन बना लेना। इस प्रकार कहकर वे सब उस काष्ठ-वन में प्रविष्ट हो गए।

उनके चले जाने पर कुछ समय पश्चात् उस पुरुष ने विचार किया—चलो उन लोगों के लिए जल्दी से भोजन बना लूँ। ऐसा विचार कर वह जहाँ अंगीठी रखी थी, वहाँ आया। आकर अंगीठी में आग को बुझा हुआ देखा। तब वह पुरुष वहाँ पहुँचा जहाँ वह काष्ठ पड़ा हुआ था। वहाँ पहुँचकर चारों ओर से उसने काष्ठ को अच्छी तरह देखा, किन्तु कहीं भी उसे आग दिखाई नहीं दी। तब उस पुरुष ने कमर कसी और कुल्हाड़ी लेकर उस काष्ठ के दो टुकड़े कर दिये। फिर उन टुकड़ों को भी सभी ओर से अच्छी तरह देखा, किन्तु कहीं आग दिखाई नहीं दी। इसी प्रकार फिर तीन, चार, पाँच यावत् संख्यात् टुकड़े किये परन्तु देखने पर भी उनमें कहीं आग दिखाई नहीं दी।

इसके बाद जब उस पुरुष को काष्ठ के दो से लेकर संख्यात् टुकड़े करने पर भी कहीं आग दिखाई नहीं दी तो वह शान्त, क्लान्त, खिल्ली और दुःखित हो, कुल्हाड़ी को एक ओर रख और कमर को खोलकर मन-ही-मन इस प्रकार बोला—अरे ! मैं उन लोगों के लिए भोजन नहीं बना सका। यब क्या करूँ ? इस विचार से अत्यन्त निराश, दुःखी, चिन्तित, शोकातुर हो हथेली पर मुँह को टिकाकर आर्तध्यानपूर्वक नीचे जमीन में आंखें गड़ाकर चिंता में ढूब गया।

लकड़ियों को काटने के पश्चात् वे लोग वहाँ आये जहाँ अपना साथी था और उसको निराश दुःखी यावत् चिन्ताप्रस्त देखकर उससे पूछा—देवानुप्रिय ! तुम क्यों निराश, दुःखी यावत् चिन्ता में डूबे हुए हो ?

तब उस पुरुष ने बताया कि देवानुप्रियो ! आप लोगों ने लकड़ी काटने के लिए वन में प्रविष्ट होने से पहले मुझसे कहा था—देवानुप्रिय ! हम लोग लकड़ी लाने जंगल में जाते हैं, इत्यादि यावत् जंगल में चले गये। कुछ समय बाद मैंने विचार किया कि आप लोगों के लिए भोजन बना लूँ। ऐसा विचार कर जहाँ अंगीठी थी, वहाँ पहुँचा यावत् (वहाँ जाकर मैंने देखा कि अंगीठी में आग बुझी हुई है। फिर मैं काष्ठ के पास आया। मैंने अच्छी तरह सभी ओर से उस काष्ठ को देखा किन्तु कहीं भी मुझे आग दिखाई नहीं दी। तब मैंने कुल्हाड़ी लेकर उस काष्ठ के दो टुकड़े किये और उन्हें भी इधर-उधर से अच्छी तरह देखा। परन्तु वहाँ भी मुझे आग दिखाई नहीं दी। इसके बाद मैंने उसके तीन, चार यावत् संख्यात् टुकड़े किये। उनको भी अच्छी तरह देखा, परन्तु उनमें भी कहीं आग दिखलाई नहीं दी। तब शान्त, क्लान्त, खिल्ली और दुःखित होकर कुल्हाड़ी को एक ओर रखकर विचार किया कि मैं आप लोगों के लिए भोजन नहीं बना सका। इस विचार से मैं अत्यन्त निराश, दुःखी हो शोक और चिन्ता रूपी सभुद्र में ढूबकर हथेली पर मुँह को टिकाये) आर्त-ध्यान कर रहा हूँ।

उन मनुष्यों में कोई एक छेक—अवसर को जानने वाला, दक्ष—चतुर, प्राप्तार्थ—कुशलता से अपने अभीप्सित शर्यं को प्राप्त करने वाला यावत् (बुद्धिमान्, कुशल, विनीत, विशिष्टज्ञानसंपन्न), उपदेश लब्ध—गुरु से उपदेश प्राप्त पुरुष था। उस पुरुष ने अपने दूसरे साथी लोगों से इस प्रकार कहा—

इतने में स्नान आदि करने गये पुरुष वापस स्नान करके, बलिकर्म करके यावत् प्रायश्चित्त करके उस भोजन बनाने वाले पुरुष के पास आ गये ।

तत्पश्चात् उस पुरुष ने सुखपूर्वक अपने-अपने आसनों पर बैठे उन लोगों के सामने उस विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चार प्रकार का भोजन रखा—परोसा । वे उस विपुल अशन आदि रूप चारों प्रकार के भोजन का स्वाद लेते हुए, खाते हुए यावत् विचरने लगे । भोजन के बाद आचमन-कुल्हा आदि करके स्वच्छ, शुद्ध होकर अपने पहले साथी से इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! तुम जड़—अनभिज्ञ, मूढ़—मूर्ख (विवेकहीन), अपडित (प्रतिभारहित), निविज्ञान (निपुणतारहित) और अनुपदेशलब्ध (अशिक्षित) हो, जो तुमने काठ के टुकड़ों में आग देखना चाही ।

इसी प्रकार की तुम्हारी भी प्रवृत्ति देखकर मैंने यह कहा—हे प्रदेशी ! तुम इस तुच्छ कठियारे से भी अधिक मूढ़ हो कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े लाले जीव ने देखना चाहते हो ।

२६०—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

जूत्तए णं भते ! तुम्हें इय धेयाणं दक्षाणं बुद्धाणं कुशलाणं महामईणं विणीयाणं विष्णाण-पत्ताणं उवएसलद्वाणं अहं इमीसाए महालियाए महूच्च परिसाए मझे उच्चावएहि आउसेहि आउसित्तए ? उच्चावयाहि उद्धुसणाहि उद्धुसित्तए ? एवं निवभंच्छणाहि निवभंच्छणित्तए ? निव्योद-णाहाहि निच्छोडत्तए ?

२६०—कुमारश्वमण केशीस्वामी की उक्त बात (उदाहरण) को सुनकर प्रदेशी राजा ने केशी-स्वामी से कहा—भते ! आप जैसे छेक—अवसरज, दक्ष—चतुर, बुद्ध—तत्त्वज्ञ, कुशल—कर्तव्याकर्तव्य के निषणिक, बुद्धिमान्, विनीत—त्रिनयशील, विशिष्ट ज्ञानी, सत्-असत् के विवेक से संपन्न (हेयोपादेय की परीक्षा करने वाले), उपदेशलब्ध—गुरु से शिक्षा प्राप्त पुरुष का इस अति विशाल परिषद् के बीच मेरे लिये इस प्रकार के निष्ठुर—आक्रोशपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना, अनादरसूचक शब्दों से मेरी भर्त्ताना करना, अनेक प्रकार के अवहेलना भरे शब्दों से मुझे प्रताडित करना, घमकाना क्या उचित है ?

२६१—तए णं केसी कुमारसमणे पएसि रायं एवं वयासी—

जाणासि णं तुमं पएसी ! कति परिसाओ पण्णस्ताओ ?

जाणामि, चक्षारि परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खत्तियपरिसा, गाहावहपरिसा, माहृण-परिसा, इसिपरिसा ।

जाणासि णं तुमं पएसो राया ! एयासि चउण्हं परिसाणं कस्त का दंडणीई पण्णत्ता ?

हुता ! जाणामि । जे ण स्वल्पियपरिसाए अवरज्ञाह से ण हृत्थच्छण्णए वा, पात्यच्छण्णए वा, सीसच्छण्ण वा, सूलाह्नए वा एगाह्नचे कूडाह्नचे जीवियामो बद्रोविज्ञह ।

जे ण गाहावहपरिसाए अवरज्ञाह से ण तएण वा, वेढेण वा, पलालेण वा, वेडेणा अगणिकाएण शामिज्ञह ।

जे ण माहणपरिसाए अवरज्ञाह से ण अणिद्वाहि अकंताहि जाव अमणामाहि वगूहि उवालंभिता कुंडियालंछणए वा सूणगलंछणए वा कीरह, निक्षिसए वा आणदिज्ञह ।

जे ण इसिपरिसाए अवरज्ञाह से ण णाइअणिद्वाहि जाव णाइअमणामाहि वगूहि उवालंभमह ।

एवं च ताव यएसी ! तुम जाणासि तहा यि ण तुम्ह मम वाम वामेण, शंख दंडेण, पडिकूलं पडिकूलेण, पडिलोमं पडिलोमेण, विविच्चासं विविच्चासेण बदुसि ।

२६१—प्रदेशी राजा के इस उपार्क्ष के हुत्ते के उपरात् देशी कुमारशमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—

हे प्रदेशी ! जानते हो कि कितनी परिषदायें कही गई हैं ?

प्रदेशी—जी हाँ जानता हूँ चार परिषदायें कही हैं—१. क्षत्रिय परिषदा, २. गाथापतिपरिषदा, ३. ब्राह्मणपरिषदा और ४. ऋषिपरिषदा ।

केशी कुमारशमण—प्रदेशी ! तुम यह भी जानते हो कि इन चार परिषदाओं के अपराधियों के लिये क्या दंडनीति बताई गई है ?

प्रदेशी—हाँ जानता हूँ । जो क्षत्रिय-परिषद् का अपराध-अपमान करता है, उसके या तो हाथ काट दिये जाते हैं अथवा पेर काट दिये जाते हैं या शिर काट दिया जाता है, अथवा उसे शूली पर चढ़ा देते हैं या एक ही प्रहार से या कुचलकर प्राणरहित कर दिया जाता है—मार दिया जाता है ।

जो गाथापति-परिषद् का अपराध करता है, उसे घास से अथवा पेड़ के पत्तों से अथवा पलाल-पुश्चाल से लपेट कर अग्नि में झोक दिया जाता है ।

जो ब्राह्मणपरिषद् का अपराध करता है, उसे अनिष्ट, रोषपूर्ण, श्रिय या अमणाम शब्दों से उपालंभ देकर अग्नितप्त लोहे से कुंडिका चिह्न अथवा कुत्ते के चिह्न से लांचित-चित्तित कर दिया जाता है अथवा निर्वासित कर दिया जाता है, अर्थात् देश से निकल जाने की आज्ञा दी जाती है ।

जो ऋषिपरिषद् का अपमान-अपराध करता है, उसे न अति अनिष्ट यावत् न अति अमनोज्ञ शब्दों द्वारा उपालंभ दिया जाता है ।

केशी कुमारशमण—इस प्रकार की दंडनीति को जानते हुए भी हे प्रदेशी ! तुम मेरे प्रति विपरीत, परितापजनक, प्रतिकूल, विरुद्ध, सर्वथा विपरीत व्यवहार कर रहे हो !

२६२—तए ण पएसी राया केसि कुमारसमण एवं व्यासी—एवं खलु ग्रहं देवाणुपितृहि पदमिल्लुएण चेष्ट वागरणेण संलत्ते, तए ण मम इमेयारुवे अज्ञतिथए जाव संकर्षे समुपजिज्ञया—

जहा जहा एं एयस्स पुरिसस्स वामं वामेण जाव विवच्चासेण वद्विस्सामि लहा तहा एं अहं नार्ण च नायोवलंभं औ करणं औ करणोवलंभं च दंसणं च दंसणोवलंभं च जीवं च जीवोवलंभं च उदलभिस्सामि, तं एएं अहं कारणेण देवाणुपियाणं वामं वामेण जाव विवच्चासं विवच्चासेण वद्विए ।

२६२—तब प्रदेशी राजा ने अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए केशी कुमारश्वमण से कहा— बात यह है—भदन्त ! मेरा आप देवानुप्रिय से जब प्रथम ही वार्तालाप हुआ तभी मेरे मन में इस प्रकार का विचार यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि जितना-जितना और जैसे-जैसे मैं इस पुरुष के विपरीत यावत् सर्वथा विपरीत व्यवहार करूँगा, उतना-उतना और वैसे-वैसे मैं अधिक-अधिक तत्त्व को जानूँगा, ज्ञान प्राप्त करूँगा, चारित्र को, चारित्रलाभ को, तत्त्वार्थश्रद्धा रूप दर्शन—सम्यक्त्व को, सम्यक्त्व लाभ को, जीव के स्वरूप को समझ सकूँगा । इसी कारण आप देवानुप्रिय के प्रति मैंने विपरीत यावत् अत्यन्त विश्वद्व व्यवहार किया है ।

२६३—तए एं केसी कुमारश्वमणे पएसीरायं एवं वयासी—

जाणासि एं तुमं पएसी ! कइ व्यवहारगा पण्णसा ?

हृता जाणामि । चतारि व्यवहारगा पण्णसा—१ वेह नामेगे जो सण्णवेह । २ सभवेह नामेगे नो वेह । ३ एगे वेह वि सभवेह वि । ४ एगे जो तेह जो सण्णवेह ।

जाणासि एं तुमं पएसी ! एएसि चउण्हं पुरिसाणं के व्यवहारी के अव्यवहारी ?

हृता जाणामि । तत्थ एं जे से पुरिसे वेह जो सण्णवेह, से एं पुरिसे व्यवहारी । तत्थ एं जे से पुरिसे जो वेह सण्णवेह, से एं पुरिसे व्यवहारी । तत्थ एं जे से पुरिसे वेह वि सन्नवेह वि से पुरिसे व्यवहारी । तत्थ एं जे से पुरिसे जो वेह जो सन्नवेह से एं अव्यवहारी ।

एवामेव तुमं पि व्यवहारी, जो चेव एं तुमं पएसी अव्यवहारी ।

२६३—प्रदेशी राजा को इस भावना को सुनकर केशी कुमारश्वमण ने प्रदेशी राजा से कहा—

हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि व्यवहारकर्ता कितने प्रकार के बतलाये गए हैं ?

प्रदेशी—हाँ, भदन्त ! जानता हूँ कि व्यवहारकों के चार प्रकार हैं—१. कोई किसी को दान देता है, किन्तु उसके साथ प्रीतिजनक वाणी नहीं बोलता । २. कोई संतोषप्रद बातें तो करता है, किन्तु देता नहीं है । ३. कोई देता भी है और लेने वाले के साथ संतोषप्रद वार्तालाप भी करता है और ४. कोई देता भी कुछ नहीं और न संतोषप्रद बात करता है ।

केशी कुमारश्वमण—हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि इन चार प्रकार के व्यक्तियों में से कौन व्यवहारकुशल है और कौन व्यवहारशून्य है—व्यवहार को नहीं समझने वाला है ?

प्रदेशी—हाँ जानता हूँ । इनमें से जो पुरुष देता है, किन्तु संभाषण नहीं करता, वह व्यवहारी है । जो पुरुष देता नहीं किन्तु सम्यग् आलाप (बातचीत) से संतोष उत्पन्न करता है (दिलासा देता है), धीरज बंधाता है, वह व्यवहारी है । जो पुरुष देता भी है और शिष्ट वचन भी कहता है, वह व्यवहारी है, किन्तु जो न देता है और न मधुर वाणी बोलता है, वह अव्यवहारी है ।

केशी कुमारश्वरण—उसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम भी व्यवहारी हो, अव्यवहारी नहीं हो । अर्थात् तुमने मेरे साथ यद्यपि शिष्टजनभान्य बाग्-व्यवहार नहीं किया, फिर भी मेरे प्रति भक्ति और संमान प्रदर्शित करने के कारण व्यवहारी हो ।

२६४—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

तुझ्मे णं भते । इय खेया दक्षा जाव उवाएसलद्वा, समर्था णं भते । ममं करयलंसि वा आमलयं जीवं सरोराओ अभिनिवृत्तिणं उवदंसित्तए ?

तेण कालेण तेण समएणं पएसिस्स रणो अद्वूरसामंते वाउयाए संवृत्ते, तणवणस्सइकाए एयह वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ उवीरह, तं तं भावं परिणमइ ।

तए णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी—

पाससि णं तुमं पएसी राया ! एयं तणवणस्सइ एयंतं जाव तं तं भावं परिणमंते ? हंता पासामि ।

जाणासि णं तुमं पएसी ! एयं तणवणस्सइकायं कि देवो चालेह, असुरो वा चालेह, जागो वा, किन्नरो वा चालेह, किपुरिसो वा चालेह, महोरगो वा चालेह, गंधव्वो वा चालेह ?

हंता जाणामि—णो देवो चालेह जाव णो गंधव्वो चालेह, वाउयाए चालेह ।

पाससि णं तुमं पएसी ! एतस्स वाउकायस्स सरुविस्स सकामस्स सरागस्स समोहस्स सदेयस्स सलेसस्स ससरीरस्स रुबं ?

जो तिणहुे (समहुे) ।

जइ णं तुमं पएसी राया ! एयस्स वाउकायस्स सरुविस्स जाव ससरीरस्स रुबं न पाससि तं कहं णं पएसी ! तब करयलंसि वा आमलयं जीवं उवदंसिस्सामी ? एवं खलु पएसी ! दसद्वाणाइ छब्मत्थे मण्डुसे सब्बभावेणं न जाणह न पासह, तंजहा—धम्मत्थिकायं १, अधम्मत्थिकायं २, आगास्तिथकायं ३, जीवं असरीरबहुं ४, परमाणुपोशगलं ५, सहं ६, गंधं ७, वायं ८, अयं जिणे भविस्सइ वा णो भविस्सइ ९, अर्यं सब्बदुक्ष्याणं अंतं करेस्सइ वा नो वा १० । एताणि चेव उप्यन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सब्बभावेणं जाणह पासह तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव नो वा करिस्सइ, णं सहहाहि णं तुमं पएसी ! जहा—अन्नो जीवो तं चेव ।

२६४—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्वरण से कहा—हे भद्रत ! आप ग्रवसर को जानने मेरे निपुण हैं, कार्यकुशल हैं यावत् आपने गुह से शिक्षा प्राप्त की है तो भद्रत ! क्या आप मुझे हथेली में स्थित आंबले की तरह शरीर से बाहर जीव को निकालकर दिखाने में समर्थ हैं ?

प्रदेशी राजा ने यह कहा ही था कि उसी काल और उसी समय प्रदेशी राजा से अति दूर नहीं अर्थात् निकट ही हवा के चलने से तृण-घास, वृक्ष आदि वनस्पतियाँ हिलने-डुलने लगीं, कंपने लगीं, फरकने लगीं, परस्पर टकराने लगीं, अनेक विभिन्न रूपों में परिणत होने लगीं ।

तब केशी कुमारश्वरण ने राजा प्रदेशी से पूछा—हे प्रदेशी ! तुम इन तृणादि वनस्पतियों को हिलते-डुलते यावत् उन-उन अनेक रूपों में परिणत होते देख रहे हो ?

प्रदेशी—हाँ, देख रहा हूँ ।

केशी कुमारश्चमण—तो प्रदेशी ! क्या तुम यह भी जानते हो कि इन तृण-वनस्पतियों को कोई देव हिला रहा है अथवा असुर हिला रहा है अथवा कोई नाग, किंचर, किपुरुष, महोरग अथवा गंधर्व हिला रहा है ।

प्रदेशी—हाँ, भद्रन्त ! जानता हूँ । इनको न कोई देव हिला-हुला रहा है, यावत् न गंधर्व हिला रहा है । ये वायु से हिल-डुल रही हैं ।

केशी कुमारश्चमण—हे प्रदेशी ! क्या तुम उस मूर्ति, काम, राग, मोह, वेद, लेश्या और शरीर धारी वायु के रूप को देखते हो ?

प्रदेशी—यह अर्थ समर्थ नहीं है । अर्थात् भद्रन्त ! मैं उसे नहीं देखता हूँ ।

केशी कुमारश्चमण—जब राजन् ! तुम इस रूपधारी (मूर्ति) यावत् सशरीर वायु के रूप को भी नहीं देख सकते तो हे प्रदेशी ! इन्द्रियातीत ऐसे अमूर्त जीव को हाथ में रखे आवले की तरह कैसे देख सकते हो ? क्योंकि प्रदेशी ! छद्मस्थ (अलपन्न) मनुष्य (जीव) इन दस वस्तुओं को उनके सर्व भावों-पर्यायों सहित जानते-देखते नहीं हैं । यथा (उनका नाम इस प्रकार है—) १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. अशरीरी (शरीर रहित) जीव, ५. परमाणु पुद्गल ६. शब्द, ७. गंध, ८. वायु, ९. यह जिन (कर्म-क्षय करने वाला) होगा अथवा जिन नहीं होगा और १०. यह समस्त दुःखों का अन्त करेगा या नहीं करेगा । किन्तु उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक (केवल-ज्ञानी, केवलदर्शी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी) अहंत, जिन, केवली इन दस बातों को उनकी समस्त पर्यायों सहित जानते-देखते हैं, यथा—धर्मास्तिकाय यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा या नहीं करेगा । इसलिये प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर एक नहीं है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवों के उल्लेख द्वारा संसारी जीवों का स्वरूप बताया है कि सभी संसारी जीव सूक्ष्म और बादर इन दो प्रकारों में से किसी-न-किसी एक प्रकार वाले हैं । इन प्रकारों के होने के कारण सूक्ष्म नाम और बादर नाम कर्म हैं । सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर इन्द्रियग्राह्य नहीं हो पाता है और बादर नामकर्म के उदय से शरीर में ऐसा बादर परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे वे इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं । सूक्ष्म और बादर नामकर्म का उदय तिर्यक्ति के जीवों में होता है और इनके एक पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है । सभी संसारी जीव नरक, तिर्यक्ति, मनुष्य और देव, इन चार गतियों में से किसी-न-किसी गति वाले हैं और स्वाभाविक चैतन्य गुण के साथ गतियों के अनुरूप प्राप्त इन्द्रियों, शरीर, वेद एवं रागद्वेष, मोह आदि वैभाविक भावों तथा लेश्या परिणाम वाले होते हैं ।

वायुकाय के जीवों की गति तिर्यक्ति है और उनके एक स्पर्शनेन्द्रिय, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या, नपुंसक वेद और ओदारिक, वंकिय, तैजस, कार्मण शरीर होते हैं ।

२६५—तए ण से पएसी राया कोसि कुमारसमर्थ एवं चयासी—

से नूणं भंते ! हत्यिस्स कुंचुस्स य समे चेव जीवे ?

हंता पएसी ! हत्यिस्स य कुंचुस्स य समे चेव जीवे ?

से पूछ भंते ! हत्थीउ कुंथु अप्पकम्मतराए चेव अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए चेव एवं आहार-नीहार-उसास-नीसास-इद्दोए महजुइअप्पतराए चेव, एवं च कुंथुओ हत्थी महाकम्मतराए चेव महाकिरिय० जाव ?

हंता पएसी ! हत्थीओ कुंथु अप्पकम्मतराए चेव कुंथुओ वा हत्थी महाकम्मतराए चेव तं चेव ।

हङ्गाण ण भंते ! हत्थिस्स कुंथुहम य तुमे लेव जोवे ?

पएसी ! जहा णाम ए कूडागारसाला सिया जाव गंभीरा, अह ण कोइ पुरिसे जीइं व दीवं व गहाय तं कूडागारसालं अंतो अणुपविसइ तीसे कूडागारसालाए सब्बतो समंता घणनिचिवनिरंतराणि णिचिछुड़ाइ तुवारवयणाइ पिहेते, तीसे कूडागारसालाए बहुमज्जदेसभाए तं पईवं पलीवेज्जा, तए ण से पईवे तं कूडागारसालं अंतो अंतो ओभासइ उज्जोवेइ सवति पभासेइ, णो चेव ण बाहिं ।

अह ण पुरिसे तं पईवं इड्डरएण पिहेज्जा, तए ण से पईवे तं इड्डरयं अंतो ओभासेइ, णो चेव ण इड्डरगस्स बाहिं, णो चेव ण कूडागारसालाए बाहिं, एवं गोकिलिजेण, पचिष्ठापिडएण गंडमाणियाए, आळतेण, अळाहुतेण, पत्थएण, अळपत्थएण, कुलवेण, अळकुलवेण, चावलमाइयाए, अटुभाइयाए, सोलसियाए, बत्तीसियाए, चउसद्वियाए, दीवचंपएण तए ण से पदीवे दीवचंपगस्स अंतो ओभासति, नो चेव ण दीवचंपगस्स बाहिं, नो चेव ण चउसद्वियाए बाहिं, णो चेव ण कूडागारसालं, णो चेव ण कूडागारसालाए बाहिं ।

एवंमेव पएसी ! जीवे वि अं जारिसवं पुछकम्मनिबद्धं खोंवि जिल्लतेइ तं असंखेजेहि जीवपदेसहि सविसं करेइ खुदिभयं वा महालियं वा, तं सद्गुहाहि ण तुम पएसी ! जहा—अणो जोवो तं चेव ण ।

२६५—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्वरण से कहा—भंसे ! क्या हाथी और कुंथु का जीव एक-जैसा है ?

केशी कुमारश्वरण—हाँ, प्रदेशी । हाथी और कुंथु का जीव एक-जैसा है, समान प्रदेश परिमाण वाला है, न्यूनाधिक प्रदेश-परिमाण वाला नहीं है ।

प्रदेशी—हे भदन्त ! हाथी से कुंथु अल्पकर्म (आयुष्यकर्म), अल्पक्रिया, अल्प प्राणातिपात आदि आश्रव वाला है, और इसी प्रकार कुंथु का आहार, निहार, श्वासोच्छ्वास, ऋद्धि—शारीरिकबल, द्युति आदि भी अल्प है और कुंथु से हाथी अधिक कर्मवाला, अधिक क्रियावाला यावत् अधिक द्युति संपन्न है ?

केशी कुमारश्वरण—हाँ प्रदेशी ! ऐसा ही है—हाथी से कुंथु अल्प कर्मवाला और कुंथु से हाथी भद्राकर्मवाला है ।

प्रदेशी—तो फिर भदन्त ! हाथी और कुंथु का जीव समान परिमाण वाला कैसे हो सकता है ?

केशी कुमारश्वरण—हाथी और कुंथु के जीव को समान परिमाण वाला ऐसे समझा जा सकता है—हे प्रदेशी ! जैसे कोई कूटाकार (एवंतशिखर के आकार-जैसी) यावत् विशाल एक

शाला (घर) हो और कोई एक पुरुष उस कूटाकारशाला में अग्नि और दीपक के साथ घुसकर उसके ठीक मध्यभाग में खड़ा हो जाए। तत्पश्चात् उस कूटाकारशाला के सभी द्वारों के किवाड़ों को इस प्रकार सटाकर अच्छी तरह बंद करदे कि उनमें किंचित्सात्र भी सांघ—छिद्र न रहे। फिर उस कूटाकारशाला के द्वीचोंबीच उस प्रदीप की जलाये तो जलाने पर वह दीपक उस कूटाकारशाला के अन्तर्वर्ती भाग को ही प्रकाशित, उच्चोतित, तापित और प्रभासित करता है, किन्तु बाहरी भाग को प्रकाशित नहीं करता है।

अब यदि वही पुरुष उस दीपक को एक विशाल पिटारे से ढंक दे तो वह दीपक कूटाकार-शाला की तरह उस पिटारे के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करेगा किन्तु पिटारे के बाहरी भाग को प्रकाशित नहीं करेगा। इसी तरह गोकिलिज (गाय को धास रखने का पात्र—डलिया), पच्छिकापिटक (पिटारी), गंडमाणिका (अनाज को मापने का बर्तन), आढ़क (चार सेर धान्य मापने का पात्र), अर्धाठिक, प्रस्थक, अर्धप्रस्थक, कुलव, अर्धकुलव, चतुर्भागिका, अष्टभागिका, षोडशिका, द्वात्रिशतिका, चतुर्षष्टिका अथवा दीपचम्पक (दीपक का ढकना) से ढंके तो वह दीपक उस ढकन के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करेगा, ढकन के बाहरी भाग को नहीं और न चतुर्षष्टिका के बाहरी भाग को, न कूटाकारशाला व्यौ. न कूटाकारशाला के बाहरी भाग को प्रकाशित करेगा।

इसी प्रकार हे प्रदेशी ! पूर्वभवोपाजित कर्म के निमित्त से जीव को क्षुद्र—छोटे अथवा महत्—बड़े जैसे भी शरीर को निष्पत्ति—प्राप्ति होती है, उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों को संकुचित और विस्तृत करने के स्वभाव के कारण वह उस शरीर को अपने असंख्यात आत्मप्रदेशों द्वारा सञ्चित अर्थात् आत्मप्रदेशों से व्याप्त करता है। अतएव प्रदेशी ! तुम यह अज्ञा करो—इस बात पर विश्वास करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं और शरीर जीव नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दीपक को ढंकने पर उन-उन के भीतरी भाग को प्रकाशित करने के लिये जिन पात्रों (बर्तनों) के नामों का उल्लेख किया है, वे सभी प्राचीनकाल में मगध देश में प्रचलित—मेहूँ, चावल, आदि धान्य तथा धी, तेल आदि तरल पदार्थ मापने के साधन—माप हैं। गंडमाणिका से लेकर अर्धकुलव पर्यन्त के मापों से धान्य और चतुर्भागिका आदि चतुर्षष्टिका पर्यन्त के पात्रों से तरल पदार्थों को मापा जाता था।

वैदिक दर्शनों में आत्मा के आकार और परिमाण के विषय में अणुमात्र से लेकर सर्वदेशव्याप्त तक मानने की कल्पनायें हैं। वे प्रमाणसिद्ध नहीं हैं और न वैसा अनुभव ही होता है। इसीलिये उन सब कल्पनाओं का निराकरण और आत्मा के सही परिमाण का निर्देश सूत्र में किया गया है कि न तो आत्मा अणु-प्रमाण है और न सर्वलोक व्यापी आदि है। किन्तु कर्मोपाजित शरीर के आकार के अनुरूप होकर जीव के असंख्यात प्रदेश उस समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं।

प्रदेशी की परंपरागत मान्यता का निराकरण

२६६—तए णं पएसी राया केसि कुमारसमणं एवं खलु भंते ! मम अज्जगस्त
एस सन्ना जाव समोसरणे जहा—तउजीबो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं । तयाणंतरं च णं
मम पिडणो वि एस सण्णा, तयाणंतरं मम वि एसा सण्णा जाव समोसरणं, तं नो खलु अहं बहुपुरिस-
परंपरागायं कुलनिस्तियं विद्धि छंडेस्तामि ।

२६६—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केवली कुमारशमण से कहा—भद्रत ! आपने बताया सो ठीक, किन्तु मेरे पितामह की यही ज्ञानरूप संज्ञा—बुद्धि थी यावत् समवसरण-सिद्धान्त था कि जो जीव है वही शरीर है, जो शरीर है वही जीव है। जीव शरीर से भिन्न नहीं और शरीर जीव से भिन्न नहीं है। तत्पश्चात् (पितामह के काल-कवलित हो जाने के बाद) मेरे पिता की भी ऐसी ही संज्ञा यावत् ऐसा ही समवसरण था और उनके बाद मेरी भी यही संज्ञा यावत् ऐसा ही समवसरण है। तो फिर अनेक पुरुषों (पोदियों) एवं कुलपरंपरा से चली आ रही अपनी दृष्टि—मान्यता की कैसे छोड़ दूँ ?

धिवेष्वन—लोक परंपराएँ, मान्यताएँ कैसे प्रचलित होती हैं, इसका सूत्र में संकेत है। हम मानवों में जो भी अनुपयोगी और मिथ्या रूढियाँ चालू हैं उनका आधार पूर्वजों का नाम, लोक—दिखावा और ग्रहकार का पोषण है। हम उनके साथ ऐसे जुड़े हैं कि छोड़ने में प्रतिष्ठाहानि और भय अनुभव करते हैं। इस कारण दिनोंदिन हिसा, भूठ, छल-फरेब, चोरी-जारी बढ़ रही है और नैतिक पतन होने से मानवीय गुणों का कुछ भी मूल्य नहीं रहा है।

२६७—तए ण केसी कुमारशमणे पएसिरायं एवं वयासी—मा ण तुमं पएसी ! पञ्चाणुताविए चवेऽज्ञासि, जहा व से पुरिसे अयहारए ।

के ण भसे ! से अयहारए ?

पएसी ! से जहाणामए कई पुरिसा अस्यत्थी, अस्थगवेसी, अस्थलुद्गा, अस्थकंखिया, अस्थपिवालिया अस्थगवेसण्याए खिउलं पणियभंडमायाए सुबहुं अस्तपाणपत्थयण गहाय एगं महं अकामियं (अगामियं) छिन्नावायं बीहमहुं अडवि अणुपविद्वा ।

तए ण ते पुरिसा तीसे अकामियाए अडवीए कंचि. देसं अणुपत्ता समरणा एगमहुं अयभारं पासंति, अएणं सद्यतो समंका आइणं विच्छिणं सच्छडं उवच्छडं फुडं गाढं पासंति हट्टुट्टु—जाव—हियया अन्नमन्नं सद्वावेसि एवं वयासी—एस ण देवाणुपिया ! अयभंडे इट्ठे कंते जाव भणामे, तं सेयं खलु देवाणुपिया ! अम्हं अयभारए बंधिसंए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमहुं पडिसुणेति अयभारं बंधंति, अहाणुपुष्वीए संपत्तिथया ।

तए ण ते पुरिसा अकामियाए जाव अडवीए किंचि देसं अणुपत्ता समाणा एगं महं तउभारं पासंति, तउएणं आइणं तं चेव जाव सद्वावेत्ता एवं वयासो—एस ण देवाणुपिया ! तउयभंडे जाव भणामे, अप्पेणं चेव तउएणं सुबहुं अए लब्धति, तं सेयं खलु देवाणुपिया ! अयभारए छड़देत्ता तउयभारए बंधिसंए ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमहुं पडिसुणेति, अयभारं छड़देत्ति तउयभारं बंधंति । तत्थ णं एगे पुरिसे णो संचाएह अयभारं छड़देसंए तउयभारं बंधिसंए ।

तए णं से पुरिसा तं पुरिसं एवं वयासी—एस ण देवाणुपिया ! तउयभंडे जाव सुबहुं अए लब्धति, तं छड़देहि ण देवाणुपिया ! अयभारं, तउयभारं बंधाहि ।

तए से पुरिसे एवं वयासी—हुराहुडे मे देवाणुपिया ! अए, चिराहुडे मे देवाणुपिया ! अए, अइगाढ़बंधणबद्वे मे देवाणुपिया ! अए, असिडिलबंधणबद्वे देवाणुपिया ! अए, छणियबंधणबद्वे देवाणुपिया ! अए, णो संचाएमि अयभारं छड़देता तउयभारं बंधित्तए ।

तए णं ते पुरिसा तं पुरिसं जाहे णो संचायन्ति बहौहि आघवणाहि य पश्चवणाहि य आघवित्तए वा पणवित्तए वा तया अहाणुपुच्चीए संपत्तिया, एवं तंबागरं रूप्यागरं सुवण्णागरं रवणागरं बहुरागरं ।

तए णं ते पुरिसा जेभभ सथा जगवया, जेणेव साईं साईं नगराईं, तेणेव उवागच्छन्ति वयर-विक्कणणं करेति, सुबहुदासीवालगोमहिसवेलगं गिर्हति, अटुसलमूसियवड्सगे काशवेति, णहाया कयवलिकम्मा उप्पि पासायवरगया फुद्दमाणेहि मुझंगमत्तेहि बत्तीसइबढेहि नाडेहि वरतरुणीसंप-उत्तेहि उवणच्चिदउजमाणा उबलालिज्जमाणा इट्ठे सह-फरिस-जाव विहरंति ।

तए णं से पुरिसे अयभारेण जेणेव सए नगरे तेणेव उवागच्छइ, अथभारेण गहाय अयविक्कणणं करेति, तंसि अप्पमोल्लसि निहियंसि शोणपरिष्वेए, ते पुरिसे उप्पि पासायवरगए जाव विहरमाणे पासति, पासित्ता एवं वयासी अहो ! णं अहं अधध्वो अपुज्ञो अक्यत्थो अक्यलवखणो हिरिसिरिवज्जिए होणपुण्णचाउद्दसे बुरंतपंतलकदणे । जति णं अहं भित्ताण वा णाईण वा नियमाण वा मुणेतओ तो णं ग्रहं पि एवं चेव उप्पि पासायवरगए जाव विहरंतो ।

से तेणट्ठेण पएसी एवं बुच्चह—मा तुमं पएसी पच्छाणुताविए भविजासि, जहा व से पुरिसे अयभारिए ।

२६७—प्रदेशी राजा की बात सुनकर केशी कुमारश्रमण ने इस प्रकार कहा—प्रदेशी ! तुम उस अयोहारक (लोहे के भार को ढोने वाले लोहवणिक) की तरह पश्चात्ताप करने वाले मत होओ । अर्थात् जैसे वह अयोहारक—लोहवणिक पछताया उसी तरह तुम्हें भी अपनी कुलपरम्परागत अन्धश्रद्धा के कारण पछताना पड़ेगा ।

प्रदेशी—भदन्त ! वह अयोहारक कौन था और उसे क्यों पछताना पड़ा ?

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! कुछ अर्थ (धन) के अभिलाषी, अर्थ की गवेषणा करने वाले, अर्थ के लोभी, अर्थ की कांक्षा और अर्थ की लिप्सा वाले पुरुष अर्थ-गवेषणा करने (धनोपार्जन करने) के निमित्त विपुल परिमाण में बिक्री करने योग्य पश्चायाँ और साथ में खाने-पीने के लिये पुङ्कल—पश्चिम पाथेय (नाइनी) लेकर निर्जन, हिसक प्राणियों से व्याप्त और पार होने के लिये रास्ता न मिले, ऐसी एक बहुत बड़ी अटवी (वन) में जा पहुँचे ।

जब वे लोग उस निर्जन अटवी में कुछ आगे बढ़े तो किसी स्थान पर उन्होंने इधर-उधर सारयुक्त लोहे से व्याप्त लम्बी-चौड़ी और गहरी एक विशाल लोहे की खान देखी । वहाँ लोहा खूब बिखरा पड़ा था । उस खान को देखकर हृषित, संतुष्ट यावत् विकसितहृदय होकर उन्होंने आपस में एक दूसरे को बुलाया और कहा, यह सलाह की देवानुप्रियो ! यह लोहा हमारे लिये इष्ट, प्रिय यावत् मनोज्ज है, अतः देवानुप्रियो ! हमें इस लोहे के भार को बांध लेना चाहिए । इस विचार को एक दूसरे ने स्वीकार करके लोहे का भारा बांध लिया । बांधकर उसी अटवी में आगे चल दिये ।

तत्पश्चात् आगे चलते-चलते वे लोग जब उस निर्जन यावत् अटवी में एक स्थान पर पहुँचे तब उन्होंने सीसे से भरी हुई एक विशाल सीसे की खान देखी, यावत् एक दूसरे को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रियो ! हमें इस सीसे का संग्रह करना यावत् लाभदायक है । थोड़े सीसे के बदले हम

बहुत-सा लोहा ले सकते हैं। इसलिये देवानुप्रियो ! हमें इस लोहे के भार को छोड़कर सीसे का पोटला बांध लेना योग्य है। ऐसा कहकर आपस में एक दूसरे ने इस विचार को स्वीकार किया और लोहे को छोड़कर सीसे के भार को बांध लिया। किन्तु उनमें से एक व्यक्ति लोहे को छोड़कर सीसे के भार को बांधने के लिये तैयार नहीं हुआ।

तब दूसरे व्यक्तियों (साथियों) ने अपने उस साथी से कहा—देवानुप्रिय ! हमें लोहे की अपेक्षा इस सीसे का संग्रह करना अधिक अच्छा है, यावत् हम इस थोड़े से सीसे से बहुत-सा लोहा प्राप्त कर सकते हैं। अतएव देवानुप्रिय ! इस लोहे को छोड़कर सीसे का भार बांध लो।

तब उस व्यक्ति ने कहा—देवानुप्रियो ! मैं इस लोहे के भार को बहुत दूर से लादे चला आ रहा हूँ। देवानुप्रियो ! इस लोहे को बहुत समय से लादे हुए हूँ। देवानुप्रियो ! मैंने इस लोहे को बहुत द्वी कसकर बांधा है। देवानुप्रियो ! मैंने इस लोहे को अशिखिल बंधन से बांधा है। देवानुप्रियो ! मैंने इस लोहे को अत्यधिक प्रगाढ़ बंधन से बांधा है। इसलिए मैं इस लोहे को छोड़कर सीसे के भार को नहीं बांध सकता हूँ।

तब दूसरे साथियों ने उस व्यक्ति को अनुकूल-प्रतिकूल सभी तरह की आव्यापना (सामान्य रूप से प्रतिपादन करने वाली वाणी) से, प्रजापना (विशेष रूप से प्रतिपादन करने वाली—समझाने वाली—वाणी) से समझाया। लेकिन जब वे उस पुरुष को समझाने-बुझाने में समर्थ नहीं हुए तो अनुक्रम से आगे-आगे चलते गये और वहाँ-वहाँ पहुँचकर उन्होंने तांबे की, चांदी की, सोने की, रत्नों की और हीरों की खाने देखीं एवं इनको जैसे-जैसे बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती गईं, वैसे-वैसे पहले-पहले के अल्प मूल्य वाले तांबे आदि को छोड़कर अधिक-अधिक मूल्यवाली वस्तुओं को बांधते गये। सभी खानों पर उन्होंने अपने उस दुराग्रहो साथी को समझाया किन्तु उसके दुराग्रह को छुड़ाने में वे समर्थ नहीं हुए।

इसके बाद वे सभी व्यक्ति जहाँ अपना जनपद-देश था और देश में जहाँ अपने-अपने नगर थे, वहाँ आये। वहाँ आकर उन्होंने हीरों को बेचा। उससे प्राप्त धन से अनेक दास-दासी, गाय, भैंस और भेड़ों को खरीदा, बड़े-बड़े आठ-आठ मंजिल के ऊँचे भवन बनवाये और इसके बाद स्नान, बलिकर्म आदि करके उन श्रेष्ठ प्रासादों के ऊपरी भागों में बैठकर बजते हुए मृदंग आदि वाद्यों—जिनादों एवं उत्तम तखणियों द्वारा की जा रही नृत्य-गान युक्त बत्तीस प्रकार की नाट्य लीलाओं को देखते तथा साथ ही इष्ट शब्द, स्पर्श यावत् (रस, रूप और गंध मूलक मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को भोगते हुए अपना-अपना समय) व्यतीत करने लगे।

वह लोहवाहक पुरुष भी लोहभार को लेकर अपने नगर में आया। वहाँ आकर उस लोहभार के लोहे को बेचा। किन्तु अल्प मूल्य वाला होने से उसे थोड़ा-सा धन मिला। उस पुरुष ने अपने साथियों को श्रेष्ठ प्रासादों के ऊपर रहते हुए यावत् (भोग-विलास में) अपना समय बिताते हुए देखा। देखकर अपने आपसे इस प्रकार कहने लगा—अरे ! मैं अधन्य, पुण्यहीन, अकृतार्थ, शुभलक्षणों से रहित, श्री-ही से बंजित, हीनपुण्य चातुर्दशिक (कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को जन्मा हुआ), दुरंत-प्रान्त लक्षण वाला कुलक्षणी हूँ। यदि उन मिश्रों, जातिजनों और अपने हितेषियों की बात मान लेता तो आज मैं भी इसी तरह श्रेष्ठ प्रासादों में रहता हुआ यावत् अपना समय व्यतीत करता।

इसी कारण हे प्रदेशी ! मैंने यह कहा है कि यदि तुम अपना दुराग्रह नहीं छोड़ोगे तो उस लोहभार को ढोने वाले दुराग्रही की तरह तुम्हें भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

प्रदेशी की प्रतिक्रिया एवं आवकधर्म-प्रहण

२६८—एत्थं णं से पएसी राया संबुद्धे केसिक्षमारसमणं वंदह जाव एवं वयासी—णो खलु भंते ! अहं पच्छाणुताविए भविस्तामि जहा व से पुरिसे अयमारए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए केवलिपन्नतं धर्मं निसामितए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।

धर्मकहा जहा चित्तस्स । तहेब गिहिधर्मं पडिबज्जहु जेणेब सेयविया नगरी तेणेब पहारेत्थ गमणाए ।

२६९—इस प्रकार समझाये जाने पर यथार्थ तत्त्व का बोध प्राप्त कर प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण को वन्दना की यावत् निवेदन किया—भद्रन्त ! मैं वैसा कुछ नहीं करूँगा जिससे उस लोहभारवाहक पुरुष की तरह मुझे पश्चात्ताप करना पड़े । अतः आप देवानुप्रिय से केवलिप्रजप्त धर्म सुनना चाहता हूँ ।

केशो कुमारश्रमण—देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख उपजे वैसा करो, परन्तु विलंब मत करो ।

इसके पश्चात् प्रदेशी की जिजासा-वृत्ति देखकर केशी कुमारश्रमण ने जैसे चित्त सारथी को धर्मोपदेश देकर आवकधर्म सभभाया था उसी तरह राजा प्रदेशी को भी धर्मकथा सुनाकर गृहिधर्म का विस्तार से विवेचन किया । राजा गृहस्थधर्म स्वीकार करके सेयविया नगरी की ओर चलने को तत्पर हुआ ।

२७०—क्षणं केसी कुमारसमणे पएसि रायं एवं वयासी—जाणासि तुमं पएसी ! कह आयरिया पञ्चता ?

हंता जाणामि, तओ आयरिया पणत्ता, तंजहा—कलायरिए, सिप्पायरिए, धर्मायरिए ।

जाणासि णं तुमं पएसी ! तेसि तिष्ठं आयरियाणं कस्त का विणयपडिवती पउंजियच्छा ?

हंता जाणामि, कलायरियस्स सिप्पायरिस्स उबलेबणं संमजजणं वा करेज्जा, पुरओ पुप्फाणि वा आणबेज्जा, मज्जाबेज्जा, मंडाबेज्जा, भोयाविज्जा वा विडलं जोवितारिहं पीहडाणं दलएज्जा, पुत्ताणपुस्तियं वित्ति कप्पेउज्जा । जत्थेब धर्मायरियं पासिज्जा तथेब बैवेज्जा णम्सेज्जा सक्कारेज्जा सम्माणेज्जा, कल्लाणं मंगलं देवयं चेहर्यं पज्जुबासेज्जा, फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएणं पीढ-फलम-सिज्जा संथारएणं उबनिमंतेज्जा ।

एवं च ताव तुमं पएसी ! एवं जाणासि तहावि णं तुमं ममं वामं वामेणं जाव बट्टिसा ममं एयमट्ठं अखामित्ता जेणेब सेयविया नगरी तेणेब पहारेत्थ गमणाए ?

२७१—तब केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—प्रदेशी ! जानते हो कितने प्रकार के आचार्य होते हैं ?

प्रदेशी—हाँ भद्रत ! जानता हूँ, तीन (प्रकार के) आचार्य होते हैं—१. कलाचार्य, २. शिल्पाचार्य, ३. धर्मचार्य ।

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! तुम जानते हो कि इन तीन आचार्यों में से किसकी कौसी विनय-प्रतिपत्ति करनी चाहिए ?

प्रदेशी—हाँ भद्रत ! जानता हूँ। कलाचार्य और शिल्पाचार्य के शरीर पर चन्दनादि का लेप और तेल आदि का मर्दन (मालिश) करना चाहिए, उन्हें स्नान कराना चाहिए, उनके सामने पुष्प आदि भेंट रूप में रखना चाहिए, उनके कपड़ों आदि को सुरभि गन्ध से सुमन्धित करना चाहिए, आभूषणों आदि से उन्हें अलंकृत करना चाहिए, आदरपूर्वक भोजन कराना चाहिए और आजीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देना चाहिए, एवं उनके लिये ऐसी आजीविका की व्यवस्था करना चाहिये कि पुत्र—पौत्रादि परम्परा भी जिसका लाभ ले सके। धर्मचार्य के जहाँ भी दर्शन हों, वहाँ उनको चन्दना-नमस्कार करना चाहिए, उनका सत्कार-संमान करना चाहिए और कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप एवं ज्ञानरूप उनकी पर्युषासना करनी चाहिए तथा अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य भोजन-पान से उन्हें प्रतिलाभित करना चाहिए, पड़िहारी पीठ, फलक, शश्या-संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिए ।

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! इस प्रकार की विनयप्रतिपत्ति जानते हुए भी तुम अभी तक मेरे प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार एवं प्रवृत्ति करते रहे, उसके लिए क्षमा मांगे बिना ही सेयविया नगरी की ओर चलने के लिये उद्यत हो रहे हो ?

२७०—तए णं से पएसी राया केसी कुमारस्मणं एवं खलु भंते ! भम एयाहुवे अजमतिथए जाव समुप्पज्जित्या—एवं खलु अहं देवाणुप्पियाणं वामं वामेणं जाव वद्विए, तं सेवं खलु मे कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहापंडुरे पभाए रत्तासोग-किसुय-सुयमुह-गुञ्जहरागसरिसे कमलागरनलिणिंडबोहए उद्वियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि विणयरे तेयसा जलते अंतेउरपरियालसद्दि संपरिवुडस्स देवाणुप्पिए वंदित्तए नमंसित्तए एतमट्ठं भुज्जो-भुज्जो सम्मं विणएणं खामित्तए-त्ति-कट्टु जामेव दिसि पाउब्बूते तामेव दिसि पडिगए ।

तए णं से पएसी राया कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलते हट्टुत्टु-जाव-हियए जहेव कूणिए^१ तहेव निगच्छह अंतेउरपरियालसद्दि संपरिवुडे पंचविहेणं अभिगमेणं बंदह नमंसइ एयमट्ठं भुज्जो सम्मं विणएणं खामेइ ।

२७०—केशी कुमारश्रमण के इस सकेत को सुनकर प्रत्युत्तर में प्रदेशी राजा ने केशी कुमार-श्रमण से यह निवेदन किया—हे भद्रत ! आपका कथन योग्य है किन्तु मेरा इस प्रकार यह आध्यात्मिक—आन्तरिक यावत् विचार—संकल्प है कि अभी तक आप देवानुप्रिय के प्रति मैंने जो प्रतिकूल यावत् व्यवहार किया है, उसके लिये आगामी कल, रात्रि के प्रभात रूप में परिवर्तित होने, उत्पलों और कमनीय कमलों के उन्मीलित और विकसित होने, प्रभात के पांडुर (पीलाश लिये श्वेत वर्ण का) होने, रत्तशोक, पलाशपुष्प, शुकमुख (तोते की चौंच), गुंजाफल के अर्धभाग जैसे लाल, सरोवर में

१. देखिए समिति द्वारा प्रकाशित औपपातिकसूत्र